ALOCHANA OCT-DEC 1969 G.K.U.

Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079563

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९९

COMPILED

त्रैमासिक

आलोचना

सम्पादक : नामवर सिंह

079563

079563

P K
C 4
सं. 38 आ
आलो. दि. ६९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिद्वार

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

संपादकीय १

अब वक्त आ गया है
अशोक वाजपेयी ७

• संवाद
विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा

'सम्पूर्ण साहित्य' के भाव का विकास
रामस्वरूप चतुर्वेदी ६

शिक्षण के उद्देश्य में परिवर्तन
देवेन्द्रनाथ शर्मा १३

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता
विश्वनाथ त्रिपाठी १७

कविता के अध्यापन की रूढ़ियाँ
परमानन्द श्रीवास्तव २१

परिप्रेक्ष्य का विस्तार
रमेशकुंतल मेघ २५

पिता के लिए एक कविता
मंगलेश डबराल ४३

गुरुनानक देव
हजारीप्रसाद द्विवेदी ४५

गुरुनानक देव : एक समसामयिक मूल्यांकन
अतर सिंह ५५

बाजार में
रमेशचन्द्र शाह ५८

मुद्राओं की भाषा तथा विद्रोह की व्यावसायिकता
विजयमोहन सिंह ५६

मार्क्सवाद और समकालीन बूर्ज्वा विचारधाराएँ (१)
सुरेन्द्र चौधरी ६३

साहित्यिक द्वन्द्व : गुप्त-द्विवेदी संघर्ष के संदर्भ में
विष्णुकान्त शास्त्री ७२

श्वेतवाद के अँधेरे में नीग्रो चेतना
जॉन एल० कूपर ८०

पोलिश कवि जिवग्निएव की पाँच कविताएँ
अनुवाद : गिरिधर राठी ८७

• मूल्यांकन : विष्णु खरे

खत्म नहीं होती हरी दूब ८६

चुसे हुए शब्दों का एक विराट् मलबा ६२

शेक्सपियर बरक्स बच्चन ६५

उत्कर्ष और पराजय के बीच ६६

वर्ष १८ : नवांक ११, (पूर्णांक ४८) अक्तूबर-दिसम्बर १९६९, मूल्य ३.००

वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००

विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/५०५ दिनांक ६-६-६६ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

आलोचना

अक्तूबर-दिसम्बर '६९

गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय
पुस्तक सं०
आगत सं०
दिनांक

संपादकीय

यदि विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली साहित्य-शिक्षा से सचमुच असंतोष है और उसे बदलना है तो आज की समाज-व्यवस्था में विश्वविद्यालयों की वास्तविक भूमिका को ध्यान में रखना ज़रूरी है, क्योंकि साहित्य-शिक्षा की समस्याएँ शुद्ध शैक्षणिक या साहित्यिक नहीं हैं। आज़ादी के बाद भारत के नये शासक-वर्ग ने परम्परागत विश्वविद्यालयों का विकास तथा नये विश्वविद्यालयों का निर्माण शुद्ध विद्यानुराग के कारण नहीं, बल्कि अपने वर्गीय हितों की रक्षा और विस्तार के लिए किया है। आकस्मिक नहीं कि भारत जैसे पिछड़े देश में साक्षरता से ज्यादा ध्यान ऊँची शिक्षा पर दिया गया। निश्चय ही साक्षरों की संख्या में वृद्धि शासक-वर्ग के लिए खतरा है जबकि विशेषज्ञों की सेना उसके लिए सहायक साबित हो सकती है। राज्यों में नये-नये विश्वविद्यालय खोलने के लिए क्षेत्रों का जिस प्रकार चुनाव किया गया उससे शासकों की नीयत के बारे में किसी भ्रम की गुंजाइश नहीं रह जाती। निस्सन्देह समय-समय पर विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता का नारा भी लगाया गया लेकिन 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के हाथों अर्थतंत्र की बाग-डोर देकर। यहाँ तक कि उपकुलपतियों की नियुक्ति भी सरकार ने अपने हाथ में ले ली। पुलिस ने जब-तब विश्वविद्यालयों में घुसकर साबित कर दिया कि ये विद्या के पवित्र मन्दिर (या मस्जिद, गुरुद्वारा और गिरजा) ही नहीं, बल्कि एक सामान्य सामाजिक संस्थान हैं।

इस नये शासक-वर्ग के हाथों विश्वविद्यालय के ढाँचे में कितना बुनियादी परिवर्तन हुआ, इसे समझने के लिए शान्तिनिकेतन और काशी विद्यापीठ के उदाहरण काफी हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आश्रम शान्तिनिकेतन का विश्वभारती विश्वविद्यालय में रूपान्तरण और शिवप्रसाद गुप्त के काशी विद्यापीठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विश्वविद्यालय के रूप में उन्नयन वर्तमान शासक-वर्ग के चरित्र और शक्ति में परिवर्तन के ज्वलन्त रूप हैं। इन दो शिक्षा-संस्थाओं को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीपति वर्ग शिक्षा के संसार में प्रवेश करके किसी संस्था को किस प्रकार आधुनिक बनाता है और आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया में किस प्रकार सारी सामन्ती जीवन-पद्धति, कार्य-पद्धति, यहाँ तक कि सम्पूर्ण व्यवस्था के स्थान पर पूंजीवादी प्रणाली छा जाती है। इन संस्थाओं को देखकर 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के ये उदात्त शब्द सहसा साकार हो उठते हैं: "पूंजीपति वर्ग ने, जहाँ पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहाँ सभी सामंती, पितृसत्तात्मक और 'काव्यात्मक' सम्बन्धों का अन्त कर दिया। उसने मनुष्य को अपने 'स्वाभाविक बड़ों' के साथ बाँध रखने वाले नाना प्रकार के सामन्ती सम्बन्धों को निर्ममता से तोड़ डाला; और नग्न स्वार्थ के, 'नक़द पैसे-कौड़ी' के हृदय-शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध बाकी नहीं रहने दिया। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनन्दातिरेक को, वीरोचित उत्साह और कूपमंडूकतापूर्ण भावुकता को उसने आना-पाई के स्वार्थी हिसाब-किताब के बर्फीले पानी में डुबा दिया है। मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को उसने विनिमय-मूल्य बना दिया है।···जिन पेशों के सम्बन्ध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सबका प्रभा-मण्डल पूंजीपति वर्ग ने छीन लिया। वकील, डॉक्टर, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक सभी को उसने अपना वेतन-भोगी मज़दूर बना लिया है।···उत्पादन-प्रणाली में निरन्तर परिवर्तन, सभी सामाजिक अवस्थाओं में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अनिश्चयता और हलचल—ये चीज़ें पूंजीवादी युग को पहले के सभी युगों से अलग करती हैं। सभी स्थिर और जड़ीभूत सम्बन्ध, जिनके साथ प्राचीन और पूज्य पूर्वाग्रहों तथा मतों की एक पूरी श्रृंखला होती है, मिटा दिये जाते हैं, और सभी नये बनने वाले सम्बन्ध जड़ीभूत होने के पहले ही पुराने पड़ जाते हैं। जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है, जो कुछ भी पावन है वह भ्रष्ट हो जाता है, और आखिरकार मनुष्य संजीदा नज़र से जीवन की वास्तविक हालतों को, मानव-मानव के आपसी सम्बन्धों को देखने के लिए मजबूर हो जाता है।" पावन वस्तु कैसे भ्रष्ट होती है इसका उदाहरण है स्वयं विद्या; मानवीय सम्बन्ध किस प्रकार 'नक़द पैसे-कौड़ी' के हृदय-शून्य व्यवहार में बदल जाते हैं इसका उदाहरण है गुरु-शिष्य सम्बन्ध; पेशे से श्रद्धा का प्रभामण्डल किस तरह छिन जाता है इसका मूर्तिमान प्रतीक है स्वयं शिक्षक और निरन्तर क्रान्तिकारी परिवर्तन का उदाहरण उपकुलपतियों के रोज़-रोज़ परिवर्तन से बढ़कर और क्या होगा ? जिस प्रकार एक जीवन्त सामूहिक शिक्षा-परिवार विश्वविद्यालय नाम की अमूर्त इकाई में बदल गया उसे देखकर क्या यह समझने में कोई कठिनाई रह जाती है कि पूंजीपति वर्ग के स्पर्श मात्र से जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है।

यदि आज सभी विश्वविद्यालयों के तंत्र में नौकरशाही, शिक्षा-पद्धति में यांत्रिकता, छात्र-छात्र तथा छात्र-शिक्षक सम्बन्ध में नितान्त निर्वैयक्तिकता आदि प्रवृत्तियों का बोलबाला दिखाई पड़ता है तो यह दैव का कोई अबूझ अभिशाप नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का सामान्य नियम है जो कल-कारखानों से लेकर बाबुओं के दफ्तरों से होता हुआ शिक्षा-संस्थाओं तक अबाध फैल चला है। विभागीकरण भी इसी तंत्र की कार्य-कुशलता का एक नुस्खा है जिसके कारण सरकारी दफ्तर ही विभागों में नहीं बँटे बल्कि विश्वविद्यालयीय ज्ञान भी अलग-अलग विभाग के रूप में विभक्त हो गया, यहाँ तक कि हर विभाग दूसरे को अपना शत्रु समझता है। ऐसे अलगाव के वातावरण में यदि साहित्य भी अपने-आपसे अलग हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। जब साहित्य स्वयं विभिन्न प्रश्न-पत्रों में विभक्त होगा तो जाहिर है कि प्रश्नपत्र ही पढ़ाए जाएँगे, साहित्य नहीं। इसीलिए कहते हैं कि विश्वविद्यालय में आकर साहित्य साहित्य न रहकर एक विश्वविद्यालयी **विषय** बन गया और अन्य विद्याओं से अलग होकर एक विभाग भर रह गया। दूसरों से अलगाव की अनिवार्य परिणति है अपने-आपसे अलगाव—अपने धर्म से अलगाव। इसलिए शिक्षा की दुनिया में साहित्य का स्वधर्म से अपसरण कुछ शिक्षकों की अयोग्यता का परिणाम नहीं बल्कि विश्वविद्यालयीय तंत्र में पूंजीवाद के प्रवेश की देन है। पुराणों की भाषा में कहें तो यह ऐसा राक्षस-राज है जिसमें आग जलना छोड़ देती है, हवा बहना छोड़ देती है, पानी शीतलता छोड़ देता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपना धर्म छोड़ देती है। जब लोग पाठ्यक्रम में नये साहित्य के न होने की शिकायत करते हैं तो भूल जाते हैं कि पुराना साहित्य वहाँ होकर भी नहीं है। और विकास की जो गति है उसमें जल्द ही वह दिन आने वाला है जब पुराना साहित्य सचमुच न रहेगा—न पढ़ने वाले मिलेंगे और न शायद पढ़ाने वाले। इस तरह अपनी परम्परा से एकदम कट जाना भी अलगाव का ही एक रूप है।

विश्वविद्यालयीय शिक्षा में साहित्य के साहित्य न रह जाने के लिए आज की जिस जटिल परीक्षा-प्रणाली को दोषी ठहराया जाता है वह भी इस पूंजीवादी व्यवस्था का अपना इजाफा है। परीक्षा-प्रणाली का इस हद तक निर्वैयक्तिक, रहस्यपूर्ण और भाग्याधीन बन जाना पूंजीवादी व्यवस्था के नियमों का ही शैक्षणिक अनुवाद है। सट्टा बाजार में अपनी तकदीर आजमाने वाला पूंजीपति वर्ग किसी विद्यार्थी को भाग्य के अधीन बाँधे बिना कैसे रह सकता है? संख्या और मात्रा की भाषा समझने वाली समाज-व्यवस्था योग्यता की जांच के लिए एक निर्वैयक्तिक प्रणाली पर भरोसा करने के सिवा और कर ही क्या सकती है? ऐसी व्यावसायिक परीक्षा-प्रणाली में यदि नोट-कुंजियों की व्यावसायिकता भी घुस जाय तो क्या आश्चर्य! अनिश्चय, अविश्वास और होड़ पर कायम पूंजीवादी तन्त्र का बाजार यदि शिक्षा की दुनिया में भी इन्हीं मूल्यों का प्रचलन कर दे तो इसे उसकी स्वधर्म-परायणता ही समझना चाहिए।

यदि इन तमाम बातों में भारतीय विश्वविद्यालय और अधिक भ्रष्ट दिखाई देते हैं तो इसलिए कि अपने देश का पूंजीवाद भी यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का नायक क्लासिकी पूंजीवाद नहीं बल्कि कुंठित और अवरुद्ध पूंजीवाद है जो आज भी अनेक सामन्ती विकृतियों का शिकार है। इस विकार की अभिशप्त छाया हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांस्कृतिक जीवन को ग्रसे हुए है जिसे विश्लेषण के पैने औजारों के अभाव में 'भ्रष्टाचार' का एक गोलमोल नाम दे दिया गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि राजसत्ता पर आज सबसे ज्यादा प्रभाव इसी पूंजीपति वर्ग का है, जिसमें एक हद तक पुराने सामन्ती तत्त्वों का भी साझा है। इस वर्ग ने जिस प्रकार राजसत्ता पर अधिकार जमाने की कोशिश की है, उसी प्रकार शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में भी इसकी महत्त्वाकांक्षाएँ प्रबल हैं। स्वभावतः इस प्रयास का न्यूनतम कार्यक्रम है यथास्थिति को किसी तरह बनाए रखना और किसी भी क्रान्तिकारी परिवर्तन को भरसक रोकना। यह सोचने का कोई कारण नहीं कि यह वर्ग साहित्य की शक्ति से अपरिचित है। संस्थाएँ व्यक्तियों से ज्यादा कारगर होती हैं, इसलिए विश्वविद्यालय जैसी विशाल संस्था के द्वारा साहित्य को इस प्रयोजन के लिए इस्तेमाल करना सहज-स्वाभाविक है। जैसा कि इस 'संवाद' में एक लेखक ने सप्रमाण दिखलाया है, स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी-विभाग जहाँ लोकवादी, वैज्ञानिक, आधुनिक और प्रगतिशील रहे हैं, स्वतन्त्रता के बाद विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों की दृष्टि संकुचित और विचार दकियानूसी हुए हैं। इसीलिए विश्वविद्यालयों में आज भरसक हिन्दी साहित्य की विद्रोही और जनवादी परम्परा को नजरअन्दाज किया जाता है। निस्सन्देह इसके लिए पाठ्यक्रम में कोई लिखित नियम और कानून नहीं है और न ऊपर से कोई स्पष्ट आदेश ही है। किन्तु जो शिक्षक पदोन्नति चाहता है वह साहित्य के अर्थ-सोपानों को भले ही न पहचाने, उन्नति के चक्करदार सोपानों को भलीभाँति जानता है, और कहना न होगा कि यह प्रलोभन ही उसे शासक वर्ग के साथ बाँध देता है। यदि यह सच है कि 'हित-अनहित पसु पच्छिउ जाना' तो साहित्य का शिक्षक ही अपने हितों से अनजान कैसे हो सकता है? ये हित स्वभावतः यथास्थिति से जुड़े हैं, इसलिए वह क्यों न ऐसी बातों से बचे जो यथास्थिति के विरुद्ध जाती हैं। इसलिए यदि हिन्दी साहित्य की आग विश्वविद्यालयों में आकर पानी भी नहीं, बल्कि धुआँ हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। यहाँ चारण काव्य तो सहज-उपयोगी है ही, भक्ति-काव्य भी 'प्राकृत जन गुण गाना' बन जाता है।

निश्चय ही ऐसे बहुत से शिक्षक हैं, जो बड़ी दृढ़ता से शिक्षक-सुलभ तटस्थता और शुद्ध साहित्य की मर्यादा का निर्वाह करते हैं। उन्हें पता नहीं कि यह तटस्थता और शुद्ध साहित्यिकता भी आत्म-निर्वासन का ही एक रूप है जिसमें साहित्य अपने सामाजिक सन्दर्भ से कटा हुआ अमरबेलि मालूम होता है। साहित्य का यह शुद्ध शिक्षण परोक्षतः यथास्थिति को ही मजबूत करता है। जिस छात्र को साहित्य अपने जीवन के लिए अप्रासंगिक लगे वह साहित्य से ही विमुख न होगा बल्कि यदि वह केवल साहित्यजीवी है तो समाज से भी विमुख ही रहेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी ही व्यापक उदासीनता पर यथास्थिति कायम रहती है।

आकस्मिक नहीं कि भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग सबसे ज्यादा दकियानूस और प्रतिक्रियावादी विचारों के गढ़ हैं। कारण हिन्दी की विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति। एक तो हिन्दी प्रदेश में प्रतिक्रियावादी राजनीतिक शक्तियों का गहरा प्रभाव और दूसरी ओर कांग्रेस के दक्षिणपंथी पक्ष और जनसंघ जैसे राजनीतिक दलों का हिन्दी के हितैषी के रूप में सामने आना—विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों का हित अनिवार्यतः ऐसे राजनीतिक तत्त्वों से जुड़ गया जो हिन्दी के हित के नाम पर एक बड़े सांस्कृतिक संस्थान को अपने प्रतिगामी विचारों के समर्थन में खींचना चाहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संसर्ग का गहरा प्रभाव हिन्दी साहित्य की शिक्षा पर पड़ा। हिन्दी के एक प्रोफेसर ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि हिन्दी का औसत छात्र एम० ए० पास करने के बाद 'भारतीय संस्कृति' के नाम पर मध्यकालीनता को विरासत में पाकर बाहर निकलता है। पाठ्यक्रम में नये साहित्य का विरोध भी इसीलिए हिन्दी में इतना है कि हिन्दी विभाग अपने छात्रों को शुद्ध 'भारतीयता' ही विरासत में देना चाहते हैं जो प्राचीन साहित्य में बड़ी आसानी से दिखाई जा सकती है।

हिन्दी विभागों की प्रतिगामिता की एक अभिव्यक्ति है असहमति का सर्वथा दमन। यथास्थितिवाद और अधिनायकवाद का पहला मंत्र है पूर्ण सहमति। यह मंत्र हिन्दी विभागों में अध्यक्ष से लेकर समस्त छात्रों तक के बीच के आपसी सम्बन्ध का विधायक नियम है। यही नहीं बल्कि एक हिन्दी विभाग का अध्यक्ष दूसरे हिन्दी विभागों से भी इसी प्रकार की सहमति की अपेक्षा रखता है। इस वातावरण में विचारों का विरोध भी व्यक्तिगत विरोध मालूम होता है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में विचारों का विकास होना असम्भव है। इसीलिए इतने अधिक विश्वविद्यालय खुलने तथा शिक्षकों एवं छात्रों की संख्या में ऐसी अभूतपूर्व वृद्धि होने के बावजूद विश्वविद्यालयों में हिन्दी आलोचना का कोई उल्लेख्य विकास न हो सका। विश्वविद्यालय में पढ़ाते हुए भी साहित्य के किसी शिक्षक ने हिन्दी आलोचना में यदि उल्लेख्य योग दिया है तो विश्वविद्यालय की सीमा के बावजूद ! सांस्थानिक दृष्टि से हिन्दी आलोचना के विकास में विश्वविद्यालय के स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी विभागों का कोई योगदान नहीं है क्योंकि सांस्थानिक रूप में वे ऐसा वातावरण दे सकने योग्य ही नहीं रहे। इसीलिए विश्वविद्यालयों में कुछ-एक समर्थ आचार्यों के रहते हुए भी उनके विचारों की कोई चिन्तन-परम्परा न बन सकी। यह विडम्बना नहीं तो क्या है कि जिस विश्वविद्यालय को रामचन्द्र शुक्ल जैसा आचार्य प्राप्त हुआ वह पिछले तीस वर्षों में शुक्लजी के विचारों के विकास का कोई ठोस प्रमाण न दे सका। विकास होता भी कैसे जब हिन्दी विभाग को अपनी विशिष्ट चिन्तन-परम्परा का न तो कोई अहसास हो न बोध ! इसके अतिरिक्त गुरु की चिन्तन-परम्परा का विकास उत्तरदायित्वपूर्ण असहमति का साहसी शिष्य ही कर सकता है, सतत सहमति का भीरु सेवक नहीं और स्थिति यह है कि अब के आचार्य सेवक चाहते हैं, शिष्य नहीं। इस वातावरण में जहाँ कोई कुमारिल ही नहीं वहाँ कोई प्रभाकर क्या होगा ?

इस अंध सहमतिपरक आग्रह का प्रभाव हिन्दी विभागों के अखिल भारतीय ढाँचे पर इस हद तक पड़ा है कि कम-से-कम आगामी बीस-पच्चीस वर्षों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए विश्वविद्यालय में किसी प्रकार के स्वाधीन चिन्तन की सम्भावना नहीं दिखाई देती। इस अखिल भारतीय ढाँचे को ही हिन्दी विभागों के कुछ आचार्य 'हिन्दी विभाग' कहते हैं और इस विभाग पर अपनी अधिनायकशाही कायम रखने के लिए उसे एक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र साम्राज्य के रूप में संजोए रखना चाहते हैं। इस प्रकार यह शैक्षिक ढाँचा जिस प्रतिगामी तन्त्र की उपज है उसी के अनुरूप छोटे पैमाने पर एक भयावनी दुनिया है—काफ़्का के 'दुर्ग' की तरह या मुक्तिबोध की 'चम्बल घाटी' की तरह; आधार उसका भले ही खोखला हो। भविष्य की यह कल्पना निस्सन्देह भयावह है।

वर्तमान स्थिति में कुल मिलाकर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों की देन यह है कि औसत छात्र एक ओर नितान्त 'साहित्यिक' हिन्दी लिखना सीखता है तो दूसरी ओर श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थों से घृणा करना। इस योग्यता के साथ वह या तो कहीं शिक्षक होने के लिए अभिशप्त है या फिर किसी दफ्तर में अनुवादक। विश्वविद्यालय से जो 'साहित्यिक भाषा' और जो 'साहित्यिक रुचि' लेकर वह बाहर निकलता है उनसे तो वह लेखक होने से रहा। आकस्मिक नहीं कि हिन्दी के अधिकांश साहित्यकार—जिनमें रचनाकार और आलोचक शामिल हैं—दोनों हिन्दी के अलावा किसी अन्य विषय के छात्र रहे हैं अथवा कम-से-कम उन्होंने किसी हिन्दी विभाग में शिक्षा तो नहीं पाई है। क्या इसी फल के लिए पचास साल पहले हिन्दी को विश्वविद्यालयों में लाने की लड़ाई लड़ी गई थी? ध्यान देने की बात है कि हिन्दी-शिक्षण की इस स्थिति का प्रभाव सामान्य साहित्य के प्रकाशन और लेखन पर भी पड़ने लगा है। प्रकाशन का अधिकांश तो छात्रोपयोगी सामग्री प्रकाशित करने की दिशा में चल ही पड़ा है, लेखन भी इस दबाव को शिद्दत से महसूस कर रहा है। आलोचना तो खैर नब्बे प्रतिशत शिक्षोपयोगी हो ही रही है, शिक्षोपयोगी उपन्यास भी इधर आ निकले हैं और वे भी कुछ श्रेष्ठ उपन्यासकारों द्वारा, जिन्हें देखकर साफ लगता है कि उन्हें खास तौर से पाठ्यक्रम में रखे जाने की उम्मीद में लिखा गया है।

गनीमत है, विश्वविद्यालयों के भीतर और बाहर अनेक साहित्यकार और साहित्य-प्रेमी स्थिति की गम्भीरता के प्रति पूरी तरह सतर्क हैं। जो अपने साहित्य-चिन्तन और सृजन में आज की समूची व्यवस्था के खिलाफ मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं वे इस व्यवस्था के शिक्षा-संस्थानों की साहित्यिक और सामाजिक भूमिका से किसी तरह उदासीन नहीं रह सकते। जैसा कि 'संवाद' में एक लेखक ने कहा है, इस शिक्षा-व्यवस्था को बदलने के लिए सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ ही सामाजिक क्रान्ति की भी आवश्यकता है। ऐसी क्रान्ति साहित्य की शिक्षा को सम्पूर्ण 'संश्लिष्ट बौद्धिक जीवन' का अंग बनाकर ही की जा सकती है—और इस प्रकार एक ऐसे क्रान्तिकारी बौद्धिक आन्दोलन को जन्म दिया जा सकता है जो विश्वविद्यालयों के ढाँचे को बुनियादी तौर पर बदलने के साथ ही उस ढाँचे को सहारा देने वाली समाज-व्यवस्था को भी बदलने में योग दे सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब वक्त आ गया है

अशोक वाजपेयी

अब वक्त आ गया है
कि मैं भी कोई पैगम्बराना हरकत करूँ।
जिन्दा लोगों को भीड़ करार देकर
मेरे दोस्त
असम्भव स्त्रियों के ऐश्वर्य में
मेज़ के दूसरी तरफ बैठे हैं
और इस लालच से बच सकना
मुश्किल है
कि एक विशाल घृणा में सरलीकृत
मैं भी कर सकता हूँ सारा संसार।
वक्त आ गया है कि मैं
कहीं भी ढेर में से
हाथ बढ़ाकर उठाऊँ एक मुट्ठी राख
जली हुई हरिजन हड्डियाँ
कोकाकोला की टूटी हुई अधबोतलें
और अपने साल भर के बेटे के पास
ले जाकर
चालू मुहावरे में कहूँ : यह है
मेरा देश—संविधान में सना हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या
उस हरी साड़ी में लिपटी
गदगद ब्याहता की ओर
चटखारे भरता हुआ जाऊँ
इस कुजबुच्चे शहर में
और इसके पहले कि वह विगलित हो
उसके हाथों में थमादूँ
—संसद की आज की कार्यवाही की रिपोर्ट।
अब वक्त आ गया है
कि अपने घर के कस्बाई उजास को
भूलकर
एक भीड़ जमा कर पूछूँ:
कौन कहता है इस सूअरबाड़े को
अपना घर ?
कितना सुखद है
इस तरह अपने डर को
भाषा के ताण्डव में छुपाना
और मेज पर
उऽऽक ताकते हुए नबी की तरह
ऊबी स्त्रियों को अपने अकेलेपन की
वीर गाथाएँ सुनाना।
अब वक्त आ गया है
कि कचरा, कामना
बस की पुरानी टिकटों
और जुलूस को गड्डमड्ड कर
एक अलगण्ट का नारा बनाऊँ
और बेवकूफों और गधाचेहरा लोगों को
बार-बार धिक्कारता दुतकारता हुआ
प्रजातन्त्र की ओर निकल जाऊँ।
दुनिया और प्रेम के तहस-नहस होने की
खबर सबके पास है
वक्त आ गया है कि पूँछ उठाऊँ
फिर अपनी कविता की गधापचीसी में ऊँचे से
उसी की गुहार लगाऊँ······ ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा

'सम्पूर्ण साहित्य' के भाव का विकास

रामस्वरूप चतुर्वेदी

विश्वविद्यालय के उन्मुक्त, बौद्धिक वातावरण में साहित्यिक अभिरुचि और जागरूकता के विकास के लिए सामान्यतः सबसे अधिक उपयुक्त अवसर होना चाहिए। इस आरम्भिक निबन्ध में हमें देखना है कि यह अवसर किस सीमा तक और किस मात्रा में उपस्थित है, और जिस सीमा तक नहीं है उसके क्या संभाव्य कारण हो सकते हैं। एक बार कारण ज्ञात हो जाने पर उनके समुचित निराकरण का दायित्व तो विश्वविद्यालयों का ही हो सकता है। कारणों के विश्लेषण में हम न केवल विश्वविद्यालयीय साहित्य-शिक्षा का स्वरूप स्पष्ट कर सकते हैं, वरन् साहित्य के अध्ययन और आस्वादन की अपनी सामान्य प्रक्रिया को भी समझने का यत्न कर सकते हैं। एक माने में यहाँ हम साहित्य के संप्रेषण को अधिकाधिक दक्ष बनाने की समस्या पर विचार करने के लिए प्रस्तुत हैं।

विश्वविद्यालयों के माध्यम से एक ओर साहित्य और साहित्य की समझ का विकास और विस्तार हुआ है, दूसरी ओर विश्वविद्यालय अपनी जड़ एकेडेमिक दृष्टि के लिए भी कुख्यात रहे हैं। और वस्तुतः विश्वविद्यालयों के बारे में उक्त दोनों ही स्थितियाँ एक सीमा तक सच कही जा सकती हैं। हमारे ही देश में नहीं, अन्य देशों में भी साहित्यिक समीक्षा का अधिकतर विकास विश्वविद्यालय क्षेत्रों में हुआ है। ब्रेडले और रिचर्ड्स, रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्य-चिन्तन विश्वविद्यालयों के ही बीच विकसित और संभव हुआ है। समीक्षक ही नहीं, कुछ रचनाकार भी विश्वविद्यालयीय अध्यापन में संलग्न रहे हैं। पर समीक्षकों की तुलना में रचनाकारों की संख्या निश्चय ही बहुत कम है। पर क्या कारण है कि हिन्दी समीक्षा के अधिकतर नाम विश्वविद्यालयों से संबद्ध होने के बावजूद विश्वविद्यालय दुर्नाम हैं घिसी-पिटी समीक्षा और परंपरित अध्यापन-प्रक्रिया के लिए? इस प्रश्न के विवेचन में हम उपर्युक्त विरोधाभासी स्थिति का संगत कारण खोज सकते हैं।

यह निर्विवाद है कि आधुनिक युग का सभी मौलिक और युगांतरकारी चिन्तन अधिकतर विश्वविद्यालयों में हुआ है, विषय चाहे गणित हो या भौतिकी, साहित्य या दर्शन-शास्त्र। पर चिन्तन की यह मौलिकता सामान्य अध्यापन-प्रक्रिया में सन्निविष्ट नहीं हो पाती। अध्यापक ने जो कुछ नया सोचा है, वह कुछ गिने-चुने शिष्यों को छोड़कर सामान्य विद्यार्थी वर्ग में संक्रमित नहीं हो पाता। सामान्य विद्यार्थी—और सामान्य अध्यापक भी—संख्या में अधिक होते हैं और वे जिस परंपरित वातावरण को ढोते और पुष्ट करते रहते हैं, उसे मौलिक प्रतिभा से युक्त अध्यापक तोड़ नहीं पाता। बहुत बार इसलिए नहीं कि वह उसे तोड़ नहीं सकता, वरन् इसलिए कि वह उसे उपेक्षित कर जाता है। इसी का परिणाम होता है कि विश्वविद्यालय का सामान्य वातावरण परंपरित पाठ्यक्रमों, परीक्षाविधियों आदि के सहारे एक दिशा में चलता है, जबकि विश्वविद्यालय का मौलिक चिन्तन विश्वविद्यालयों में उद्भूत होकर भी उस वातावरण की एकरसता को अक्षुण्ण बनाए रखने में अपनी उपेक्षा से सहायता ही देता है। मौलिक चिन्तन में इतना धैर्य प्रायः कम होता है कि वह औसत विद्यार्थी या श्रोता के स्तर पर उतरकर उसे अपनी चिन्तन-प्रक्रिया में सहभागी बनाता चले। फलतः विश्वविद्यालय का मौलिक चिन्तन और अपेक्षया परम्पराभुक्त वातावरण एक-दूसरे के बावजूद चलते रहते हैं।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि विश्वविद्यालय क्षेत्र का समीक्षक अध्यापन-प्रक्रिया से असंबद्ध रहकर अपनी समीक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना करता है। यहाँ अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि कई बार विद्यार्थियों से कोई खास बौद्धिक उत्तेजना पाए बिना केवल अध्यापन के दौरान अपनी साहित्यिक समझ को विकसित और समृद्ध करने का अवसर हुआ है। और जिस देश-काल में विद्यार्थी बौद्धिक उत्तेजना के भी कारण बन जाएँ, वहाँ तो अध्यापक के लिए और भी संभव है कि वह अपनी चिन्तन-प्रक्रिया को इस माध्यम से अधिकाधिक परिशोधित और प्रशस्त कर सके। पर कक्षा में विद्यार्थियों के ही बीच किसी नए अर्थ-स्तर का साक्षात्कार होने पर भी यह हो सकता है कि विद्यार्थी उसके साक्षी और सहभागी न हो सकें।

मुझे पहली स्नातकोत्तर कक्षा में नाटक पढ़ाना होता है। पिछले कई वर्षों से विश्वविद्यालय क्षेत्र विद्यार्थी आंदोलन और अनियोजित युवा शक्ति के प्रदर्शन-स्थल रहे हैं। ऐसे ही किसी अवसर पर जयशंकर प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' पढ़ाना शुरू किया था। और तब इस नाटक के रचना-विधान में मैंने पाया कि पुरानी विगलित पीढ़ी के समक्ष नई युवा पीढ़ी की शक्ति-संभावना को प्रशस्त करने का यत्न प्रसाद ने किया है। एक ओर नन्द और पर्वतेश्वर की साम्राज्यवादी-सामंतशाही मूल्यों की खोखली होती हुई पीढ़ी है, और दूसरी ओर तक्षशिला के उन्मुक्त वातावरण में पले युवा चाणक्य, चन्द्रगुप्त और सिंहरण हैं, जो व्यापक और नवीन राष्ट्रीय मूल्यों को विकसित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में संघर्ष के कई पूर्वपरिचित स्तरों के साथ यह एक नया और महत्त्वपूर्ण स्तर है, जिसके अन्वेषण में विश्वविद्यालयीय परिवेश का विशिष्ट योग है। पढ़ाते समय नाटक के ये वाक्य मेरे लिए विशेष रूप से अर्थपूर्ण हो गए हैं—"विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, और मुझे तो तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है"—या "विद्यार्थी और कुचक्र! असंभव! यह तो वे ही कर सकते हैं जिनके हाथ में कुछ अधिकार हो।" अर्थ के ऐसे अन्वेषण के क्षणों में मैंने अपनी अध्यापन और समीक्षा वृत्ति को कृतकृत्य हुआ माना है। और तब अज्ञेय की इस छोटी-सी कविता का भाव भी और अच्छे ढंग से समझा है—

फोड़-फोड़कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने-अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है—
बस, उतना मैं खेत हूँ।

साहित्य के खेत में अपने विद्यार्थियों के साथ लगने का क्रम कभी-कभी कितना सार्थक और संतोषप्रद हो सकता है, यह अनुभव ही अध्यापक के जीवन की सबसे स्पृहणीय उपलब्धि है।

साहित्य सम्बन्धी अध्यापन के क्रम में एक कठिन अंक माना जाता रहा है श्रृंगारिक अंशों को पढ़ाना। पर वस्तुतः इन श्रृंगारिक अंशों को पढ़ाने में कठिनाई विद्यार्थियों की ओर से उतनी नहीं आती जितनी कि स्वयं अध्यापक के अपने मन से उपजती है। पढ़ाना चाहे सूरदास हो या नन्ददास, या कि प्रसाद का 'आँसू'—"परिरंभ कुंभ की मदिरा, निःश्वास मलय के झोंके," यदि अध्यापक अपनी सहज, स्वाभाविक गति से रचना के सृजन-सौंदर्य की उन्मुक्त व्याख्या करता चलता है तो कभी कोई कठिनाई नहीं होती, पर पढ़ाते समय यदि अध्यापक स्वयं उन श्रृंगारिक स्थलों को लेकर कुंठित और संकुचित है तो विद्यार्थी यह तुरन्त ताड़ जाते हैं कि आपके मन में साहित्य प्रमुख न होकर अब शरीर-विज्ञान प्रमुख है। और तब कक्षा का अनुशासन तो भंग होता ही है, उस रचना-प्रसंग के साथ अन्याय भी होता है। अध्यापन के इस पक्ष से सीखा जा सकता है कि कला-रचना में अश्लीलता नहीं होती—हो ही नहीं सकती—वह पाठक या दर्शक की दृष्टि में होती है। जहाँ कला है वहाँ अनुभव की समग्रता है, जहाँ अनुभव खण्डित हो जाता है वहीं अश्लीलता आती है। इसलिए कला, जो अनुभव की समग्रता की ही अभिव्यक्ति है, में अश्लीलता का प्रश्न नहीं उठता। जहाँ भी अश्लीलता है वहाँ या तो कला ही नहीं है, या फिर कला-अनुभव को समझने की दृष्टि नहीं है। यह मान्यता साहित्य सम्बन्धी अध्यापन के अनुभव से अधिक व्यावहारिक रूप में पुष्ट होती है।

पर उपर्युक्त दोनों उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि अध्यापक को पढ़ाने के क्रम में दिशा-बोध भी होता है, वह अपने अध्यापन से स्वयं सीखता चलता है। पर दूसरे सिरे पर क्या है? और तब मानना होगा कि विद्यार्थी के लिए साहित्य का संप्रेषण प्रायः उतना दक्ष और प्रभावशाली नहीं होता जितना कि उसे होना चाहिए। इसका मुख्य कारण यह है कि अध्यापक को परीक्षा की दृष्टि से पढ़ाना होता है, परीक्षा का आधार प्रायः अपरिवर्तनशील पाठ्यक्रम है, और परीक्षा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणाली तथा पाठ्यक्रमों की जकड़ में अधिकतर अध्यापक जड़ और नोट-लिखाऊ हो जाते हैं। यद्यपि यह सही है कि कुछ अध्यापक परीक्षा के कर्मकांड के बावजूद अपने रचनात्मक व्यक्तित्व और प्रखर विचारों को विद्यार्थी समुदाय में संक्रमित करते चलते हैं, और साथ ही विद्यार्थी के मस्तिष्क को विचारोत्तेजन के लिए तैयार करते चलते हैं, पर उनकी संख्या निश्चय ही बहुत कम है। अधिकतर अध्यापक विद्यार्थी की तर्क-शक्ति को विकसित करने का क्रम और खतरा नहीं उठाना चाहते, वह क्रम और खतरा जो सच्चे अध्यापक के लिए अध्यापन की गहरी प्रक्रिया और उपलब्धि है। अध्यापन की इस सुकुमार और चलित प्रक्रिया में अध्यापक अपने अनुभव और विचारों को विद्यार्थी में संक्रमित करता है, पर उसके मानस को बाधित करने के लिए नहीं, वरन् उसे और संवेदनशील तथा प्रबुद्ध बनाने के लिए। एक माने में यह साहित्य-सृजन जैसी ही रचनात्मक प्रक्रिया है। पर जैसे हर छपी पुस्तक साहित्य नहीं है, वैसे ही हर अध्यापक पढ़ाता नहीं (हाँ, लिखाता है!)

परीक्षा-पद्धति के बारे में यहाँ कुछ चर्चा करना बहुत संगत न होगा, क्योंकि यह प्रश्न बहुत व्यापक है और इसका सम्बन्ध केवल साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से न होकर सभी विषयों से है। पर प्रस्तुत संदर्भ में विश्वविद्यालयीय—विशेषतः परस्नातक कक्षा के हिन्दी पाठ्यक्रमों का विश्लेषण मूल विषय के विवेचन में सहायता दे सकता है। अच्छे-से-अच्छे पाठ्यक्रमों को भी देखने पर लगता है कि साहित्य के अध्यापन में सहायक अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो गए हैं, साहित्य का अध्यापन गौण हो गया है। कई जगह जहाँ पाठ्यक्रम का अपना गठन सानुपातिक है, वहाँ अध्यापन-प्रक्रिया में साहित्य विलुप्त है और उसके सारे अंग-उपांग उपस्थित हैं। इस तरह यह एक दुष्टचक्र बन गया है, जिसमें पाठ्यक्रम और अध्यापन-प्रक्रिया दोनों एक-दूसरे को जड़ और ग़ैर-साहित्यिक बनाते रहते हैं। विश्वविद्यालयों में 'संपूर्ण साहित्य' के भाव को विकसित करने के लिए इस दुष्टचक्र को तोड़ना होगा, जिसमें पहल अध्यापन-प्रक्रिया की ओर से करनी होगी, क्योंकि दोनों के बीच वही महत्त्वपूर्ण है और निर्णायक भी। पाठ्यक्रम को अध्यापन-प्रक्रिया का अनुगामी होना चाहिए, न कि अध्यापन-प्रक्रिया अपने को पाठ्यक्रमों से बँधा रहने दे।

साहित्य की अध्यापन-प्रक्रिया की कुछ अपनी निजी कठिनाइयाँ हैं। अध्यापन सामान्यतः व्याख्यान और विश्लेषण पर आश्रित है। पर साहित्य अपनी प्रकृति में संश्लेषण है। इस संश्लेषण की सार्थकता एक सीमा तक ही विश्लेषण की पद्धति से जानी-समझी जा सकती है। आत्यंतिक विश्लेषण तो साहित्य के स्वरूप को ही विकृत और नष्ट कर देगा। ऐसी स्थिति में साहित्य के अध्यापक को विश्लेषण का सहारा लेते हुए भी दृष्टि इस पर रखनी है कि रचना की समग्रता और उसका अनुभव सही-सही संप्रेषित हो जाए, कहीं विश्लेषण की पद्धति उसे खंडित न कर दे। सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों के तर्क-वितर्क और चीड़-फाड़ से साहित्य के अध्यापन की प्रक्रिया अलग है, पर बहुत बार अध्यापक की नासमझी से साहित्य की कक्षा विज्ञान की प्रयोगशाला बन जाती है। और तब विद्यार्थी कविता के संघटन को मेंढक के आवयविक गठन की तरह देखने लगते हैं। फल होता है कि साहित्य की समझ पूरे वातावरण से समाप्त हो जाती है।

साहित्य के अध्यापन में एक और समस्या उत्पन्न होती है विशेषीकरण की स्थिति को लेकर। ज्ञान-विज्ञानों के विकास ने विशेषीकरण लगभग अपरिहार्य बना दिया है। एक डॉक्टर बाएँ कान का मर्म जानता है तो दूसरा दाएँ ही कान का। तब अवशेष का एक विशेषीकृत वर्ग बना है, जिन्हें 'सामान्य डॉक्टर' कहा जाता है, जो पूरे शरीर की व्याधियों और उनके अंतस्संबंधों को जानते हैं। साहित्य के अध्यापन में भाषावैज्ञानिक, काव्यशास्त्री और पाठविज्ञानी का निश्चय ही महत्त्व है, पर मूलतः तो साहित्य के अध्यापक को समग्र रचना का केन्द्रीय अनुभव ही उद्घाटित करना है। बिना इस क्षमता के उसका सारा शास्त्र और विज्ञान अध्यापन प्रक्रिया में अर्थहीन लगने लगते हैं। इस दृष्टि से अध्यापक के अपने अध्ययन और शोध के लिए विशेषीकरण की सीमा मान लेने पर भी यह ध्यान रखना होगा कि उसका मूल दायित्व है रचना के अनुभव से टकराना, और उसका इस ढंग से विश्लेषण और व्याख्यान करना कि वह विरूप और विकृत न हो जाए।

इसी संदर्भ में साहित्य के अध्यापक में शोध और अध्यापन का सानुपातिक संबंध देखा जा सकता है। शोध की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए जो शोधकर्ता अध्यापक को साहित्य की व्यापक धारा से जोड़े, न कि एक छोटे-से क्षेत्र में सीमित कर दे। शोध का सबसे बड़ा प्रयोजन यह है कि उसके माध्यम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अध्यापक अपनी बौद्धिक क्षमता को जड़ हो जाने से रोकता है। पर अध्यापन-क्षेत्र की यह भी एक विडंबना है कि हिन्दी के अध्यापकों ने प्रायः शोध के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को गतिशील बनाने के बजाय सीमित और संकीर्ण कर लिया है। यहाँ भी दोष शोध का उतना नहीं जितना कि शोध को लेकर हमारी दृष्टि का है। हिन्दी का अधिकांश शोध स्वतः-स्फूर्ति कम, व्यावसायिक दृष्टि से प्रेरित अधिक है। स्वभावतः ही ऐसा शोध व्यक्तित्व के उन्मेष में नहीं संकोच में सहायक होगा। शोध में निर्देशक और छात्र के मस्तिष्क टकराते हैं, फलतः अध्यापक का चिंतन इस प्रक्रिया से बराबर तरोताज़ा होता चलता है। पर यहाँ भी शोध से पाए ज्ञान को संप्रेषित करने के लिए अध्यापन की कुशलता अपेक्षित है। कई बार अध्यापन के ऊपर शोध को महत्त्व दिए जाने से इन दोनों के पारस्परिक संबंध विकृत होते हैं। अध्यापन और शोध एक-दूसरे की सहायक प्रक्रियाएँ हैं, न कि परस्पर-विरोधी। यद्यपि विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों को देखकर बहुत बार दूसरी बात ही सच होती जान पड़ती है।

विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा को लेकर एक बड़ा कठिनाई है उसकी भाषायी सीमा को लेकर। हमारे इस विवेचन में साहित्य का समग्र रूप एक मूल प्रतिज्ञा है। पर साहित्य का समग्र रूप क्या भाषाओं में बँटकर खण्डित नहीं हो जाता? इसी एक समस्या से जूझते हुए पश्चिम के एक प्रसिद्ध समीक्षक अध्यापक ने कहा था कि उपनिषद् तब तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते जब तक कि कीट्स और शेली का रोमांटिक काव्य पढ़ा न लिया जाए। हमारे यहाँ वही बात बाइबिल, शेक्सपियर, गेटे या फिरदौसी को लक्ष्य करके कही जा सकती है। और ये कृतियाँ तथा कृतिकार तो दूसरे देश के हैं। हमारे साहित्य विभागों के पाठ्यक्रम क्या भारतीय साहित्य का भी कोई परिप्रेक्ष्य उभार पाते हैं? यह समस्या सचमुच कठिन है, और हम वस्तुतः अनुभव करते हैं कि कला विस्तृत है।

कुछ विश्वविद्यालयों ने तुलनात्मक साहित्य का एक विभाग खोलकर इस समस्या को हल करना चाहा है। पर यह भी समस्या से जूझना नहीं कतराना है। साहित्य की समग्रता का अनुभव तो तभी हो सकता है जब हम किसी विशेष साहित्य के संदर्भ में समूचे भारतीय साहित्य और साहित्य मात्र की आत्मा का साक्षात्कार करा सकें। इसका एक ही उपाय हो सकता है कि प्रत्येक साहित्य के पाठ्यक्रम में साहित्य के व्यापक अध्ययन को सांकेतिक रूप में सम्मिलित किया जाए। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को यदि एक वर्ष एक प्रश्नपत्र के अंतर्गत भारतीय साहित्य, उसकी परम्परा, और कुछ चुने हुए अंश—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, कन्हैयालाल मुंशी, इकबाल—का पाठ कराया जा सके तो संक्षिप्त रूप में ही सही, उसका भारतीय साहित्य से कुछ साक्षात्कार हो सकेगा। इसी प्रकार से दूसरे वर्ष में विश्व-साहित्य का एक प्रश्नपत्र—बहुत-कुछ विश्व-इतिहास की तरह का—रखा जा सकता है। प्रश्नपत्रों की कमी होने पर कुछ अधिक कड़े चुनाव के साथ भारतीय साहित्य और विश्व-साहित्य को एक साथ भी मिलाया जा सकता है। पर शर्त यह रहेगी कि इस प्रश्नपत्र में महत्त्व केवल आलोचनात्मक प्रश्नों का ही न रहे, वरन् कुछ श्रेष्ठ कृतियों के अनूदित अंश आस्वादन के लिए ज़रूर जाएँ। तभी हम साहित्य के समग्र और संपूर्ण रूप को समझने की दिशा में प्रयास कर सकते हैं।

विश्वविद्यालयों में साहित्य के अध्यापन को विकसित और समृद्ध करने के लिए इन सब पक्षों की ओर ध्यान देना होगा। पर यहाँ दुहराकर कहना है कि इन सबके केन्द्र में अध्यापन-प्रक्रिया है, जो प्रत्येक अध्यापक के लिए इतनी मौलिक और विशिष्ट है कि विश्वविद्यालयीय स्तर के अध्यापकों को किसी संस्थान में प्रशिक्षित करने की बात कभी नहीं सोची जाती। पर विश्वविद्यालय के साहित्य-विभागों में प्रायः अध्यापन-प्रक्रिया उपेक्षित है। विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों में किसी रचना को पढ़ाते समय उसका पाठ प्रमुख न होकर उसकी 'समीक्षा' प्रमुख रहती है। और इस 'समीक्षा' के अंतर्गत अध्यापक उपन्यास या नाटक पढ़ाने के लिए कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन और देश-काल बता देता है। यदि कविता पढ़ानी हुई तो रस-छंद, अलंकार पर टिप्पणी कर देना प्रमुख होता है। अध्यापन के इन स्थूल और भौंडे नुस्खों से साहित्य के जटिल और सुकुमार अनुभव का साक्षात्कार किस कदर बेमेल है, इस पर और कुछ न कहना ही अच्छा है। एक अच्छी समीक्षा विकसित करके भी हम मानो विश्व-विद्यालय की कक्षा में गुण-दोष-कथन की पद्धति से ही साहित्य पढ़ाना चाहते हैं। जब विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग आरम्भ हुए थे तब इस प्रणाली की अनिवार्यता मानी जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती थी, आज भी हाई स्कूल या इंटरमीडिएट तक इन स्थूल उपायों का अभिप्राय किसी सीमा तक समझा जा सकता है, पर विश्वविद्यालय स्तर पर वस्तुपात्र कथोपकथन या रस-छन्द-अलंकार के सहारे पढ़ाना साहित्य की ऐसी शव-परीक्षा है जिसका किसी के लिए कोई उपयोग नहीं।

यदि विश्वविद्यालय की साहित्य-शिक्षा में साहित्य को सचमुच महत्त्व देना है तो हमें अपनी अध्यापन प्रक्रिया में रचना के पाठ को केन्द्र में रखना होगा। शेक्सपियर की युक्ति को कुछ संशोधन के साथ कहना होगा, रचना ही असली चीज़ है। विद्यार्थी को किसी कृति के आमने-सामने लाकर इस तरह छोड़ देना होगा कि वह उससे सीधे अनुभव ग्रहण कर सके। इसके लिए ज़रूरी है कि किसी भी साहित्यिक रचना को खण्ड सृष्टि से न देखकर उसके पूरे रचना-विधान की व्याख्या की जाए। और रचना-पाठ तथा समीक्षा को अलग-अलग न रखकर पाठ्य-ग्रंथ पढ़ाते समय ही उसकी साहित्यिक सर्जनशीलता का उद्‌घाटन किया जाए। इससे रचना और समीक्षा के बीच वह आवश्यक और मौलिक सम्बन्ध स्थापित रह सकेगा जो विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के मन से प्रायः लुप्त रहता है। उसके लिए पाठ्य-ग्रन्थों के उद्धरणों का भावार्थ लिखना एक अभ्यास है, और उसकी 'समीक्षा' करना एक अलग अभ्यास है। पर पूरी रचना क्या है, इसकी न उसके मन में कोई परिकल्पना है और न वह इस दिशा में कुछ सोचना चाहता है।

साहित्य को लेकर अध्यापक और विद्यार्थी के इस रिश्ते को बदलना है, और यह हमारे विश्वविद्यालय, साहित्य और युवा जीवन की एक आधारभूत समस्या है। यदि विश्वविद्यालय में साहित्य का शिक्षण समुचित रूप में नहीं होता, तो इन विद्यार्थियों का जन-रुचि के विकास में सही योगदान नहीं हो सकता। फिर गलत जन-रुचि साहित्य पर भी गलत ढंग का ही प्रभाव डालेगी। और गलत साहित्य से विकसित जीवन सही दिशा में कैसे जा सकता है? इस दृष्टि से यह समूचा प्रश्न केवल विश्वविद्यालय या केवल साहित्य का प्रश्न न होकर बौद्धिक वातावरण का प्रश्न है, जहाँ समाज की रचना-प्रक्रिया रूप ग्रहण करती है। आज जबकि युवा पीढ़ी हमारे सोचने के केन्द्र में बरबस आ गई है, साहित्य का शिक्षण उत्तरोत्तर परिशोधित और दक्ष होना चाहिए—एक अस्त्र के रूप में व्यक्तित्व को किसी खास तरह से नियमित और निर्धारित करने के लिए नहीं वरन् विद्यार्थी के मानस को अधिकाधिक उन्मुक्त और प्रबुद्ध बनाने के लिए। ●

शिक्षण के उद्देश्य में परिवर्तन

देवेन्द्रनाथ शर्मा

आपने विश्वविद्यालय और साहित्य की शिक्षा शीर्षक परि-संवाद का आयोजन करके एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण विषय की ओर ध्यान आकृष्ट करने का उपक्रम किया है। इसके लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। इस समस्या के अनेक पहलू हैं और इस पर बहुत सारी दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, इस समस्या से सम्बद्ध ये प्रश्न स्वभावतः सामने आते हैं: विश्वविद्यालयों में साहित्य की शिक्षा कैसी होती रही है, कैसी हो रही है या कैसी होनी चाहिए? साहित्य की शिक्षा का उद्देश्य क्या है? साहित्य की शिक्षा की प्रचलित पद्धति से वह उद्देश्य क्या सिद्ध हो रहा है? यदि हो रहा है तो कहाँ तक? यदि नहीं हो रहा है तो क्यों? साहित्य की वर्तमान शिक्षा-पद्धति में क्या गुण-दोष हैं? दोषों के निराकरण के लिए क्या करना उपेक्षित है? साहित्य के अन्तर्गत किन विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए? शिक्षा का रूप और पद्धति क्या हो? आदि। इस तरह के और भी अनेक प्रश्न विचार-विमर्श के प्रसंग में उपस्थित हो सकते हैं। इन सभी पर विचार करने के लिए पर्याप्त समय और स्थान आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उतना एक लेख में संभव नहीं हो पायेगा। तत्काल उपर्युक्त प्रश्नों को मैं दो प्रश्नों में समेटना चाहता हूँ:

१. विश्वविद्यालय में साहित्य की शिक्षा का उद्देश्य क्या है?

और

२. साहित्य की शिक्षा का रूप, विषय और पद्धति क्या हो?

साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन का प्रश्न कोई नया नहीं है। प्रत्येक देश और काल में विद्वानों ने इस पर विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है और विभिन्न उत्तर दिए हैं। काट-छाँटकर सबका अन्तर्भाव मुख्यतः दो में किया जाता है और वे हैं आनन्द तथा उपदेश। विश्वविद्यालय में साहित्य के अध्ययन तथा अध्यापन की जो प्रविधि चालू है, उसमें आनन्द मिलता है, यह मानना मेरे लिए कठिन है। लगभग तीस वर्षों के साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के अनुभव के आधार पर मैं अब ऐसा अनुभव करने लगा हूँ कि कक्षाओं में हम साहित्य का एक ही उपयोग कर पाते हैं और वह है उसकी शव-परीक्षा और यह शव-परीक्षा साहित्य की अन्तर्निहित ताज़गी, सजीवता और सुन्दरता को सर्वथा नष्ट कर देती है। रोचक-से-रोचक साहित्य कक्षाओं के शास्त्रीय विश्लेषण की प्रक्रिया में जड़ एवं निष्प्राण हो जाता है। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि यह दोष शास्त्रीयता का है। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि आज के शिक्षण की जो दिशाएँ और पद्धतियाँ हैं वे बहुत दूर तक असन्तोषप्रद हैं। उनके द्वारा न तो साहित्य का बोध हो पाता है और न अनुभूति। अध्यापकों के व्यक्तिगत ज्ञान एवं अध्यापन-प्रणाली से इसमें थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही पड़ता हो किन्तु परिणाम में विशेष अन्तर पड़ते मैंने नहीं देखा है। कुछ ग्रन्थ तो कक्षाओं में पढ़ाने की आवश्यकता की पूर्ति मात्र करते हैं। इनमें कामायनी का स्थान सर्वोच्च माना जा सकता है। एम० ए० के परीक्षार्थियों के अतिरिक्त कामायनी का अनुशीलन और कौन करता है ? और दो वर्षों तक कामायनी पढ़ने के बाद कितने लोग कामायनी के काव्यत्व से प्रभावित और आनन्दित हो पाते हैं ? हाँ, कामायनी की क्लिष्टता का रोना रोते मैंने निरपवाद रूप से अवश्य सुना है। इस युग के सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य की यह स्थिति है। इसीसे दूसरे महाकाव्यों या काव्यों की स्थिति का हम अनुमान कर सकते हैं। मतलब कि साहित्य की शिक्षा से आनन्द प्राप्त नहीं होता। रही बात उपदेश की, तो आज के छात्र-समुदाय की उपदेश में आस्था ही नहीं है। उपदेश का नाम सुनते ही उसमें आक्रोश का भाव जग पड़ता है। कारण इसका यह है कि उपदेश में सत्ता की गन्ध रहती है और आज का वातावरण प्रतिसत्तावादी हो गया है—वह किसी प्रकार की सत्ता को स्वीकार करना नहीं चाहता। आज कोई विश्वविद्यालय ऐसा नहीं जो उत्पात, उपद्रव, अशांति और अनुशासनहीनता से मुक्त हो। कविराज विश्वनाथ ने कहा है कि साहित्य से कार्य और अकार्य का निर्णय करने में सहायता मिलती है, अर्थात् विधि और निषेध के द्वारा वह हमें यह बताता है कि अमुक कार्य करने योग्य है और अमुक नहीं। यदि कविराज विश्वनाथ का यह कथन साहित्य के सम्बन्ध में सही होता तो किसी भी विश्वविद्यालय का वातावरण अशान्त नहीं होना चाहिए था, क्योंकि साहित्य का कुछ अंश तो ऐसा पढ़ाया ही जाता है जिसका सम्बन्ध कार्य और अकार्य से स्पष्टतः रहता है और जिसे जान लेने पर छात्रों को यह सोचने-समझने का अवसर मिलता कि हमें यह कार्य करना चाहिए और यह नहीं। पर साहित्य इस स्थल पर आज बिलकुल निरुपयोगी है। यह दोष सोलह आने साहित्य का ही नहीं है। आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य है रोटी कमाना। कोई छात्र कोई भी विषय इसलिए नहीं पढ़ता कि उसमें उसकी गहरी या वास्तविक अभिरुचि है, बल्कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए कुछ विषयों को लेना ज़रूरी है और वह जिन्हें अधिक आसान या अधिक अंकप्रद समझता है उन विषयों को ले लेता है। इसलिए उसका लक्ष्य विषय का ज्ञान अर्जित करना नहीं बल्कि सरलतापूर्वक उपाधि प्राप्त करना होता है जिसके चलते उसे रोटी कमाने में सुविधा हो। परीक्षा के लिए दर्जनों उपयोगी विषयों में साहित्य भी एक विषय बनकर रह गया है। इसलिए उससे उन उद्देश्यों की पूर्ति की आशा करना व्यर्थ है जो परम्परा से दुहराए जाते रहे हैं। मेरी अपनी धारणा है कि जब तक शिक्षण के उद्देश्य में परिवर्तन नहीं होगा तब तक शिक्षणीय विषयों के प्रति छात्रों की रुचि एवं दृष्टिकोण में भी परिवर्तन नहीं होने का। हिन्दी के पाठ्यक्रम में रामचरितमानस प्रायः सर्वत्र पढ़ाया जाता है और उसका भी विशेषतः अयोध्याकांड, जिसका यह दोहा :

अनुचित उचित बिचार तजि जे पालहिं पितु बेन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन।।

परीक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। पितृभक्ति सम्बन्धी यह आदर्श परीक्षा भवन की उत्तर-पुस्तिकाओं में व्याख्या का विषय भले ही हो, लोक में बहुत कम पुत्रों को प्रभावित कर पाया है, यह कोई भी दृढ़तापूर्वक कह सकता है। इसीलिए मैंने कहा कि साहित्य की शिक्षा आज निरुपयोगी हो गयी है; वह न आनन्द देने में समर्थ है और न उपदेश। हम चरित्र-निर्माण जैसे भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग केवल आत्मसन्तोष के लिए करते हैं, वास्तविकता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरा प्रश्न मैंने ऊपर यह उठाया है कि साहित्य की शिक्षा का रूप, विषय और पद्धति क्या हो? विचार करने के लिए साहित्य की शिक्षा के तीन स्तरों को अलग-अलग करके देखना होगा — उपस्नातक, स्नातकोत्तर और अनुसंधान। यद्यपि ये तीनों स्तर कुछ दूर तक परस्पर-सम्बद्ध और सापेक्ष हैं, फिर भी तीनों की शिक्षण-विधि में अन्तर है या यों कहें कि अन्तर होना चाहिए। अभी वस्तुतः उपस्नातक और स्नातकोत्तर में कोई मौलिक भेद नहीं, एक तरह से स्नातकोत्तर अध्ययन उपस्नातक अध्ययन का ही विस्तार है। दोनों की दृष्टि, बोध और अभिव्यक्ति में जो बौद्धिक अन्तर होना चाहिए वह पंचानवे प्रतिशत छात्रों में नहीं मिलता। अनुसंधान की भी स्थिति कोई बहुत संतोषप्रद नहीं है। आज एक प्रकार से सभी लोग मान बैठे हैं कि अनुसंधान का उद्देश्य सारस्वत साधना नहीं, अर्थ-साधना है और अर्थ-साधना की प्रेरणा से किए गए अनुसंधान यदि अनुसंधान के उत्कर्ष-बिन्दु तक नहीं पहुँच पाते तो इसमें न खेद होना चाहिए और न आश्चर्य।

हम किन विषयों को पढ़ाएँ, उनमें क्या अनुपात रखें और उनके लिए कौनसी पद्धति अपनाएँ, इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए अनेक विश्वविद्यालयों ने समय-समय पर संगोष्ठियाँ की हैं जिनमें एक-से-एक विद्वान् सम्मिलित हुए हैं। जमकर बातें हुई हैं; खुलकर विचारों के आदान-प्रदान हुए हैं; परिवर्तन का ज़ोर-शोर से समर्थन हुआ है, पर जैसा हमेशा होता है, ये सारे आयोजन शुद्ध बौद्धिक विलास होकर रह गए हैं और कभी कोई निर्णय नहीं हुआ। इसमें जितने द्रव्य, समय और शक्ति का अपव्यय हुआ है उसे सोचकर कभी-कभी गहरा खेद होता है। पर जिस देश में बौद्धिक विलास ही कार्य का प्रतिरूप और पर्याय माना जाता हो, उसमें इस पर खेद करना व्यर्थ है। जिस विषय पर दर्जनों बार आठ-आठ, दस-दस दिनों तक सामूहिक विमर्श करने के बाद भी कोई निर्णय नहीं हो सका, उस पर इस छोटे-से निबन्ध में स्पष्ट, निर्णयात्मक संकेत देना मेरे लिए न सम्भव है और न संगत। फिर भी एक-दो बातों की ओर मैं इंगित करना चाहता हूँ।

विश्वविद्यालय, चाहे भारत के हों चाहे दूसरे देशों के, कुछ दूर तक प्राचीनता के आग्रही होते हैं। जो लोग विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध नहीं होते वे इसे रूढ़िवादिता की संज्ञा दिया करते हैं। बात यह है कि विश्वविद्यालय के शिक्षक जिस परिवेश में काम करते हैं उसमें इस तरह की भावना या संस्कार कुछ दूर तक नैसर्गिक है। इसलिए विश्वविद्यालय का अध्यापक बहुत आलोच्य नहीं माना जाना चाहिए। बहुतों को शायद न मालूम हो कि केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में मैथ्यू आर्नल्ड के बाद की आलोचना का पाठ्यक्रम में समावेश नहीं है, यद्यपि हम जानते हैं कि उसके बाद अंग्रेज़ी के अनेक ऐसे ख्यातनामा आलोचक हुए हैं जिनकी आलोचना दूसरे देशों में भी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मानी गयी है।

मैं समझता हूँ कि वर्तमान परिस्थिति में इसमें संशोधन की गुंजाइश है। नवीनता की उपेक्षा करना या उसके प्रति तटस्थता बरतना किसी भी साहित्य के लिए हितकर नहीं। केवल प्राचीनता की दुहाई देकर आगे बढ़ना असम्भव है। अतीत की उपलब्धियों को ही सर्वस्व मानना अकर्मण्यता का लक्षण है। इसलिए अतीत से निकलकर हमें वर्तमान और भविष्य पर भी दृष्टि रखनी होगी। समय पर प्रश्रय, प्रोत्साहन और प्रशंसा न प्राप्त होने से बहुत बार उत्कृष्ट प्रतिभाएं भी कुंठित या विनष्ट हो जाती हैं। यह कितना बड़ा विरोधाभास है कि छायावाद के जिन कवियों की रचनाएँ १९३५ तक अपाठ्य मानी गयीं, उन्हीं पर १९६५ तक दर्जनों शोध-प्रबन्ध साभिनिवेश प्रस्तुत कर दिए गए। दृष्टि की जो उदारता १९५० में आविर्भूत हुई वह यदि १९३० के आसपास हुई होती तो साहित्य को अधिक लाभ पहुँचा होता। नई कविता या साहित्य की दूसरी वर्तमान विधाओं को लेकर आज जो असहानुभूतिपूर्ण विचार-वितर्क चल रहा है, वह निश्चय ही दस वर्षों के बाद सहानुभूतिपूर्ण बोध में परिणत होगा और आज जिन्हें हम 'पंक्तिबाह्य' मान रहे हैं उन्हें ही 'पंक्तिपावन' मानकर शिक्षण और शोध का विषय बनाएँगे। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि प्रत्येक नए लेखक को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। यह चाहने पर भी सम्भव नहीं होगा। भक्तिकाल, रीतिकाल या आधुनिक काल के ही बहुत सारे उत्कृष्ट कवियों या लेखकों को पाठ्यक्रम में स्थान नहीं दिया जा सका है, पर इससे उनकी उत्कृष्टता खंडित नहीं होती। पाठ्यक्रम हमेशा ही सीमित और चयनात्मक होगा, पर सहानुभूतिपूर्ण विचार और चर्चा से उसका विरोध कहाँ है? मेरा इतना ही कहना है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी नई प्रतिभा या नई कृति को देखकर उसके प्रति पहली प्रतिक्रिया स्वागत की होनी चाहिए, उपेक्षा की नहीं। दृष्टि-कोण का यह हल्का-सा अन्तर साहित्य की समृद्धि के लिए अकल्पनीय रूप से श्रेयस्कर सिद्ध होगा और इससे प्राचीन-नवीन के बीच की खाई अनायास पटती नज़र आएगी।

आलोचक का काम लेखक और पाठक को एक-दूसरे के समीप लाना है। हिन्दी में यह काम अभीष्ट रूप में नहीं हो रहा है, यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं है। इसके कई कारण हैं जिन सबकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। एक-दो बातें सिर्फ ध्यान में रखने की हैं। कुछ आलोचकों की बातें इतनी शास्त्रगूढ़ होती हैं कि पाठकों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता; कुछ आलोचकों की आलोचना निरर्थक वाग्जाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती और कुछ लेखक आलोचना के नाम पर इतनी सतही चीजें देते हैं कि उनका पढ़ना, न पढ़ना बराबर है। ऐसी आलोचना बोध का आधार प्रस्तुत न कर अबोध या भ्रांतबोध का कारण बन जाती है। ऐसी ही आलोचना साहित्य की कक्षाओं में भी चलती है। इसलिए वह छात्रों को साहित्य के प्रति उन्मुख करने के बदले उन्हें और भी विमुख बना देती है। किसी अध्यापक के कक्षा से बाहर जाने के बाद छात्रों की प्रतिक्रिया सुनिए तो विनोद के साथ निराशा भी होती है। छात्रों में विषय के प्रति रुचि और जिज्ञासा जगाने वाले अध्यापकों की संख्या कितनी कम है, यह सभी जानते हैं। यदि मैं कहूँ कि महीने में एक नई पुस्तक पढ़नेवाले अध्यापकों की संख्या दस प्रतिशत भी नहीं होगी तो इसका खंडन किसी के लिए आसान नहीं होगा। जब मैं यह कह रहा हूँ तो वे सारे अध्यापक भी मेरे सामने हैं जो देहातों में फैले हुए कालेजों में साहित्य के अध्यापन का कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। उन्हें न तो पुस्तकालयों की सुविधा उपलब्ध है, न नई पुस्तकों की सूचना मिल पाती है और न नए प्रकाशनों को लेने की उन्हें आर्थिक शक्ति है, न बौद्धिक अभिरुचि। अध्ययन-अध्यापन का पिछड़ापन केवल बौद्धिक निष्क्रियता या रुचिहीनता का ही परिणाम नहीं है, उसके लिए सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति की विवशता भी है। मगर विवशता चाहे जो भी हो, उससे परिणाम में कोई फर्क नहीं आता। परिणाम यह है कि साहित्य का अध्यापन सन्तोषप्रद ढंग से नहीं हो पा रहा है।

पाठ्य-विषय का प्रसंग होने से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के सम्बन्ध में कहने का कुछ अव-काश तो है ही, किन्तु इन सब पर थोड़ा-थोड़ा भी कहना इस लेख को अत्यन्त विस्तृत रूप दे देगा। यदि यह प्रसंग आगे चला तो मैं बाद में अधिक विस्तार से अपना विचार व्यक्त करूँगा। अभी इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि इन विधाओं की तुलना में आलोचना को अधिक रचनात्मक बनाने की आवश्यकता है और यह कार्य उसी आलोचना से सम्भव हो सकता है जिसमें ताज़गी, सजीवता और गम्भीरता हो। गम्भीरता का अर्थ क्लिष्टता नहीं है; दोनों दो चीज़ें हैं। गम्भीरता विषय के ज्ञान से उत्पन्न होती है और क्लिष्टता अभिव्यक्ति की अक्षमता से। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना गम्भीर है पर क्लिष्ट नहीं। हिन्दी के लिए यह चिन्त्य परिस्थिति है कि लगभग पचास वर्ष पहले का लिखा हुआ 'साहित्यालोचन' आज भी साहित्यालोचन का सर्वमान्य आधार-ग्रंथ है। इस अवधि में रूप और परिणाम दोनों ही दृष्टियों से साहित्य कहाँ से कहाँ पहुँच गया पर छात्रों को पढ़ायी जाने वाली आलोचना में उसका सम्यक् प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य आदि हम कितने अभिनिवेश से छात्रों को पढ़ाते हैं (मैं स्वयं भी इसका अपवाद नहीं हूँ) पर आज की आलोचना में इसका उपयोग कभी होता भी है? और तब मैं अपने-आप से पूछता हूँ—इस बौद्धिक व्यायाम की व्यावहारिक उपादेयता क्या है? आलोचना साहित्य की विशेषताओं के उद्घाटन और बोध में समर्थ होनी चाहिए, इसके बदले आज आलोचना और साहित्य की परस्पर-निरपेक्ष धाराएँ रेल की पटरियों की तरह केवल समानान्तर चल रही हैं पर कभी एक-दूसरी को छूती नहीं। यह स्थिति साहित्य के ह्रासकाल में हुआ करती है। आनन्दवर्द्धन के समय संस्कृत की यही स्थिति थी। ध्वनि-सिद्धान्त जैसी सूक्ष्म, उपयोगी और व्यापक आलोचना-पद्धति से संस्कृत साहित्य ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया और उत्तरोत्तर ह्रास की ओर अग्रसर होते-होते कोरा वाग्जाल बनकर रह गया।

शिक्षण-पद्धति की सदोषता में बहुत दूर तक हाथ आज की परीक्षा-पद्धति का भी है। परीक्षा के घिसे-पिटे, बँधे-बँधाए प्रश्न हैं; चरित्र-चित्रण, शिल्प-विधान, भाषा-शैली, जैसे निश्चित शीर्षकों में गद्य-पद्य, महाकाव्य-खंडकाव्य, नाटक-उपन्यास सबकी आलोचना बैठानी है जो बाज़ारू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नोटों में अनायास उपलब्ध है। स्वभावतः छात्रों में आत्मचिंतन तथा आलोचनात्मक क्षमता का विकास नहीं होता। ●

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता

विश्वनाथ त्रिपाठी

जिसे हम-आप हिन्दी साहित्य कहते हैं वह क्या है? वह हिन्दी प्रदेश यानी मोटे तौर पर हरियाणा से लेकर बिहार और हिमालय की तराइयों से लेकर बुंदेलखण्ड के बीच बसने वाले लोगों के दुख-सुख, उनकी आशा-निराशा या उनकी भावनाओं का इज़हार है। जो लोग भारत के पुराने साहित्य को नहीं जानते या कम जानते हैं। वे साहित्य में आध्यात्मिकता, दूर की उड़ान या लोक से ऊपर का आनन्द ज्यादा ढूंढ़ते और बताते हैं, लेकिन संस्कृत और प्राचीन भाषाओं के सचमुच के विद्वान जानते हैं कि संस्कृत के सबसे प्राचीन काव्य वाल्मीकि रामायण की पहली पंक्ति अपने ज़माने के और इसी दुनिया के इन्सान (कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके) की कथा से शुरू होती है। जानकारों का कहना है कि संत जेने से हज़ारों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए डाकू कवि वाल्मीकि के इस कथन में साहित्य का सिद्धान्त तो है ही, देवताओं और हमारी रोजमर्रा की दुनिया से सम्बन्ध न रखने वालों को आधार बनाकर कुछ लिखने से विद्रोह और इन्कार का भाव भी है।

हिन्दी के बारे में संस्कृत साहित्य की यह चर्चा मैंने जान-बूझकर और एक खास उद्देश्य से की है। हिन्दी के कुछ विद्वानों और खास तौर पर विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षाओं में हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने वाले और पाठ्यक्रम तैयार करने वालों पर एक ग़लत तरह की ज़ेहनियत बुरी तरह हावी है। यह प्रवृत्ति कभी प्राचीनता, कभी संस्कृति, कभी राष्ट्रीयता और कभी शुद्ध साहित्यिकता की दुहाई देती है। लेकिन दिक्कत यह है कि ये लोग प्राचीनता, संस्कृति, राष्ट्रीयता या शुद्ध साहित्यिकता के विश्लेषण से हमेशा बचते और कतराते रहते हैं। विश्लेषण और वैज्ञानिकता के इन दुश्मनों ने हिन्दी को कुछ ऐसी चीज़ बना रखा है मानों वह एक हज़ार वर्षों की उत्तरी भारत की साधारण जनता की आशाओं-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति न हो, मानो वह चौके में छुआछूत बनाए रखने वालों का साहित्य हो, मानों वह सिर्फ 'शाकाहारियों' का साहित्य हो, सिर्फ हिन्दुओं का—और उसमें भी केवल सवर्णों का हो, जैसे उससे और गोरक्षा आन्दोलन से कोई बहुत गहरा लगाव हो, जैसे हिन्दी अपने अलावा भारत की और संसार की सारी भाषाओं की दुश्मन हो। नीयत यह और हौसला हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने और उसे यू० एन० ओ० की भाषाओं में स्थान दिलाने का!

मैं इस हौसले को नहीं, नीयत को ग़लत समझता हूँ। हिन्दी साहित्य का रूप वह नहीं है जैसा कि कुछ लोग, चाहे वे विश्वविद्यालयों के कुछ अध्यापक ही क्यों न हों, पेश कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य वह है जो कि उसका इतिहास है। वह उतना ही विविध, उदार, विद्रोही और आधुनिक है जितना कि हिन्दी क्षेत्र की जनता और उसके लोकप्रिय कवि। यह प्रदेश बुद्ध और महावीर जैसे विद्रोही और प्राणी मात्र की समानता का प्रचार करने वाले अत्यन्त लोकप्रिय धार्मिक नेताओं, नाथों और सिद्धों जैसे वर्णाश्रम-व्यवस्था विरोधी और जात-पाँत की घोर निन्दा करने वालों, कबीर और तुलसीदास जैसे उदारमना संत सूफ़ियों की क्रीड़ा-भूमि रहा है। आधुनिक काल ही में १८५७, १९२०, १९२१, १९४२ के जनान्दोलनों का मुख्य क्षेत्र यही प्रदेश रहा है। क्या इस विपुल-विविध और इतना ज्यादा ऊँच-नीच देखने वाले जन-समूह ने साहित्य के रूप में अपनी जिन भावनाओं को अभिव्यक्त किया है वह ऐसा ही है जैसा कि हिन्दी के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है?

विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में हिन्दी की पढ़ाई के इतिहास पर ग़ौर किया जाए तो एक अजीब तथ्य सामने आता है। हिन्दी में एम० ए० की पढ़ाई १९२० ई० के आस-पास शुरू हुई। तब से लेकर आज़ादी की लड़ाई के दौरान यानी करीब-करीब १९४७ ई० तक विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों ने जो साहित्य लिखा और जो पाठ्यक्रम तैयार किया वह आश्चर्यजनक रूप से लोकवादी (सेकुलर) और प्रगतिशील रहा है। यहाँ विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है, नहीं तो दिखाया जा सकता था कि आधुनिक हिन्दी साहित्य परलोक के स्थान पर इस लोक, ईश्वर की जगह पर मनुष्य और निजीपन की जगह पर सामाजिकता की स्थापना करते हुए जनम ही लेता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माताओं का आग्रह भौतिक विज्ञान पर आज से कहीं ज्यादा दिखलाई पड़ता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी अंग्रेज़ी, बँगला, मराठी, उर्दू पुस्तकों और पत्रिकाओं से वैज्ञानिक लेखों का अनुवाद करके 'सरस्वती' में छापते थे। इस वैज्ञानिक दृष्टि के कारण उनका दिल व दिमाग़ खुला हुआ था। हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं के बारे में इनका क्या दृष्टिकोण था वह उन्हीं के शब्दों से जाना जा सकता है। हिन्दी वालों को उर्दू भाषा और साहित्य का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं—"उर्दू का साहित्य-समूह हिन्दी से बढ़ा-चढ़ा है। इस बात को क़बूल करना ही चाहिए।···उर्दू में इस समय अनेक विषयों के कितने ही ऐसे ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनका नाम तक हिन्दी में नहीं। उर्दू लेखकों में शम्स-उल उलमा हाली, आज़ाद, ज़काउल्ला, नज़ीर अहमद आदि की बराबरी करने वाला हिन्दी में शायद ही कोई हो" (ज्ञान-भारती, पृ० ६६)। इस परम्परा को आगे बढ़ाया पं० रामचन्द्र शुक्ल ने। हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक थे। उन्होंने अपना लेखक जीवन 'माडर्न रिव्यू' और 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में अंग्रेज़ी लेखन से शुरू किया था। हिन्दी का अध्यापक बनने की उन्होंने कितनी तैयारी की थी यह देख लेना चाहिए। चौदह वर्ष की आयु में ही उन्होंने एडिसन के 'ऐसे ऑन इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' नाम से किया था। मेगस्थनीज़ की पुस्तक का अनुवाद 'भारत विवरण' नाम से किया था। एडविन अर्नाल्ड की पुस्तक 'लाइट ऑफ़ एशिया' का छन्दोबद्ध अनुवाद 'बुद्धचरित' नाम से किया था। राखालदास बन्द्योपाध्याय के बँगला उपन्यास 'शशांक' का अनुवाद किया था। एक और पुस्तक का हिन्दी अनुवाद उन्होंने किया था, वह थी जर्मन वैज्ञानिक हैकल की विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'रिडिल ऑफ़ यूनिवर्स'। इस पुस्तक का परिचय देते हुए उन्होंने जो लिखा था वह देखने लायक है—"आज जर्मनी के जगद्विख्यात वैज्ञानिक हैकल की पुस्तक हिन्दी पढ़ने वालों के सामने रखी जाती है। यह अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धान्त ग्रन्थ है···इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें इसके प्रतिवाद में निकलीं।" हैकल की यह अनूदित पुस्तक १५२ पृष्ठों की है। शुक्लजी ने इसकी भूमिका १५५ पृष्ठों की लिखी है। भूमिका की शुरुआत में ही वे लिखते हैं—"जहाँ पहले लोग छोटी-से-छोटी बात के कारण को न पाकर ईश्वर की ओर दौड़ते थे वहाँ चारों ओर विज्ञानों के द्वारा कार्य-कारण की ऐसी कड़ी मौजूद हो गई है कि बीच में ठिकने की कोई ज़रूरत नहीं रह गई।" हिन्दी के इस अध्यापक आलोचक ने यह भूमिका १९२२ ई० में लिखी थी और इस नतीजे पर पहुँचा था कि सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है उनके सम्बन्ध में जो प्राचीन पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ हैं वे अब ढाल-तलवार का काम नहीं कर सकतीं। अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके उस सीमा पर जाएँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं।

यानी इन लोगों ने भौतिक विज्ञान का परिचय प्राप्त करके वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया था। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने साहित्य में दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए थे : साहित्य में लोकमंगल या लोकवादी सिद्धान्तों की स्थापना और प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन। शुक्लजी ने सैद्धान्तिक स्तर पर साहित्य का स्रोत जीवन प्रमाणित किया। इसके लिए उन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्यशास्त्र के आधार पर किन्तु उससे अलग हिन्दी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र की नींव डाली। पुनर्मूल्यांकन में उन्होंने तुलसी और सूर की लोकवादी व्याख्या करके उन्हें साहित्य में फिर से स्थापित किया। सूफ़ी कवि मलिक मुहम्मद जायसी की कविताओं की मार्मिक व्याख्या करके उन्हें हिन्दी का महाकवि ही नहीं सिद्ध किया बल्कि उन मुसलमान सूफ़ी कवियों को, जो अपनी मसनवी अल्लाह, हज़रत मुहम्मद, उनके चारों दोस्तों और शाहे वक्त की वन्दना से शुरू करते हैं—भक्त कवियों की श्रेणी यानी तुलसी, सूर और कबीर की श्रेणी में रखा। जायसी महाकवि के रूप में हर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में रखे गए। भाषाविज्ञान आज भी नवीन विषय समझा जाता है। लेकिन काशी और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में यह विषय सन् '२० के आसपास से ही पढ़ाया जाने लगा।

शुक्लजी की मृत्यु १९४० ई० में हुई और उसी वर्ष शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन के अध्यक्ष पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' निकली। इस पुस्तक की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास को अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के संदर्भ में देखा गया है। हिन्दी साहित्य के विषय में यह एक अकेली पुस्तक है जो ग़ैर हिन्दी वालों को भी ध्यान में रखकर लिखी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई है। इसमें एक तो हिन्दी साहित्य को जनता की संस्कृति और देश के इतिहास के साथ-साथ रखकर देखा गया है, दूसरे इसमें यह बात भी अच्छी तरह और पहली बार दिखाई गई है कि अशिक्षित जनता के रीति-रिवाजों, सामान्य विश्वासों ने ऊँचे-से-ऊँचे साहित्य को भी कितना प्रभावित किया है।

वस्तुतः उस समय हिन्दी के विद्वान अध्यापक आधुनिकता की रोशनी में पुराने साहित्य का पुनर्मूल्यांकन कर रहे थे। द्विवेदीजी ने अपभ्रंश काव्य, आदिकालीन साहित्य और कबीर की भी व्याख्या सामान्य मनुष्य और लोकजीवन के विकास के साथ-साथ की।

इस प्रकार स्वतंत्रता के पूर्व हिन्दी विभाग निश्चित रूप से लोकवादी वैज्ञानिक आधुनिक और प्रगतिशील रहे हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल और द्विवेदीजी दोनों के इतिहास ग्रन्थ पहले क्लास में विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए 'नोट्स' के रूप में तैयार किये गए थे। डॉ० श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' (और उन्हीं का 'भाषा रहस्य' भी) विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखा गया था। इस दृष्टि से देखें तो आज उल्टी स्थिति है। शुक्लजी, द्विवेदीजी, डॉ० श्यामसुन्दरदास के छात्रोपयोगी नोट्स ने साहित्य और साहित्य के इतिहास की नवीन और वैज्ञानिक व्याख्या की है, जबकि आज पत्र-पत्रिकाओं, आकाशवाणी और समृद्ध प्रकाशकों के यहाँ से प्रकाशित ऊँचे दामों वाली चमचमाती हुई किताबें अच्छे विद्यार्थियों के भी काम की नहीं होतीं। बात कहने-सुनने में अजीब लगती है, लेकिन है सच कि स्वतंत्रता के बाद विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों की दृष्टि विशाल बनने के बजाय संकुचित हुई है। जिस क्षेत्र में संकुचित नहीं हुई है वहाँ भी ठहरी हुई है। यह बात ठोस उदाहरणों से साबित की जा सकती है। 'छायावाद' १९४० के पहले तक नया काव्य-आन्दोलन समझा जाता था। प्रसादजी शुक्लजी के समकालीन थे। वे प्रसाद के प्रशंसकों में से न थे लेकिन उस समय का नया महाकाव्य 'कामायनी' उनके विभागाध्यक्ष होते हुए ही पाठ्यक्रम में लगा था। जहाँ तक मुझे पता है आज कहीं भी किसी प्रगतिवादी कवि या अज्ञेय की भी कोई कविता पुस्तक एम० ए० में नहीं लगी है। 'भाषा रहस्य' में अपने समय की भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों को समेट लिया गया है। आज हिन्दी विभागों में भाषाविज्ञान के नाम पर जो पढ़ाया जाता है वह 'भाषा रहस्य' से आगे का नहीं उससे भी पीछे का मालूम पड़ता है। पश्चिमी समालोचना के क्षेत्र में आज भी 'साहित्यालोचन' निर्धारित है। यह नहीं कि आज भाषाविज्ञान या पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्रों में हम आधुनिक बन नहीं सकते। पहले हिन्दी के लोगों को ही हिन्दी में लिखने के लिए अंग्रेज़ी पढ़नी होती थी। आज अंग्रेज़ी साहित्य के ही ऐसे अध्यापकों की कमी नहीं है जो अवसर दिए जाने पर हिन्दी में लिख सकते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० रामअवध द्विवेदी, विजयदेव नारायण साही, प्रकाशचन्द गुप्त अंग्रेज़ी के सफल अध्यापक हैं, आज हिन्दी के विद्यार्थियों को इनसे लाभ उठाने का क्या अवसर दिया जा रहा है? अंग्रेज़ी के अध्यापक अब हिन्दी में लिखने में लज्जा या ग्लानि का अनुभव नहीं करते। उदाहरण के लिए आलोचना के एक अंक में ही अंग्रेज़ी के अध्यापकों—युवा अध्यापकों ने इलियट और नई आलोचना, शिकागो आलोचक और नार्थ्रप फ्राई की आलोचना जैसे नवीन विषयों पर हिन्दी में ही लेख लिखे हैं। लेकिन ज़माना वह है कि पढ़े-लिखे लोगों की ज़ात को अब महापुरुष मुँह नहीं लगाते।

इससे कहीं अधिक चिन्ताजनक स्थिति साहित्य के पाठ्यक्रम और अध्ययन-अध्यापन की है। लगता है जैसे जान-बूझकर हिन्दी साहित्य की विद्रोही और जनवादी परम्परा को नज़रन्दाज़ किया जा रहा हो। अंग्रेज़ी में चासर पढ़ाया जा सकता है किन्तु हिन्दी में स्वयंभू पुष्पदन्त, अब्दुल रहमान जैसे अपभ्रंश के महाकवि नहीं। हालत यह है कि हिन्दी अध्यापकों और विद्यार्थियों की नई पीढ़ी अपभ्रंश साहित्य की अपनी महान् परम्परा से वंचित की जा रही है। परम्परा और संस्कृति की दुहाई देने वाले अपभ्रंश साहित्य, जिसे पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान पुरानी हिन्दी कहते हैं, से कोई प्रेम नहीं दिखाते। क्या कारण है? कारण यह तो नहीं है कि अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य वर्णाश्रम व्यवस्था, कर्मकाण्ड आदि का विरोधी है। क्या यह कारण तो नहीं है कि उसमें "आवागमन तो मेंट नहीं पाता और निर्लज्ज अपने को पंडित कहता है" जैसी पंक्तियाँ हैं। क्या १२वीं शताब्दी के भारत के प्रथम मुसलमान कवि अब्दुल रहमान, जो अपने को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं का मर्मज्ञ कहते हैं, हमारी उपेक्षा के योग्य हैं? क्या उनका नाम देखकर ही हम नहीं जान लेते कि वास्तविक हिन्दी साहित्य के पहले भी भारतीय भाषाओं की साहित्य-रचना में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुसलमानों का हाथ रहा है।

पुराना साहित्य तो पुराना साहित्य, नए साहित्य के प्रति भी हमारा रवैया बहुत दकियानूसी है। नए साहित्यकारों में विश्वविद्यालयों द्वारा सबसे अधिक उपेक्षित निराला रहे हैं। बहुत कहने सुनने पर उनकी कोई कविता रखी भी जाती है तो उनकी एक बहुत पुरानी कविता 'तुम और मैं' जो जीव और ब्रह्म को लेकर लिखी गई है। कुछ विश्वविद्यालयों के एम० ए० पाठ्यक्रम में उनकी सबल कविता 'राम की शक्ति-पूजा' अवश्य निर्धारित है, जो निश्चय ही प्रशंसनीय है, लेकिन पाठ्यक्रम में किसी कविता का रखा जाना जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्वपूर्ण यह है कि कविता की व्याख्या कैसे की जाती है। मुझे इस कविता के पढ़ाए जाने की पद्धति में गहरी जिज्ञासा है क्योंकि अब तक हिन्दी के किसी वरिष्ठ अध्यापक ने 'छायावाद की उपलब्धि' इस सशक्त कविता पर कोई स्वतंत्र लेख भी नहीं लिखा है, जबकि दूसरे कवियों विशेषकर हिन्दी विभागों के दुलारे कवियों मैथिलीशरण गुप्त और सुमित्रानंदन पंत की अनेक अपेक्षाकृत कमज़ोर कृतियों पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखी गई हैं। निराला की अन्य सशक्त कविताएँ जैसे, 'बादल राग' या 'तोड़ती पत्थर', 'सरोज स्मृति' मेरी जानकारी में, कहीं नहीं हैं। नीची कक्षाओं में प्रेमचन्द की भी 'कफ़न', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'नशा', 'ईदगाह', 'दो बैलों की कथा' जैसी कहानियाँ बहुत कम निर्धारित दिखलाई पड़ती हैं। इस मामले में 'बूढ़ी काकी' और 'बड़े घर की बेटी' ही बाज़ी मार ले जाती हैं। यहाँ एक और गम्भीर तथा अत्यन्त चिन्ताजनक खतरे की ओर इशारा करना निहायत जरूरी है। इधर विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापकों का एक ऐसा दल खड़ा हुआ है जो साहित्य को तो इलहाम समझता ही है, आलोचना और अध्यापन को भी इलहाम समझता है और अपने को पढ़ा-लिखा नहीं, प्रतिभाशाली (जीनियस) कहलाने में विश्वास करता है। इनकी एक मान्यता यह है कि हिन्दी के पुराने विद्वान सूफ़ी कवियों की चालाकी को समझ नहीं पाए थे। सूफ़ी कवि कट्टर थे और वे भोली-भाली हिन्दू जनता में इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। मैं इस कथन से ज्यादा खतरनाक साहित्य को समझने-समझाने की इस प्रवृत्ति को समझता हूँ। उनके साहित्य को पढ़-लिखकर उनकी निष्पक्ष आलोचना करने के बजाय उनके उद्देश्य पर फतवे देना कहाँ की आलोचना है। और अगर साहित्य का इतिहास समझने-समझाने की इतनी ही लगन है तो यह भी जान लेना चाहिए कि धर्म समूचे मध्यकालीन साहित्य की प्रेरणा है। सूफ़ी ही नहीं, कबीर, सूर, तुलसी सभी अपने मत का प्रचार एक सीमा तक करते थे।

वस्तुतः हुआ यह है कि स्वतंत्रता के उपरान्त विश्वविद्यालयों के अधिकांश हिन्दी विभाग और अध्यापक, विश्वविद्यालयों की चारदीवारियों में बन्द हो गए हैं। बाहर संसार में ज्ञान-विज्ञान, राजनीति में क्या हो रहा है, इसकी ओर ध्यान देने का उन्हें कोई चाव ही नहीं है। लेकिन साहित्य को समझने-समझाने की दृष्टि भी आखिरकार हमें समाज से मिलती है। रीतिकाल के आलोचक और आधुनिक आलोचक एक ही साहित्य पर अलग-अलग राय क्यों देते हैं? जिसे अर्थ का विस्तार कहा जाता है वह समाज के विकास से ही तो सम्भव होता है। इस संकीर्णता का प्रभाव पाठ्यक्रमों के निर्धारण और अध्यापन पर लाज़िमी तौर पर पड़ा है। पाठ्यक्रम के निर्धारण की समस्या अध्यापकों की सामाजिक चेतना से अलग नहीं है। अच्छी-से-अच्छी कविताएँ भी सफल और सजग अध्यापन के अभाव में अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाएँगी। यह समझना कि विश्वविद्यालय और अध्यापक साहित्य में यथास्थिति बनाए रखने के लिए हैं, गलत और हानिकर है। अध्यापक बढ़ते हुए मानवीय ज्ञान और मानवीय संवेदना का परिचय छात्रों को देने के लिए हैं। विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का सम्पर्क विश्वविद्यालयों के बाहर के सर्जक साहित्यकारों से या तो बिलकुल टूट गया है या बहुत कम रह गया है। साहित्य की रचना और उसके अध्यापन की इस बढ़ती हुई खाई को पाटना आवश्यक है और यह कोई ऐसा मुश्किल काम नहीं है। हमारे छात्र सिर्फ़ विश्वविद्यालयों की ही दुनिया में नहीं रहते हैं। अगर हम नहीं तो वे बाहर की ज़िन्दगी, उसकी संवेदनाओं में ज़रूर साँस लेते हैं। इसके पहले कि वे विश्वविद्यालयों की दमघोंटू दीवारों पर ज़ोर आज़माइश करें हमें ही ताज़ी हवा और नई रोशनी का इन्तज़ाम कर देना चाहिए।

आज हमारी शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य देश में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रचार और प्रसार है। विज्ञान का प्रचार तो वैज्ञानिक ही कर सकते हैं किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रचार साहित्यकार और साहित्य के अध्यापक भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079563

प्रभावशाली ढंग से कर सकते हैं। हमारे देश की आधुनिकता यानी उसकी सर्वांगीण उन्नति में इसके प्रचार और प्रसार की सबसे ज्यादा ज़रूरत है। दबी ज़बान से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी प्रदेश देश का निर्णायक और गत्वरता की क्षमताओं से मुक्त प्रदेश है। यह देश का दुर्भाग्य है कि इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश में अन्धविश्वास, अशिक्षा, प्रतिक्रियावादिता, रूढ़िवादिता भी बहुत ज्यादा है। इससे भी बढ़कर दुर्भाग्य की बात यह है कि अभी तक हिन्दी का नेतृत्व कमोबेश रूढ़िवादी और पुराणपंथी लोगों के ही हाथ में रहा है। इससे हिन्दी की हानि हुई है। अन्य भाषा-भाषियों ने हमारे प्रति एक सन्देह-वादी दृष्टि अपना ली है। इसकी ज़िम्मेदारी केवल राजनैतिक नेताओं पर ही नहीं—विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों पर भी है—उसी सीमा तक जिस सीमा तक उनका प्रभाव समाज पर पड़ता है। हमारे हिन्दी विभाग इस स्थिति को दूर करने में सहायक भी हो सकते हैं—पाठ्य-क्रम और शिक्षा-पद्धति को वैज्ञानिक बनाकर। कैसे ?

अंग्रेज़ी में बी० ए० पास के विद्यार्थियों के लिए 'दि इम्पैक्ट ऑफ़ साइंस ऑन सोसायटी' (बर्ट्रेन्ड रसेल) जैसी पुस्तकें निर्धारित की जाती हैं तो हिन्दी में केवल साहित्य और एक हद तक उबाऊ और घिसा-पिटा साहित्य पढ़ाया जाता है। न जानने वाले पूछेंगे कि हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य कहाँ है ? उत्तर है, राहुलजी का मानव समाज, विश्व की रूपरेखा। राहुलजी के नाम से चिढ़ें तो पं० रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा अनूदित 'विश्व प्रपंच' की भूमिका है। हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य आज से नहीं भारतेन्दु-युग से ही पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहा है। पढ़ने का कष्ट करें तो देखेंगे कि अभावों में संघर्ष करके हिन्दी की सेवा करने वाले लेखक हिन्दी भाषी जन-समुदाय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार करने के लिए छटपटा रहे थे। लेकिन इन लेखों को पाठ्य-पुस्तकों में सम्मिलित कैसे किया जाए ? ढूँढ़ने और परिश्रम करने की फुरसत और इच्छा चाहिए। और भी कई चक्कर हैं। मैंने बी० ए० की अंग्रेज़ी किताब में 'वोलगा से गंगा' की अनूदित कहानी 'प्रभा' पढ़ी थी। हिन्दी के सवाल के लिए कम्यूनिस्ट पार्टी से निष्कासित त्रिपिटिकाचार्य महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का, जिनके पैर ल्यूडर्स ने छुए थे, जो लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में 'बुद्धिस्ट लॉजिक' के लेखक श्चेर्बात्स्की द्वारा निमंत्रित किये गए थे, एक भी लेख हिन्दी के उच्च पाठ्यक्रम में मैंने कहीं नहीं देखा। हिन्दी प्रदेश की सारी विविधताओं, परम्पराओं का प्रतिनिधित्व हिन्दी विभागों को करना चाहिए। इसके साथ-साथ वैज्ञानिकता का सहारा लेकर हमें आगे भी बढ़ना है। काम केवल भूषण, मतिराम, बाबू गुलाबराय और सेठ गोविन्ददास से नहीं चलने का—उन्नति करनी है तो सरहपा, कबीर, मीर, नज़ीर अकबराबादी, निराला, राहुल और रामविलास शर्मा, रसेल भाभा जैसों को साथ लीजिए—नहीं तो विश्वविद्यालयी हिन्दी संयुक्त राष्ट्रसंघ और तमिलनाडु में तो क्या पहुँचेगी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, मध्य प्रदेश, बिहार के भी लोगों की दुश्मन हो जाएगी। हिन्दी साहित्य और होगा, हमारे विभागों का साहित्य और होगा। कामना है कि ऐसा न हो। ●

कविता के अध्यापन की रूढ़ियाँ

परमानन्द श्रीवास्तव

विश्वविद्यालयों में कविता आज के युवकों को ठीक से पढ़ाई जाने लगे—इस तरह कि उनकी कल्पनाशीलता विकसित और जाग्रत हो सके, तो आने वाले समय के निर्माण में उनकी भूमिका कुछ और होगी—पर यह तो हुई आदर्श की बात—स्थितियाँ जैसी हैं, यह उम्मीद नज़र नहीं आती कि आसानी से कविता या साहित्य के अध्यापन की वे रूढ़ियाँ दूर हो सकेंगी जिनका दायरा इतना विस्तृत है कि उसमें आचार्य-अध्यापक और अध्ययन-रत छात्र सभी आ जाते हैं—यही रूढ़ियाँ कविता के विद्यार्थी-पाठक को उसके आन्तरिक संसार में जाने से पहले ही रोक लेती हैं—कविता में शब्दार्थ-सम्बन्धों की निजी विशिष्टता (जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'स्थिर' न होकर 'लचीला' और 'सृजनात्मक' होता है, 'एक और एक' का न होकर 'एक और अपरिमित' का होता है) से परिचित होने से पहले ही अन्य सरलीकृत युक्तियों से उनके प्रति उसकी दिलचस्पी ही समाप्त कर देती हैं। हमारे विश्वविद्यालयों में कविता का अध्यापन जिस दृष्टि-कोण से या कौशल से प्रायः किया जाता है उससे तो अच्छा होगा कि कविता का अध्यापन कुछ दिनों के लिए बन्द कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाय और यही प्रयोग (जब तक उसकी भी अपनी 'शैली' नहीं बन जाती) किया जाय कि कुछ चुनी हुई कविताएँ विद्यार्थी-पाठकों को स्वतः पढ़ने के लिए दी जायँ—सम्भव है अपने-आप उन्हीं कविताओं को पढ़कर वे कुछ दूसरे ढंग के उन अतिरिक्त पूर्वग्रहों से बच जाएँ जो उनकी सर्जनात्मक ग्रहणशीलता के सहज मार्ग में अवरोध उपस्थित करते हैं—उन पूर्वग्रहों से जो वर्ष-प्रतिवर्ष उनके सिर मढ़ दिए जाते रहे हैं। उन पूर्वग्रहों के चलते रचना या भाषा का मर्म तो अप्रासंगिक बना रहता है और 'तर्यौना' शब्द में श्लेष है—वह भी सभंग—इतना ही दिमाग में बचा रहता है।

मध्यकालीन कविता पढ़ाने तक तो ये युक्तियाँ चल भी जाती हैं कि यहाँ वक्रोक्ति है, यहाँ विभावना, यहाँ परिसंख्या या मुद्रा या परिकरांकुर—(हालाँकि यहाँ भी यह देखने की कोशिश कम की जाती है कि अलंकार जैसे उपादान का रस, ध्वनि आदि दूसरे उपादानों से कहाँ और क्या विशिष्ट सम्बन्ध है!)—विद्यार्थियों पर आचार्यत्व का आतंक भी स्थिर ही हो जाता है—आगे की कविता पढ़ाते समय असली मुश्किल पैदा होती है—कुछ ईमानदार व्याख्याता-अध्यापक तो सचमुच 'सांसत' में होते हैं, पूछताछकर काम चलाते हैं और अक्सर उन्हें गलत राय भी मिलती है—इनकी संख्या फिर भी नगण्य होगी—ऐसे मँजे हुए और कुशल खिलाड़ी, अध्यापक अधिक मिलेंगे जो छायावाद की सूक्ष्म अर्थ-छायाओं वाली कविता को भी मनमानी दिशाओं में हाँक ले जाएँगे—जैसे वे अर्थमीमांसा की चिन्ता छोड़कर विद्यार्थियों का ध्यान इस ओर खींचना चाहेंगे कि प्रसाद की कविता में व्यक्तिगत प्रेम का फलाँ पहलू है या महादेवी की कविता में···और नतीजा यह होता है कि विद्यार्थियों के मुक्त ठहाके में कविताओं की पंक्तियाँ और उन्हें समझने-समझाने की दिक्कतें दोनों हवा हो जाती हैं। यह सब बचाव की युक्तियाँ हैं जिन्हें हमारे विश्वविद्यालयों के अभ्यस्त अध्यापक ज्यादातर काम में लाते हैं (हमारे देश के असंख्य महाविद्यालयों में कविता के अध्यापन की अवस्था और भी खराब है जहाँ आश्चर्य नहीं कि राजनीति का अध्येता समय पाकर पंत-महादेवी की कविताएँ भी पढ़ा आता हो)—और कविता के नए या बारीक या गहरे अर्थों के लिए बिलकुल परेशान नहीं होते—पदों की 'सन्दर्भ सहित व्याख्या' बनाने या पूछने के लिए ये युक्तियाँ काफी हैं। यहाँ तक कि कविता की भाषा में जो खास तरह का संगीत है, जो काव्य-पंक्तियों को पढ़ने की लय को नियंत्रित करता है और उन्हें अर्थ देता है—उसे भी वे नजर-अन्दाज कर जाते हैं। उदाहरण के तौर पर विद्यापति की कविता पढ़ानी हो तो उनके लिए सद्यःस्नाता वाले चित्र का बाह्य रूमान ही काफी है—शब्द और शब्द के बीच फिसलता हुआ रूमान—फिर कौन फ़िक्र करता है उस 'देसिल बयना' की जो सौन्दर्य संवेदना के बारीक-से-बारीक उपकरणों से समृद्ध है। इनकी पहचान के बिना विद्यापति की कविता की आन्तरिक सत्ता से साक्षात सम्भव नहीं है—न हो—उनके लिए तो फिसलता रूमान 'कवच' है—अर्थमीमांसा की मुश्किलों से बचाता है। और तो और, अलंकार की हर पल चर्चा करने वाले कितने ही अध्यापक हैं जो 'बिम्ब' शब्द से चौंक उठते हैं—वे 'पृथ्वीराज रासो' की उत्तेजक गतियुक्त बिम्बों वाली पंक्तियाँ पढ़ा जाएँगे और बिम्बधर्मिता से अनजान बने रहेंगे—'चिराग तले अँधेरा'! अपवाद ज़रूर होंगे—ऐसे अध्यापक तो आखिर विश्वविद्यालयों में भी हैं ही, जिनकी रचना की पहचान असंदिग्ध है—कम-से-कम जो इन सवालों से उलझते ज़रूर हैं और विद्यार्थियों को रचना के निजी संसार में लाने के लिए, उन्हें उत्सुक बनाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, पर इस विडम्बना का सामना तो उन्हें करना ही पड़ता है कि अक्सर उनके मार्मिक और अर्थपूर्ण संकेतों पर उनके विद्यार्थी चौंकते हैं—कई-कई सालों से एक ही यांत्रिक प्रभावहीन ढंग से कविता पढ़ते-पढ़ते उनकी काव्यरुचि इतनी बद्ध और सीमित हो जाती है कि—'मेरी भव बाधा हरौ' के तीन-तीन अर्थ तो उन्हें समझ में आते हैं, पर यह संकेत उनके लिए अबूझ रहस्य बना रहता है कि निराला ने यहाँ 'अथवा' जैसे साधारण शब्द का इतना सार्थक, काव्यात्मक प्रयोग किया है—'उसका एक स्वप्न अथवा है'—शब्द जो कविता की दो दुनियाओं को एक-दूसरे से अलग करता है और नियति की विडम्बना को प्रकाशित करता है। अधिकांश विद्यार्थी इन संकेतों को अन्त तक नहीं पकड़ पाते और कुंजियों से ही काम चलाते हैं—वे उत्तीर्ण भी हो ही जाते हैं और कहीं अध्यापक हुए तो कविता की इसी व्यापक हत्या के अभियोग में शामिल हो जाते हैं—कविता की हत्या का यह प्रसंग है तो इतना ही भयानक—यदि इसका असर इस पर देखा जाय कि एक पीढ़ी-की-पीढ़ी किसी तरह की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्जनात्मक चिन्ताशीलता से विमुख कर दी गई है—पर लगता है हमारे विश्वविद्यालयों के अधिकारी और सहृदय विद्वानों ने भी इस स्थिति को स्वाभाविक मान लिया है। आश्चर्य है कि 'आलोचना' इस विषय पर संवाद चलाने जा रही है—पिछले दिनों काव्यभाषा की चर्चा को 'आलोचना' ने जितनी गम्भीरता से प्रस्तुत किया है वह एक अनोखा ही अनुभव है—मुश्किल यह है कि जिन अध्यापकों पर कविता के इस निष्क्रिय या तर्कहीन या सरलीकृत अध्यापन के बहाने होने वाली कविता की बड़े पैमाने पर हत्या का सीधा अभियोग है वे न 'काव्यभाषा' सम्बन्धी बहस से सीखेंगे न इस संवाद से—क्योंकि वे पूर्णतः सन्तुष्ट हैं। वे न पढ़ाते निराला की कविताएँ—कबीर की ही सही, कविता पढ़ाने के लिए मन में थोड़ी खरोंच तो पैदा करते और देखते, कि कबीर की नितान्त सीधी शब्दावली में जो काव्यात्मकता है उसके उपादान क्या हैं—कबीर की उलटबासियों में ही जो काव्य-तत्त्व है उसे वे समझ सकें तो आज के कवि रघुवीरसहाय की 'विडम्बना' भी कल जरूर समझेंगे।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण समस्या कविताओं के चुनाव की भी है। अक्सर विश्वविद्यालयों में ऐसे काव्य-संकलन पढ़ाए जाते हैं जिन्हें देखकर कोफ़्त होती है। इधर कुछ विश्वविद्यालयों का ध्यान इस दिशा में जरूर गया है। हमारे विश्वविद्यालय (गोरखपुर) में भी यह बात उठाई गई है कि अच्छी कविताओं का विश्वविद्यालय का अपना प्रामाणिक संकलन होना चाहिए जिनके चुनाव के पीछे काव्यतत्त्व की दृष्टि, कृतिकार की आंतरिक मानसिकता को सामने लाने की दृष्टि प्रमुख होगी। अच्छा होगा कि ऐसे संकलनों में व्याख्या-टीका के स्थान पर महत्त्वपूर्ण कविताओं की काव्यानुभूति की बनावट, वाक्यगठन, लय का विधान, बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया आदि से सम्बन्धित कुछ विश्लेषणपरक टिप्पणियाँ दी जाएँ—जो उद्देश्य की गम्भीरता के अनुरूप विद्वान् अध्यापकों या लेखकों से लिखायी जाएँ। ऐसे संकलनों की कुंजियों का प्रकाशन सर्वथा निषिद्ध होना चाहिए। साथ ही विश्वविद्यालयों को समय-समय पर ऐसे 'सेमिनार' आदि भी आयोजित करने चाहिए जिनमें कविता के मर्म या कविता की भाषा आदि के सम्बन्ध में अध्यापकों-विद्यार्थियों के बीच मुक्त संवाद सम्भव हो सके।

यह प्रश्न आज अधिक विचारणीय इसलिए भी है कि इन दिनों साहित्य के अध्यापन की दिशा में कहीं थोड़ी-बहुत प्रगति के साथ स्तरीय ह्रास अधिक हुआ है—पहले के आचार्य कम-से-कम शब्दानुशासन के कायल और शब्द या अर्थ में निहित विच्छित्ति या चमत्कार के अन्वेषक थे—अब वह बात भी नहीं रही। शब्द की उपेक्षा हुई तो पूरे काव्यात्मक वाक्यविन्यास की उपेक्षा तो होगी ही। निराला की ये पंक्तियाँ :

स्नेह-निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूं लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।

अर्से से पढ़ाई जा रही हैं—इनके वाक्य-गठन में जो खास तरह की परिवर्तित लय है—लय का विशिष्ट नियंत्रण है—टेक का जिससे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं—दूसरे शब्दों में पंक्तियों के कहीं बीच में ही टूटने में जो 'कविता' है—कितने अध्यापकों का ध्यान उस पर जाता होगा।

स्नेह-निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

इन सीधी-सामान्य उक्तियों में जो 'कविता' है उसे समग्र अवतरण के यथातथ्य बिम्बों से सम्बद्ध मूक पर गहरे दबावों से अलग और अनजान रहकर उपलब्ध करना असम्भव होगा।

अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते,

—यहाँ कितना सार्थक और काव्यात्मक अन्तराल है और वही पूरे अवतरण की अर्थव्यंजना को तीव्रतर बनाता है—यहाँ कविता के पूरे अवसाद को ग्रहण करने का एक ही रास्ता है—इन अन्तरालों की काव्यात्मकता समझने के लिए यथा-स्थान रुकना—यहाँ भाषाशास्त्र और साहित्यशास्त्र का मिला-जुला विवेक उपयोगी होना चाहिए पर यह देखकर आश्चर्य होता है कि कविता में ध्वनि तत्त्व या वाक्य तत्त्व के विशिष्ट गठन के प्रति वे अध्यापक भी उदासीन हैं जो अलग से उसी कक्षा को भाषाविज्ञान पढ़ाते हैं। जब तक 'संदर्भ सहित व्याख्या' पूछने का क्रम समाप्त कर काव्य-प्रक्रिया पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही प्रश्न नहीं पूछे जाते, स्थिति यही रहेगी।

कुछ दिन पहले तक हमारे विश्वविद्यालय में उपाधि कक्षा के विद्यार्थियों को 'राम की शक्तिपूजा'-जैसी लम्बी और विशिष्ट कविता पढ़ाई जाती थी—इस कविता का जो विशाल परिप्रेक्ष्य है, विशाल और नाटकीय संक्रमण या तनाव का आवेग है—जो पढ़ते हुए मन में बेचैनी पैदा करता है, दृष्टि देता है कि संदेह राम के मन में ही नहीं, निराला के मन में भी है – बहुत कोशिश करने पर भी इस कविता का पुनर्सृजन विद्यार्थियों के मन में नहीं हो पाता था। कारण, वही साल-दर-साल की कविता की पढ़ाई से बने हुए संस्कार बाधक होते होंगे। उन्हें बताइए 'हेतुत्प्रेक्षा'—वे हाशिए पर लिख लेंगे पर कविता के अर्थ-संसार में जो छूटी हुई जगहें हैं, एक और दूसरे अर्थ के बीच जो मूक फासले हैं, दूरियाँ हैं, उन्हें वे भला कैसे समझेंगे! काव्यशास्त्र के गम्भीर सवालों से कटे हुए अध्यापकों में नए-पुराने दोनों ही हैं – किसी सर्जनात्मक कृति को जाँचने के लिए काव्यशास्त्रीय उपकरणों का दृष्टि-सम्पन्न उपयोग करने की जैसी आवश्यकता है उसके प्रति सचेत अध्यापकों की संख्या कम-से-कम है। 'सीधे' शब्दों में भी जो स्मृति सम्बन्धों की 'सघनता' होती है उसकी चिन्ता कम अध्यापकों को होगी। 'मैं कोरी आँख निरखता' जैसी पंक्ति वे पढ़ा जाएँगे और 'रिक्तता' जैसी मनोदशा का दबाव न खुद महसूस कर सकेंगे, न करा सकेंगे—कोरा तो कागज़ भी होता है लेकिन जब आँख 'कोरी' होती है तो शून्यता, रिक्तता, भावहीनता, विषादमग्नता की पराकाष्ठा आदि कितनी अर्थच्छायाओं के मिले-जुले विशिष्ट प्रभाव को व्यक्त करती है। इसीलिए मैंने कहा कि एक बार 'शब्दों' पर रुकने की आदत डालनी चाहिए—कविता को आखिर पुराने आचार्यों ने 'शब्द' कहा है—

तिर रही अतृप्ति जलधि में / नीलम की नाव निराली जो नहीं समझेंगे कि 'नीलम की नाव' प्रिय की पुतलियाँ हैं वे भला क्यों समझने लगे कि उसी की आँखें 'अतृप्ति का सागर' भी हो सकती हैं। कविता की भाषिक सर्जनात्मकता के प्रति सचेत हुए बिना यह अनुशासन या विवेक सुलभ नहीं होगा। इस अभ्यास से ही जाना जा सकेगा कि भिन्न वस्तुओं की टकराहट की उत्तेजक चमक से जो तीसरा बिम्ब बनता है उसकी विशिष्ट काव्योपयोगिता क्या है, विशिष्ट शब्दों या ध्वनिविधानों की गुणात्मक पुनरावृत्ति से किस प्रकार की काव्यात्मक अर्थवत्ता उत्पन्न की जाती है, या कविता में विशेषणों का अतिरिक्त प्रयोग किस प्रकार कविता की प्रकृत अर्थ-संवेदना को क्षीण करता है, या रूपकों का व्यवहार कविता को कौन-सा नाटकीय चरित्र देता है, या शब्दों पर विशिष्ट कवियों की व्यक्तिगत छाप कैसी है, या एक ही शब्द की अलग-अलग स्थानों पर योजना अर्थ की दृष्टि से कहाँ अलग है! माना कि कविता की पढ़ाई में रस, अलंकार वक्रोक्ति, रीति, गुण, शब्द-शक्ति आदि का मतलब है। पर इन विभिन्न गुणात्मक उपादानों के आपसी सम्बन्धों का भी तो कुछ खास मतलब होता है—कविता प्रक्रिया है तो इसी अर्थ में—कि ये समस्त उपकरण परस्पर सम्बद्ध या अविच्छिन्न रहकर ही विशिष्ट अर्थवत्ता ग्रहण करते हैं। सपाट, प्रसरणशील, वर्णनात्मक और अनेक प्रकार के बिम्बों के योग से बनने वाली काव्यात्मक शब्दावली पर कविता के अध्यापक विचार नहीं करेंगे तो उन्हें आगे की कविता पढ़ाने में और भी दिक्कत होगी—यदि वे पढ़ाना चाहेंगे। अज्ञेय कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में आ गए हैं और मुक्तिबोध भी हमारे विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में तो शामिल कर लिए गए हैं—अन्यत्र भी कर लिए जाएँगे—यह कहकर मैं कुछ नई कविता की अर्थ-मीमांसा की ज़िम्मेदारी की ओर नहीं, बल्कि कविता की नई अर्थमीमांसा, नई विधि से अर्थमीमांसा की ज़रूरत की ओर ही कविता के अध्येताओं का ध्यान आकर्षित कर रहा हूँ। मुक्तिबोध की कविता को ही नहीं, तुलसी और केशव की कविता को भी नई अर्थमीमांसा की ज़रूरत है।

कविता ऊपर-ऊपर दिखने वाले वाक्यों से अधिक वस्तुओं की अन्तर्योजना में होती है—इसे क्या वे कभी समझेंगे जो 'तर्यौना' के सभंग श्लेष पर ही रीझे और रुके हुए हैं। कलात्मक अभिव्यक्तियों के पीछे संवेदनात्मक उद्देश्य भी छिपे रहते हों, तो इसकी चिन्ता उन्हें क्यों होने लगी! अन्त में यह जोड़ने की ज़रूरत भी समझ में आती है कि कविता की सही समझ की कमी अध्यापकों में ही नहीं (जिन्हें कर्म की बाध्यता से कविता गलत-सही पढ़ानी ही है), बहुत-से गैर-अध्यापकों या शुद्ध रचनाकारों में भी उसी रूप में दिखाई देगी – कविता या भाषा की सृजनशीलता और ऐसी दूसरी समस्याओं से वे भी उतने ही अनासक्त और अनजान पाए जाएँगे—बल्कि बहुत-से अध्यापकों पर तो व्यवहारवादियों के लिए कही हुई यह उक्ति ही लागू की जा सकेगी : 'यह नहीं कि वे गलत हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि यह कि वे ठीक हो सकते थे'—इसलिए समस्या कविता के अध्यापन की ही नहीं, कविता को ठीक से समझने-समझाने की भी है, पूर्वग्रहों से निर्मित कविता सम्बन्धी धारणा में हेर-फेर करने की है। अपने आदर्श रूप में कविता का अध्यापन भी श्रेष्ठ मूल्यांकन की तरह पुनर्सृजन या पुनराविष्कार है—पर वही—आदर्श रूप में !

परिप्रेन्दय का विस्तार

रमेश कुंतल मेघ

गरीब एशियाई भारत के विश्वविद्यालयों की वर्तमान स्थिति चिंतापूर्ण है, तथा उनमें साहित्यिक शिक्षा—विशेष रूप से हिन्दी साहित्य-शिक्षा—की हालत तो दयनीय भी है; और भयानक भी। अभी तो मुझे समझ में नहीं आ रहा है कि शुरू कहाँ से करूँ, और किस सीमा में रहूँ !

हिन्दी साहित्य-शिक्षा के प्रसंग में केवल वर्तमान की बात करने से बहुत-कुछ ऐतिहासिक छूट जायेगा; और आधुनिक विश्वविद्यालयों का ही विवेचन करने पर भारतीय विश्वविद्यालयों के औपनिवेशिक विकास की यंत्रणा का हाशिया गुम हो जायेगा। विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालयी शिक्षा को अलग-अलग कर देने पर भारतीय समाज के संगठन, परिवर्तन और पुनर्जागरण की समझ विलुप्त हो जायेगी। इसलिए मैं विश्वविद्यालयों की थोड़ी ऐतिहासिक भूमिका देने की इजाज़त ज़रूर चाहूँगा।

१९ जुलाई, १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से एक 'एजुकेशनल डिस्पैच' तैयार किया था जिसे **भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा का मैग्ना-चार्टा** अथवा **भारत का बौद्धिक चार्टर** कहा जाता है। वुड-डिस्पैच ने प्राथमिक पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा तक की व्यवस्था की सिफ़ारिश की थी। उसके अनुसार कलकत्ता, बम्बई और मद्रास की प्रेसिडेंसी-नगरियों में विश्वविद्यालय क़ायम किये गये (१८५७) तथा प्रान्तों में पब्लिक इंस्ट्रक्शन विभाग क़ायम किये गए जिनके स्कूल-इंस्पेक्टर स्कूलों का मुआयना करते हैं; ग़ैर-सरकारी स्कूलों को वित्तीय सहायता देते हैं। वुड-डिस्पैच ने ही प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय (संस्कृत, फारसी, अरबी) भाषाओं तथा प्रान्तीय भाषाओं के अग्रवर्ती अध्यापन की सिफ़ारिश की। इसके साथ-साथ उसमें डॉक्टरी (मेडिसिन), इंजीनियरी और क़ानूनी पेशों और प्रशिक्षणों की आवश्यकता भी बताई गई।

सन् १८५७ के ऐक्ट के अनुसार विश्वविद्यालयों की प्रशासिका समितियों में अध्यापक सदस्य नहीं हो सकते थे और गवर्नर-जनरल (बंगाल) तथा गवर्नर (बम्बई और मद्रास) ही कुलपति होते थे। कुलपति ही उपकुलपति को नामज़द करते थे तथा कुछ 'फ़ेलो' भी नियुक्त करते थे। सन् १९०४ के ऐक्ट ने फ़ेलो की संख्या निर्धारित कर दी; तथा 'सिंडिकेट' को सांविधिक-सभा बना दिया। इस समय के बीच कलकत्ता विश्वविद्यालय के महासाम्राज्य को छोटा करने के लिए पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर (१८८२), तथा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी (१८८७) भी स्थापित की गई। अब तक ये पाँचों विश्वविद्यालय केवल कालेजों का **सम्बद्धीकरण** तथा छात्रों का **परीक्षण** करते थे। यह हालत सन् १९१६ तक रही थी।

सन् १९१३ में भारत सरकार के एक प्रस्ताव के अनुसार यह घोषित किया गया कि विश्वविद्यालयों को केवल परीक्षा लेने वाली संकीर्ण संस्थाएँ नहीं रहना है, बल्कि उन्हें **अध्यापन और शोध** भी करना है। अतः प्रत्येक प्रान्त में एक निवासीय विश्वविद्यालय क़ायम करने का प्रस्ताव हुआ। स्वयं केन्द्रीय सरकार ने ढाका (१९२१), अलीगढ़ (१९२०) और बनारस (१९१५) में अध्यापकीय एवं निवासीय विश्वविद्यालय क़ायम किये। फलतः अब विश्वविद्यालय क्षेत्रों में अध्यापकों, छात्रों और शोध-विद्वानों का एक संगम क़ायम हुआ। प्रस्ताव में यह भी कह कहा गया कि विश्वविद्यालयों को अध्यापन-सुविधाएँ विकसित करनी चाहिये, और सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक उन्नति के अनुकूल सामूहिक वातावरण भी बनाना चाहिये। सन् १९१९ में 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन' या 'सैडलर कमीशन' ने माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय-शिक्षा को परस्पर जोड़कर देखा। प्रान्तों में 'इंटर-कक्षा बोर्डों' की स्थापना हुई। सेडलर कमीशन द्वारा प्रस्तावित 'मॉडल' के अनुसार लखनऊ (१९२१) तथा दिल्ली (१९२२) के विश्वविद्यालय क़ायम हुए। इसके अलावा नागपुर (१९-२३), आंध्र (१९२६), आगरा (१९२७), अन्नामलाई (१९२९) तथा पुनर्गठित इलाहाबाद (१९२२) **विश्व-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यालय भी क़ायम हुए। कमीशन ने दो-तीन महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिशें कीं—(i) विश्वविद्यालयों पर सरकार का न्यूनतम नियंत्रण हो; (ii) विश्वविद्यालयी प्रशासन में अध्यापक ज्यादा भाग लें; तथा (iii) उपकुलपति पूरे समय के लिए सवैतनिक नियुक्त हों।

वुड-डिस्पैच, सैडलर कमीशन के बाद 'सर्जेंट रिपोर्ट' (१९४४) महत्त्वपूर्ण रही जिसने युद्धोपरांत भारतीय शिक्षा-विकास पर केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड के रूप में काम किया। सर्जेंट रिपोर्ट ने भारतीय विश्वविद्यालय-व्यवस्था के कई दोष गिनाये—इसमें परीक्षा को अवांछित महत्त्व दिया जाता है; मौलिक चिंतन के बजाय किताबी-रटन्ती पर आग्रह होता है; अध्यापकों तथा छात्रों के बीच निजी संपर्क का अभाव होता है; राज्य उपयुक्त वित्तीय समर्थन नहीं देते जिससे विश्वविद्यालय परीक्षा-फीसों पर आश्रित होते हैं और उनके स्तर गिरते चले जाते हैं; गरीब और योग्य छात्रों की सहायता के लिए कोई योजनाएँ नहीं हैं; तथा अधिक विश्वविद्यालयों की अपेक्षा है।

यह हुई हमारी विश्वविद्यालयी शिक्षा की पुरानी उपनिवेशवादी विरासत, जो एक विदेशी, किन्तु प्रबुद्ध, शक्ति की देन है। यह विरासत मूलरूपेण विश्वविद्यालय से लेकर शिशु-पाठशाला तक व्यक्ति और समाज की पारस्परिकता की उपेक्षा करती है; शिक्षा को सामाजिक दायित्व और सामूहिक रहनी से पृथक् करके मात्र ऊँची **नौकरी** तथा ज्यादा **आमदनी** का आधार बनाती है; ऐसे भद्रलोक (बाबू) या श्रेष्ठजन (बुद्धिजीवी साहब) पैदा करती है जो जनता से विच्छिन्न हो जाते हैं; इत्यादि-इत्यादि।

आज़ादी (१९४७) और गणतंत्र की स्थापना (१९५०) के बाद हमारे विश्वविद्यालयों को आधुनिक बनना था, तथा शिक्षा को सामाजिक। किन्तु राजनैतिक आज़ादी के बाद न तो सामाजिक क्रांति हुई और न ही आर्थिक क्रांति। अतः विश्वविद्यालय बूढ़े अजगरों की तरह सरकते-सरकते चल रहे हैं। आज विश्वविद्यालय और शिक्षा भी समाज का यथारूप लघुवृत्तचित्र उपस्थित कर रहे हैं।

आज़ादी के बाद 'दि यूनिवर्सिटी एजुकेशन कमीशन' (१९४८-४९) ने भी स्वीकार किया कि "भविष्य में विश्वविद्यालयों की योजना **अनिवार्य** प्राथमिक शिक्षा तथा **नई** माध्यमिक शिक्षा के आधार पर बनाई जाए जिसकी सिफ़ारिशें सार्जेंट रिपोर्ट में की गई हैं।" यह कमीशन डॉक्टर राधाकृष्णन् के सभापतित्व में कायम हुआ था। इस कमीशन ने विश्वविद्यालयों के नये दायित्वों और कर्तव्यों को स्पष्ट किया कि उन्हें "राजनीति और प्रशासन, व्यवसाय, उद्योग और वाणिज्य में नेतृत्व प्रदान करना है।" स्पष्ट है कि ये लक्ष्य पूँजीवादी व्यवस्था की आवश्यकताओं की सूचना देते हैं। लेकिन उदार मानवतावाद अथवा स्थापित व्यवस्था के सहिष्णुतावाद की झाँकी भी देते हैं कि "साहित्यिक और तकनीकी, वैज्ञानिक और व्यावसायिक— सभी प्रकार की शिक्षा का लक्ष्य यह हो कि वह देश को जल्दी-से-जल्दी अभावों, बीमारियों और मूढ़ता से आज़ाद कर सके।" कमीशन ने यह चेतावनी भी दी कि विश्वविद्यालयों को उस सामाजिक व्यवस्था को अनदेखा नहीं करना चाहिए जिसके निमित्त वे युवा छात्र-छात्राओं को शिक्षित कर रहे हैं। आज सन् १९६९ में हम एक निरन्तर बहस में पूछ सकते हैं कि इस सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप और स्वधर्म क्या है जिसके लिए हम शिक्षित किये गये हैं। कमीशन ने यह भी कहा कि विश्वविद्यालयी शिक्षा 'समधिकारी सूची' में रखी जानी चाहिए तथा स्नातकोत्तर शिक्षा और शोध के खर्च का ५० प्रतिशत केन्द्र को देना चाहिए। कमीशन ने अंग्रेज़ी की अनिवार्य शिक्षा पर, आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा-का माध्यम बनाने पर भी सहमति प्रकट की।

पंचवर्षीय योजनाओं को लागू करने के काल में ही सन् १९५६ में 'यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन' एक सांविधिक संस्था के रूप में कायम हुआ। यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है। यू० जी० सी०, विभिन्न पाठ्य-विषयों के पाठ्यक्रमों का संशोधन करने के लिए प्रसिद्ध विश्वविद्यालय प्राध्यापकों की कमेटियाँ बनाईं, तथा उनके **आधुनिकीकरण** और **संवर्द्धन** के लिए सुझाव प्राप्त किये। इस बीच [उत्कल (१९४३), सागर (१९४६), राजस्थान (१९४७) को छोड़कर] आज़ादी के बाद लगभग पैंतालीस नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए।

सबसे ताज़ी महत्त्वपूर्ण घटना तो १६ जुलाई १९६४ को 'एजुकेशन कमीशन' की स्थापना है। इसका लक्ष्य एक "**राष्ट्रीय शिक्षा** को लागू करना है जो **राष्ट्रीय जीवन** के सभी क्षेत्रों में योगदान कर सके।" कमीशन ने २९ जून १९६६ में अपनी रिपोर्ट पेश की। इसे 'कोठारी कमीशन' (१९६४-६६) भी कहा गया है। इसने प्राथमिक अवस्था से विश्वविद्यालयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरण तक की शिक्षा के रूपांतरण के लिए ऐसी सिफ़ारिशें कीं जिससे शिक्षा जनता की ज़िन्दगी, आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं पर लागू हो सके; तथा हमारे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का साधन बन सके। तेज़ औद्योगीकरण, खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता, पूरा रोज़गार, और राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक विकास आदि के लिए 'परिवर्तन' ज़रूरी है, यह कमीशन ने स्वीकार किया। यह भी स्वीकार किया गया कि इस परिवर्तन में शिक्षा एक साधन है। अतः भारत सरकार के प्रस्ताव (१४ जुलाई, १९६४) के अनुसार "देश में एक सचमुच प्रजातांत्रिक समाज के निर्माण के लिए, राष्ट्रीय अंतर्ग्रथन और एकता के लिए, आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए शिक्षा की भूमिका" का महत्त्व है। अतः अब शिक्षा को राष्ट्र और जनजीवन से जोड़ने की आवश्यकता प्रकट हो गई है। लेकिन, आज भी सन् १९६९ में, इस दिशा में केवल ऊपरी हेरफेर ही हुए हैं: जैसे किसी क्रम में एक साल जोड़ना या घटाना; एक विषय में कुछ पाठ्यक्रम बढ़ाना या छाँटना; कुछ पाठ्यपुस्तकों को बदलना; अध्यापकों के वेतनमान सुधारना; इत्यादि।

कमीशन ने यह राय भी ज़ाहिर की अंग्रेज़ी के स्थान पर प्रान्तीय भाषाओं में शिक्षा देना महत्त्वपूर्ण तथा अत्यावश्यक है। इसके लिए भारतीय भाषाओं में अपेक्षित साहित्य रचा जाना चाहिये और शिक्षितों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिये। यह भी कहा गया कि जब तक अंग्रेज़ी का स्थान पाने के लिए हिन्दी प्रभावशाली ढंग से विकसित नहीं हो जाती और जब तक वह अ-हिन्दी क्षेत्रों के छात्रों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, तब तक अंग्रेज़ी ही जारी रहे। किन्तु यह बुनियादी सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि अध्यापन (कक्षा में पढ़ाई जाने वाली भाषा) तथा मूल्यांकन (परीक्षा की भाषा) की भाषा एक हो। कमीशन ने एक अन्तिम महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिश यह की कि फ़्रांसीसी, जापानी, स्पेनी, चीनी और रूसी आदि अन्य विश्वभाषाएँ भी सभी विश्वविद्यालयों, कुछ कालेजों तथा चुने हुए स्कूलों में पढ़ाई जायें। कमीशन ने त्रिभाषा-फार्मूले (१९६१) में भी संशोधन करके मातृभाषा या राज्य-भाषा, संघभाषा (हिन्दी) या सहकारी संघभाषा (अंग्रेज़ी) तथा एक अन्य भारतीय भाषा के पढ़ाने का प्रतिपादन किया।

अतः भारतीय विश्वविद्यालयों की यह कहानी भारतीय सामाजिक संगठन के अवरुद्ध स्वरूप की कहानी का सांस्कृतिक प्रतिबिंब है। अगर हम भारतीय विश्वविद्यालयों की आज़ादी के पहले और बाद की दशाओं की तुलना करें तो हमें अतिक्रुद्ध बेकार तरुणों के आंदोलन, उदासीन और बेपरवाह अध्यापकों की पस्तहिम्मती, गुटों और भ्रष्टाचार से खोखले विश्वविद्यालय नज़र आते हैं। आज़ादी के बीस वर्षों की वास्तविक उपलब्धि यही है कि अब विश्वविद्यालय सरकार के नियन्त्रण में हैं, हारे हुए बूढ़े नेता उपकुलपति हैं, विश्वविद्यालय कैम्प में आये दिन विद्रोह और असन्तोष की आग भड़कती है तथा वे पुलिस की गोलियों से लहू-लुहान बने रहते हैं। आज भी युवक विश्वविद्यालयी शिक्षा को बड़ी नौकरियों तथा ऊँची आमदनियों को साधन मानते हैं; आज भी शिक्षा सामाजिक दायित्व से विहीन है और आज भी वह राष्ट्रीय शिक्षा नहीं है [जिसकी हिमायत 'शिक्षा-कमीशन १९६४-६६' ने की है]। इसका विश्लेषण हम आगे करेंगे।

भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में हम कुछ तथ्य विषयांतर करके भी प्रस्तुत करना चाहेंगे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर ऐक्ट १८१३ की तैंतालीसवीं धारा के अनुसार डायरेक्टरों ने भारत के **विद्वान** नेटिवों को प्रोत्साहित करने, तथा **साहित्य** को संवर्धित एवं पुनरुद्धारित करने के लिए एक लाख रुपये का अनुदान दिया। इस राशि से भारतीय क्लासिकल कृतियाँ छापी गईं तथा कलकत्ता में संस्कृत कालेज (१८२४) कायम किया गया। सन् १७८४ में संस्थापित बंगाल की ऐशियाटिक सोसाइटी से लेकर मैकाले के समय तक अरबी और संस्कृत की विद्या को प्रोत्साहित किया गया। भारतीय विद्या की धारा यही थी।

लेकिन इसका विरोध पश्चिमी शिक्षा की धारा के समर्थक कर रहे थे। यदि उनमें से राजा राममोहन राय जैसे आधुनिक भारत का नवारम्भ चाहते थे तो अनेक लोग कम्पनी में नौकरी पाने के लिए अंग्रेज़ी पढ़ना चाहते थे। सन् १८३५ के 'मैकाले नोट' ने भारतीय विद्यावादियों के मुकाबले पश्चिमी शिक्षावादियों को जिता दिया। मार्च १८३५ में गवर्नर-जनरल ने 'भारत के वासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान को प्रोत्साहित करने' की घोषणा की। यह भी घोषणा की कि अनुदान की राशि आगे से प्राचीन कृतियों को छापने में खर्च नहीं की जायेगी; आगे अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जायेगी। अतः विलियम बैंटिक की घोषणा के बाद दो वर्षों में ही बारह नये स्कूल खुल गये जो अंग्रेज़ी के माध्यम से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की शिक्षा देने लगे। अब गरीब छात्र पाठशालाओं में जाने लगे तथा समृद्ध छात्र स्कूलों में। सन् १८३६ में शुरू किये गये हुगली कालेज में तीन दिन के अन्दर बारह सौ छात्रों ने दाखिला लिया। किन्तु 'मैकाले नोट' के बारह साल पहले ही प्रस्तावित संस्कृत कालेज के बाबत राजा राममोहन राय ने लार्ड एमहर्स्ट को लिखा था : "इस पाठशाला से यही उम्मीद की जा सकती है कि यह युवकों के दिमाग व्याकरण की बारीकियों तथा आधिभौतिक भेदों-प्रभेदों से बोझिल बना देगी जिनका व्यावहारिक उपयोग न तो अध्येता के लिए है, और न ही समाज के लिए।··· शिक्षा की संस्कृति-पद्धति नाप-जोखकर इस देश को अंधकार में जकड़े रहेगी।"[१]

यह कितना बड़ा अचम्भा है कि राजा राममोहन राय ने सन् १८२५ में उस सामन्तीय शिक्षा-पद्धति का विरोध किया जो मात्र **साहित्यिक** और **धार्मिक** रही है और जो **आधुनिक** विज्ञान से अछूती है। इस क्रम में 'शिक्षा-कमीशन' (१९६४-६६) ने उस आधुनिक उपनिवेशी अंग्रेज़ी शिक्षा का विरोध किया जो राष्ट्रीय नहीं है, जो जनता के जीवन तथा समाज की उन्नति से जुड़ी नहीं है तथा जो सामाजिक के बजाय व्यक्ति-केन्द्रित है। इसका वास्तविक निष्कर्ष यही निकला कि हमारी शिक्षा-पद्धति सामन्तीय चरण में अन्धकार में जकड़ी थी; उपनिवेशवादी चरण में गुलाम बाबू बनाने का साधन थी, तथा आज़ादी के बाद के चरण में एक श्रेष्ठजनगण का निर्माण करती रही, बेकारों की सेना खड़ी करती रही, तथा सामूहिक जीवन और सामाजिक दायित्व से निरन्तर कटी रही। प्रजातन्त्र के बाईस वर्षों में शिक्षा ने हमें अधिक मानसिक गुलाम बनाया, तथा समाज में व्यक्ति को अधिक नंगा तथा गन्दा किया। आखिरकार हमने ये कीमती ऐतिहासिक बाईस वर्ष गँवा दिये जबकि एशिया के प्रतियोगी गरीब राष्ट्र स्वावलम्बी तथा उन्नत होते गये।

अतएव ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में पहले हमारे विश्वविद्यालयों का प्रकार्य परीक्षाएँ लेना और सम्बद्धीकरण करना था; बाद में निवासीय विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ उनके प्रकार्य अध्यापन और शोध भी हो गए। किन्तु शिक्षा का बुनियादी चरित्र यही रहा कि वह अन्तर्निर्माण करती है, सामाजिक वृद्धि नहीं; उसका काम इन्सान के खाली दिमाग में सूचनाएँ भर देना है जिन्हें वह याद करके परीक्षा के समय उगल दे। वे सूचनाएँ भरने की गलतफहमी को बौद्धिक विकास और स्वतन्त्र चिन्तन की संज्ञा दे रहे हैं। सामान्य मुहावरों में भी विश्वविद्यालय वह जगह मानी जाती है जहाँ पाठ्यक्रम (सिलेबस) पढ़ाया जाता है और परीक्षार्थियों को डिगरियों के लिए तैयार किया जाता है ताकि वे अच्छी नौकरियाँ और ऊँची आमदनी पा सकें। अतः सूचनाओं तथा उनकी उपयोगिता, और आत्मनिष्ठ सार्थकता के बीच खाई चौड़ी होती गई; तथा विश्वविद्यालयों की **सृजनात्मक भूमिका** ओझल होती गई। छात्रों की संख्या में अन्धाधुन्ध वृद्धि और देश में आर्थिक संकट तथा उत्पीड़न का आलम—इन सबने मिलकर विश्वविद्यालयों को एक ओर तो छात्र-विद्रोह का केन्द्र बना दिया है तो दूसरी ओर बौद्धिक पाखण्डों का मठ। अतः विश्वविद्यालय केवल थोड़े अधिक अग्रिम स्कूल-से बन गए हैं। इस दुर्दशा की वजह यह भी रही है कि हमारे आधुनिक विश्वविद्यालयों की स्थापना में तक्षशिला, नालन्दा, वल्लभी की कोई भी परम्परा नहीं शामिल हुई। हमारे बम्बई, इलाहाबाद, कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालयों पर मध्ययुगीन आदर्शों वाले ऑक्सफोर्ड, केम्ब्रिज, पेरिस और पेडुआ के विश्वविद्यालयों की छायाएँ पड़ीं। उन विश्वविद्यालयों ने कुछ ऐसे विचार दिए जिनसे वैज्ञानिक क्रान्ति का रास्ता साफ हुआ; रिफार्मेशन के आविर्भाव को बल मिला। बाद में उन विश्वविद्यालयों ने तर्कशील (रीज़न) की उपासना शुरू की। उन्होंने तर्कशील के युग (Age of Reason) तथा रोमांटिक आन्दोलन के विचारों को मिलाकर तथा निथारकर एक नये रूप का विकास किया—'एकेडेमिक इतिहास'।[१] यहाँ से विश्वविद्यालय अलचीले होते गए। अतः 'एकेडेमिक मानस', 'एकेडेमिक इतिहास' और 'एकेडेमिक स्वतन्त्रता' की भावनाओं का बोलबाला तब हुआ जब विश्वविद्यालयों के इर्द-गिर्द का सारा वातावरण क्रान्तिकारी ढंग से बदलता चला जा रहा था।

हमारे देश में आधुनिक विश्वविद्यालयों की स्थापना ग्रेट ब्रिटेन के 'एकेडेमिक इतिहास' को विकसित करने तथा

१. दे॰ जेम्स एच॰ आर॰ 'Education and Statesmanship in India', पृ॰ ३२।

१. 'The Universities and Education Today', Herbert Butterfield, pp. 27-28; Routledge and Kegan Paul, 1961.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के बिलकुल आरम्भिक वैज्ञानिक ज्ञान को प्रदान करने के लिए हुई। आज सन् १९६९ में जब हम सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलक चरण में हैं और जब 'सामाजिक इतिहास' तथा 'आर्थिक स्वतन्त्रता' की स्थापना हो रही है तब हमारे उपनिवेशवादी रूपधारी विश्वविद्यालय एकेडेमिक मानस, एकेडेमिक स्वतन्त्रता और एकेडेमिक इतिहास की अहंकेन्द्रित दास्तानें बघारते हुए नहीं अघाते। एकेडेमिक मानस की व्यावहारिक खूबी यह है कि वह कल्पना की भूमिका को नामंजूर करने के साथ-साथ समकालीनता के सृजनात्मक धर्म का भी विरोध करता है। अतः मानविकी शास्त्रों तथा साहित्य के क्षेत्र में बाहर से जो शतदल-विकसित समकालीन चिन्तन-धाराएँ विश्वविद्यालयी 'एकेडेमिक इतिहास' पर प्रहार करती हैं, उनकी विधि चाहे जितनी भी उग्र हो, विधेय उत्कर्षधर्मा हैं। हमारे नये विश्वविद्यालय तक आधुनिकता के संस्थान बनने से इन्कार करते रहे हैं। साहित्य के क्षेत्र में तो इस अस्वीकृति के परिणाम बड़े दुर्भाग्यपूर्ण निकले हैं।

हमारे आधुनिक भारत में तकनॉलाजी का ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ रहा है और यह प्रभाव हमारे ग्रामों का 'शहरीकरण' कर रहा है, पिछड़े वर्गों का 'संस्कृतकरण', तथा अगुआ वर्गों का 'पश्चिमीकरण'। हमारे आधुनिक भारत में आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता बढ़ रही है और इसके साथ-साथ सामाजिक असन्तोष फैल रहा है। इसके फलस्वरूप—चार्ल्स स्नो की शब्दावली में—दो पृथक् संस्कृतियों (मानविकी तथा वैज्ञानिक) का अलगाव और बहाव भी शुरू हो गया है। अतएव आज हमारे विश्वविद्यालय दो प्रकार के समाजों (सम्पन्न एवं विपन्न), तथा दो प्रकार की संस्कृतियों (मानविकी एवं वैज्ञानिक) के टकराव के वातावरण में मूर्त रूप से मौजूद हैं। अतः हमारे विश्वविद्यालयों का सैद्धान्तिक आदर्श भी यह नहीं हो सकता कि वे तात्कालिक सामाजिक आन्दोलनों से असंपृक्त होकर अकादमीय विद्वत्ता की ऊँचाइयों के प्रति समर्पित हैं। साहित्यिक विद्वत्ता के भावात्मक एवं सैद्धान्तिक क्षेत्र में तो यह गलतफ़हमी उचित भी आभासित होने लगती है। जिस तरह आज तकनॉलाजी के क्षेत्र में मानविकी में शिक्षित **विशेषज्ञों** को तैयार किया जा रहा है, उसी तरह साहित्य के क्षेत्र में तकनॉलाजी एवं विज्ञान से परिचित **विद्वानों** की भी जरूरत है।

वास्तव में निवासीय विश्वविद्यालय केवल स्कालरों और छात्रों तथा अध्यापकों का समुदाय ही नहीं होता; बल्कि समाज और नगर का बौद्धिक केन्द्र भी होता है। यह स्वायत्त भी होता है अर्थात् राज्य के अंकुश से स्वमुक्त। यहाँ 'एकेडेमिक स्वतन्त्रता' के लिए ही सत्य की तलाश होती है चाहे वह नाज़ियों के नियमों के विरुद्ध हो, या कांग्रेसियों के पोले ढोल में बेसुरी। विश्वविद्यालय 'ज्ञान'—सच्चे ज्ञान—की आकांक्षा की अनवरत चेष्टा हैं। इस पुराने आदर्श को संशोधित करके कहा जा सकता है कि 'विश्वविद्यालय पूर्ण ज्ञान तथा प्रयोगात्मक कौशल के माध्यम से आधुनिक युग का संश्लिष्ट बोध कराते हैं। यह विश्वविद्यालय का एक महान् लक्ष्य है।

ऐसे लक्ष्यों के सामने एकेडेमिक स्वतन्त्रता का विस्तार केवल चिन्तन और शोध में ही नहीं, बल्कि अध्यापन में भी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'छात्र और अध्यापक दोनों की ही वैयक्तिक ज़िन्दगी तथा बौद्धिक हस्ती एकरूप हो गई है।'[1] अतः अगर साहित्य के छात्र और अध्यापक यह कहते हैं कि उनका विषय प्रयोगात्मक तथा व्यावहारिक नहीं है, और वे तकनॉलाजी के आगे आज स्वयं को निरर्थक पाते हैं तो उनकी (तथा मानविकी क्षेत्र में साहित्य की) सार्थकता पाण्डित्य एवं अभिज्ञान के प्रति निरन्तर तीव्रावेश के द्वारा ही खोजी जा सकती है। उनकी क्रियात्मकता आन्तरिक है और यह उनके विषय की विवशता है। किन्तु आज वे भी अपने 'एकेडेमिक मानस' में कल्पना की शक्ति को नामंजूर करते हैं, जबकि साहित्य की विधा में कल्पना एक महत्तम सौन्दर्यविधि है जो यथार्थता को प्रतिबिंबित करती है। इसके बावजूद भी उन्हें तकनॉलाजी के प्रभाव को ग्रहण करना है। एकेडेमिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि हम मध्यकालीन घोंघावसन्त या समकालीन कूपमण्डूक बने रहें। "मूल्य-निर्णयों का स्थगन करने से तटस्थ उदासीनता में पतन हो सकता है; व्यावहारिक कर्म के स्थगन से आलस्य में पतन हो सकता है; तथा बौद्धिक सतर्कता के स्थगन से चुनौती के न्यूरोटिक भय में डूब जाने की आशंका है जो हमारी शक्ति को क्षीण कर सकता है।"[2] निस्सदेन्ह विश्वविद्यालयी

१. 'The Idea of the University', Karl Jaspers, p. 141, Peter Owen, London, 1965.

२. वही, पृष्ठ १३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में हम मूल्यनिर्णयों को स्थगित करके, तरक्कियों के साँप-सीढ़ी वाले व्यावहारिक कर्म करके तथा बौद्धिक सतर्कता का आतंक फैलाकर इसी स्थिति में आ गए हैं। चिंतन और अध्यापन में एकेडेमिक स्वतन्त्रता एक ओर वैयक्तिक ज़िन्दगी तथा बौद्धिक हस्ती की अस्मिता कायम करती है, दूसरी ओर उन ऐतिहासिक शक्तियों की जागरूकता देती है जो हमें तात्कालिक स्वार्थों तथा संकीर्णताओं से मुक्त कर सकें। "एकेडेमिक स्वतन्त्रता का दूसरा तात्पर्य यह है कि छात्र अपने निर्णय के अनुसार शोध करे, और अध्यापक अपने औचित्य के अनुसार पढ़ाये। अंततः 'एकेडेमिक स्वतन्त्रता' तभी ज़िन्दा रह सकती है जब मनीषी और विद्वान उसके अर्थ तथा आदर्श से प्रतिबद्ध हों और उसके लिए भौतिक कुर्बानियाँ भी कर सकें।"[१] अन्यथा वे अध्यापक और बुद्धिजीवी के दर्जे से गिर जाते हैं। अतः 'यूनिवर्सिटी सत्य की खोज करती है'—यह कथन उतना ही एकेडेमिक है जितना एक यूतोपिया। यूनिवर्सिटी बहुत-कुछ करती है और उसमें बहुत-कुछ घटता है। हमें यूनिवर्सिटी के कुछ मिथकों का भंजन करना ही होगा। यह ठीक है कि यूनिवर्सिटी पांडित्य और विज्ञान को अग्रसर करती है बशर्ते कि ये संश्लिष्ट बौद्धिक जीवन तथा व्यावहारिक सामाजिक परिवर्तन का अंग बन जाएँ।

'यूनिवर्सिटी-शिक्षा' की आत्मा के दो अंग हैं : **अध्यापन और शोध**। अगर अध्यापक शोध से श्रीहीन है तब वह मात्र कंकाल है। और अगर शोध अध्यापन से स्वतंत्र है तब वह मात्र मशीनी है। अतः शोधपरक अध्यापन तथा शिक्षित विशेषज्ञ या विज्ञानोन्मुख विद्वान, और सामूहिक चेतना तथा वैयक्तिक विकास की क्षमताओं से युक्त विद्यार्थी—ये आधुनिक विश्वविद्यालय के सार्थक संदर्भ हैं। विश्वविद्यालय के तीन कार्य हैं—**शोध** (रिसर्च), **शिक्षण** (एजुकेशन) और **निर्देशन** (इंस्ट्रक्शन)। विश्वविद्यालय वे संगम हैं जहाँ मानविकी और तकनीकी संस्कृतियों का संगम ज्ञान की एकता प्राप्त कर सकता है। अतः विश्वविद्यालय पूर्ण **ज्ञान** और प्रायोगिक **कौशल** के द्वारा छात्रों के एक व्यवसाय के लिए प्रस्तुत अथवा प्रशिक्षित करते हैं।

विश्वविद्यालय में ही संस्कृति के दो रूप उभरते हैं—वैज्ञानिक अनुशासन तथा विद्वत्तापूर्ण आलोचन। इन दोनों रूपों में जो दृष्टिकोण होता है उसमें एकसूत्रता है अर्थात् वह केवल विशेषीकृत ज्ञान एवं निपुणता के अलावा अहंलीनता का विलोप भी है ताकि निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त हो सके। साहित्य-शिक्षा उदार एवं ललित कलाओं का क्षेत्र है। अतः उसके शैक्षणिक मूल्य प्राकृतिक विज्ञानों के मूल्यों से भिन्न होंगे। पहले क्षेत्र का सांस्कृतिक आदर्श 'मानवतावाद' है, तो दूसरे का 'यथार्थवाद' (व्यापक अर्थों में सत्य की सिद्धि)। किन्तु दोनों ही सामाजिक यथार्थ और प्राकृतिक तथ्यों पर आश्रित हैं। साहित्य-शिक्षा का हाशिया विस्तार पाकर उदार-कलाओं में मिल जाता है और तब उसके अंतर्गत **मानवीय चेतना** तथा **सृजन का इतिहास** शामिल हो जाता है। फलतः मनुष्य (कलाकार और सहृदय), कृतियाँ (पात्र और जनता), और काल (आन्दोलन, शैलियाँ) साहित्यपुरुष का त्रिभंग शरीर हैं। हमारा आधुनिक आदर्श तो यही है कि साहित्य का मानवतावाद विज्ञान के यथार्थवाद को भी अंगीकार कर ले। इसी वरण में आधुनिक औद्योगिक समाज में साहित्य और संस्कृति जीवित भी बच सकती हैं।

हमें इस तथ्य को नहीं भुलाना चाहिए कि साहित्यपठन, साहित्य-रसास्वादन और साहित्य-अध्यापन मूलतःएक प्रयोगात्मक तथा हस्तात्मक (मैनुएल), निरपेक्ष तथा वहिर्मुखी सक्रियताएँ नहीं हैं। इनमें प्रमाणित स्वयंसिद्धि और स्पष्ट (यथारूप) विचारों की प्रधानता नहीं होती। इनमें कलाकार अनंत विधियाँ (शैलियाँ) तथा विविध वास्तविकताएँ (विषयवस्तु) अपने मस्तिष्क से उत्पन्न करता है; तथा छात्र या पाठक या श्रोता इनका अनुभव करता है, तथा इन कल्पनात्मक (प्रतीकात्मक) रूपों की सार्थकता अपने कार्यों तथा व्यवहारों, विचारों तथा भावनाओं, बिंबों तथा यथार्थताओं आदि की अंतर्यात्रा में खोजता है। यही उसकी **चिंतन** की आदत और **विश्लेषण** का प्रशिक्षण है। इसके लिए साहित्य-शिक्षा कहीं किसी प्रकार की भूमिका अदा करती है। क्या वह यह भूमिका अदा करती है ? क्या इस भूमिका की सिद्धि का प्रमाण परीक्षा और परीक्षा में प्राप्तांकों से उत्तीर्णता है ?

इस संक्रांत प्रश्न पर विवाद करने के पहले हम 'सहित्य-शिक्षा' पर कुछ और स्थापनाएँ करना चाहते हैं। विश्वविद्यालयी साहित्य-शिक्षा में अध्यापन और शोध तो शामिल होगा ही, किन्तु साहित्य की कल्पनात्मक क्षमता और निर्देशन

१. 'The Idea of the University' Karl Jaspers, p. 141, Peter Owen, London, 1965.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सृजनात्मक विद्वत्ता भी शामिल होगी। मैं इसे 'विश्व-विद्यालयी साहित्य शिक्षा का चतुरंग' कहता हूँ।

इस चतुरंग का पहला रूप यह है कि साहित्य विश्व-विद्यालय में भाषा-संकाय या कला-फैकल्टी का एक भाग हो जाता है। अतः हिन्दी साहित्य हिन्दी विभाग में पढ़ाया जाता है। हिन्दी विभाग में साहित्य एम० ए० अथवा पी-एच० डी० की डिग्री का विषय होता है। अतः विशाल हिन्दी विषय (सब्जेक्ट) में बदल दिया जाता है जिसे दो वर्षों में पढ़ना पड़ता है।

इस पढ़ाई के लिए पाठ्यक्रम होता है जिसमें कुछ कवि, कुछ कृतियाँ तथा कुछ कालों को चुनकर अध्ययन-अध्यापन होता है। यह निर्धारित चयन 'सिलेबस' है। इसके अनुसार छात्र-छात्राएँ पढ़कर परीक्षा में बैठती हैं और प्रथम, द्वितीय, तृतीय श्रेणी में पास अथवा फेल होती हैं। उन्हें पढ़ाने के लिए अध्यक्ष और प्रोफेसर, रीडर तथा लेक्चरर होते हैं। अतः एक ओर तो हिन्दी साहित्य रूपांतरित होकर हिन्दी का **विषय** बनता है, तो दूसरी ओर इसका अध्यापन एक सीढ़ियों वाले संगठन के तंत्र में जकड़ जाता है।

साहित्य-शिक्षा के परिणामों का पूरक हाशिया समाज में मिलेगा। साहित्य-अध्ययन में उद्योग और विज्ञान दैत्याकार संगठनों वाले शहरों में अपना असर और अपनी प्रतिष्ठा खो चुका है। कुछ पेशेवर लेखकों, वेतनभोगी अध्यापकों तथा पुस्तक-प्रकाशकों को छोड़कर यह हमारे जीवन की **अवस्था** (कंडीशन) नहीं बदल पाता बल्कि जीवन के **गुण** (क्वालिटी) को बदलता है। किन्तु भद्रलोक की संस्कृति की शिक्षा देने वाला हिन्दी सहित्य तो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अप्रचलित हो गया है। साहित्य-शिक्षा अंततोगत्वा वैयक्तिक मूल्यों एवं अंतर्निर्माण से जुड़ी रही है जबकि हिन्दी में एम० ए० या पी-एच० डी० पास व्यक्ति को भी तो जीविका चाहिए और पठित मूल्यों की कसौटी। समाज में जीविका के बजाय बेरोजगारी फैली है, तथा मूल्यों के बजाय पूँजीवादी समाज का शोषण-उत्पीड़न और आत्मनिर्वासन है। अतः उसके पाठ्यक्रम के बिहारी और भूषण, सूरदास और केशवदास, मैथिलीशरण गुप्त और महावीरप्रसाद द्विवेदी उसकी नजर से ओझल होते जाते हैं। फलतः साहित्य-शिक्षा का पाठ्यक्रम पुरानी परंपरा वाला होने के कारण **'झूठ मिथकों'** का खंडन नहीं कर पाता। इसके साथ ही जब इस पुरानी परंपरा वाले पाठ्यक्रम की शास्त्रीय और आध्यात्मिक व्याख्याएँ ही की जाती हैं तब विश्लेषण के औज़ार भी अनुपयोगी हो जाते हैं। इसके अलावा जब साहित्येतिहास के पाठ्य में साहित्य के इतिहास-दर्शन को अस्वीकृत किया जाता है तब हिन्दी साहित्य एक जीवित यात्रा के बजाय शव-साधना बन जाता है। यही नहीं; हिन्दी सहित्य में यत्र-तत्र गुँथे सामाजिक एवं बौद्धिक इतिहास के हाशिये भी सामंतीय दृष्टिकोणों तथा सांप्रदायिक प्रवृत्तियों से परोक्षतया रँग दिये जाते हैं। अतः बाद में समाज में आँखें फाड़कर एक साहित्यार्थी **'झूठे आदर्शों'** को खंडित होते हुए देखता है। अगर वह पहले उनका विरोध करता, तब शायद इतनी निराशा और पस्तहिम्मती नहीं फैलती। अतएव हिन्दी-साहित्य का अध्ययन और अध्यापन हमारे जीवन के गुण को भी नहीं बदल पाता। 'भद्रलोक संस्कृति' और 'झूठे आदर्शों' को ओढ़े हुए जब हम बाहर निकलते हैं तो बेहद अनुपयुक्त, अनाधुनिक, अनुपयोगी और असार्थक साबित होते हैं।

हमारी हिन्दी साहित्य-शिक्षा का विश्वविद्यालयी मॉडल तीसरे दशक में बनारस और इलाहाबाद में तैयार हुआ था। तब उसका लक्ष्य यह बताना था कि हिन्दी साहित्य बहुत प्राचीन है, उसका एक सुदीर्घ इतिहास है, वह हिन्दू जनता की धार्मिक और नैतिक जीवन की भागवत है, वह अंग्रेजी से टक्कर ले सकता है, आदि। अतः पाठ्यक्रम में पचहत्तर प्रतिशत से पचासी प्रतिशत भाग आधुनिक काल और आधुनिक साहित्य से पहले का शामिल हुआ। यही पूर्वाग्रह आज भी कायम है, यद्यपि कहीं-कहीं आधुनिक साहित्य का प्रतिशत पच्चीस से बढ़कर पैंतीस हो गया है। इसलिए सवाल यह उठता है कि पाठ्यक्रम का यह पुराना तथा परंपरागत प्रारूप अभी तक क्यों है? यह तो बदला जा सकता है क्योंकि यह कोई ज्यादा क्रान्तिकारी कदम भी नहीं है। इस अचलता का एक कारण तो यह है कि अधिकांश अध्यक्ष तीसरे दशक की व्यापकता और सनातनी नैतिकता के मुकाबले सातवें दशक की संक्रान्ति और विद्रोह की आधुनिकता को ईमानदारी से स्वीकार नहीं कर पाये। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि आधुनिक साहित्य के पठन और पाठन की प्रवृत्ति और आवश्यकता का पुनर्भव अनुभव नहीं हुआ क्योंकि नई पीढ़ी की साहित्यिक परम्परा से विद्वानों की टोली असहमत है तथा उसका विरोध करती है। इसका अंततोगत्वा कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि पुरानी पीढ़ी के अध्यापकों की रुचियों और संस्कारों में स्थापित स्थर्य और अंधरूढ़ि आ गई है जिससे वे नई संवेदना, आधुनिकताबोध और आत्मनिर्वासिन की फूहड़तापरक तथा अवमानवीयकृत अवस्थाओं की यंत्रणा तथा विद्रोह के प्रति हृदयसंवाद नहीं कर पाते। इस स्थिति में अध्यापकी का पेशा करने वाले अपने पेशे के शब्दकोषों के आधार पर चतुरंग शिक्षा-क्रीड़ा में व्यस्त रहते हैं; किंवा उसमें निमग्न भी रहते हैं। वे आधुनिक विश्लेषण तथा अध्ययन के नये प्रतीक रूपी औज़ारों को इस्तेमाल करने की सूचना तक नहीं पाते। अतः वे एक संकीर्ण शास्त्रीय विवाद के लिए, प्राचीन विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान चर्वित करके, गैर-शास्त्रीय पाठकों के रसबोध तथा मौलिक लेखकों की अभिव्यक्ति की नवीनता से कोसों दूर होते जाते हैं। फलतः विश्वविद्यालयी साहित्य-शिक्षा और बाहरी जीवन में साहित्य-दीक्षा (सृजन और पठन) के बीच संवाद खत्म-सा हो जाता है और एक विरोधी मोर्चा भी कायम-सा हो जाता है। फलतः साहित्य की विश्वविद्यालयी शिक्षा विशुद्ध अध्ययन से आगे नहीं बढ़ पाती और उसकी सामाजिक दीक्षा चटखारे आवेश से अधिक गहरी नहीं हो पाती। नब्बे प्रतिशत का औसत यही है।

तो फिर विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा का असली प्रयोजन क्या है? जिस तरह विज्ञान वैज्ञानिक, मेडिसन डॉक्टर या कानून वकील प्रशिक्षित करता है उसी तरह क्या हिन्दी में एम० ए० अथवा पी-एच० डी० का कोर्स विद्वान, आलोचक या अध्येता तैयार करता है? इसका उत्तर नहीं' है। हम यह जानते हैं कि साहित्यिक विद्वत्ता तथा आलोचना की अंतर्दृष्टि प्रत्येक छात्र या पाठक में नहीं विकसित हो पाती। अतः आलोचना के पाठ्यक्रम में छात्र आलोचनात्मक निर्णय नहीं दे पाते और वे विलक्षण सौंदर्यबोधात्मक संस्पर्शों से तो बिलकुल अछूते और कोरे होकर निकल जाते हैं। विश्वविद्यालयों के हिन्दी या किसी भी भाषा के छात्रों का भारी बहुमत विद्वान, आलोचक और रचयिता नहीं बनता। तो फिर किसी भी भाषा के साहित्य की विश्वविद्यालयी शिक्षा की आवश्यकता ही क्या है, अगर वह छात्रों को किसी पेशे या व्यवसाय के लिए प्रशिक्षित नहीं करती अथवा उनके जीवन्धर अनुभव के नजदीक नहीं होती, अथवा उनकी नई संवेदना को गहरा और सार्थक नहीं बनाती? विशेष रूप से सन् तीस के पहले का हिन्दी-साहित्य हमसे उतना ही दूर है जितना कि नाथों-सिद्धों का साहित्य अथवा वीरगाथाकाल। आज ये पुराने क्लासिक नव छात्रों के किसी भी समसामयिक संदर्भ में सार्थक तथा प्रयुक्त नहीं हो पाते। अतः नए विश्वविद्यालयों के अपेक्षाकृत कमसिन और आधुनिक अध्यक्षों को नया पाठ्यक्रम बनाने में एक सांस्कृतिक उलझन का सामना करना पड़ता है कि वे कितना पुराना छोड़ें तथा कितना नया स्वीकारें। किन्तु यह स्पष्ट है कि नई पीढ़ी के हिन्दी के अध्यापक तथा तरुण छात्र खड़ी बोली से पहले की साहित्यिक धारा को पढ़ने-पढ़ाने से कतराते अथवा घबराते हैं। उन पुरानी साहित्यिक परम्पराओं के मानवमूल्य तथा उपभाषागत मुहावरे आधुनिक समाज और खड़ी बोली के चरण में कम-से-कम प्रामाणिक हो गए हैं। इसका अस्थायी समाधान 'कोठारी-कमीशन' के सुझावों के दायरे में ही हो सकता है अगर हम एक ओर विश्वविद्यालयी हिन्दी-साहित्य की शिक्षा को अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, चीनी, जापानी, रूसी, जर्मन आदि साहित्य तथा भाषा से गूँथें। दूसरी ओर भारत की राज्य भाषाओं के साहित्य से जोड़ें तथा तीसरी ओर सांस्कृतिक और अन्य कला-इतिहासों के संदर्भ में साहित्येतिहास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करें। हमें विकल्पों के प्रश्नपत्रों के लिए इतने ज्यादा विषय चुनने चाहिएँ जिससे छात्र अपनी रुचि और ज्ञान तथा सामर्थ्य को विकसित कर सकें। अभी तक हमारे अधिकांश छात्रों को उर्दू-साहित्य तक का परिचय नहीं है। अभी तक वे जोशीले झूठे आदर्शों और मध्यकालीन मूल्यों के संसार में विभ्रमित हैं। आज भी वे साहित्यिक इतिहास को राष्ट्रीय इतिहास और सांस्कृतिक इतिहास के 'संपूर्ण' से नहीं जोड़ पाए। अभी तक वे अपनी आलोचनात्मक शास्त्रीय पद्धतियों में नव विकसित प्रणालियाँ नहीं शामिल कर सके। अतः हिन्दी साहित्य-शिक्षा भी सम्पूर्ण राष्ट्र के एक सांस्कृतिक जेस्टाल्ट अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के प्रवाह में नहीं बह सकी। फलतः वह कूपजल की तरह स्थिर-सी हो गई है।

तो फिर 'हम साहित्यिक शिक्षा से क्या प्रत्याशा करते हैं?' इसका एक उत्तर ग्राहम ह्यूम ने दिया है : "कुछ लोगों की सर्वोच्च कोटि की विद्वत्ता और निर्णय! किन्तु कुछ लोग कोई समस्या नहीं है। तो फिर उनके लिए क्या करें? जिनकी अविशेषीकृत सामान्य बुद्धि है और जो मानवतावादी शिक्षा के उचित पात्र हैं? हम यह प्रत्याशा करते हैं कि साहित्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा उनकी मानवीय संवेदना और सहानुभूति का दायरा बढ़ाये; उनके वर्ग तथा देश की सीमा से परे उनकी कल्पना का विस्तार करे; उन्हें यह दिखाए कि उनकी समस्याएँ एवं अभिशाप एक व्यापक मानवीय अनुभव के पैटर्न के अंग हैं जो उस वृहत्तर पैटर्न के अन्तर्गत नये अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। ···यह व्यापक रूप से कल्पना और अनुभूतिकी शिक्षा है।··· आवश्यक यह है कि यह शिक्षा अन्य भाषाओं के साथ, इतिहास के साथ और विचारों के इतिहास के साथ गूँथ दी जाय।"[1] हमारा पूरा अनुभव है कि कोई भी साहित्यिक शिक्षा सामान्य छात्रों को यह सब नहीं दे पा रही है। हिन्दी इसका अपवाद नहीं है। किन्तु हमारे प्रसंग में असली सवाल यह है कि क्या हिन्दी की मानविकी (ह्यूमेनिटीज़) की शिक्षा राष्ट्रीय (धर्मनिरपेक्ष और सामाजिक जनता के जीवन के नज़दीक और विभिन्न भाषाओं से गुँथने वाली) है? इससे भी आगे बढ़ें। क्या स्वयं हिन्दी साहित्य **आधुनिक शिक्षा** देने में सक्षम है? क्या यह उस ओर बढ़ रहा है? इसका उत्तर हमारे जीवंत अनुभव ही दे सकते हैं। साहित्यिक शिक्षा ज्ञान, कौशल और रोज़गार तीनों से दूर होती जा रही है।

विश्वविद्यालयी शिक्षा का दूसरा भाग शोध है। विज्ञान के विषयों में यह धारणा है कि बेसिक (सैद्धान्तिक) विज्ञानों में शोध का व्यावहारिक महत्त्व कम है क्योंकि वह उपयोगितावादी नहीं है। इसकी तुलना में साहित्य विषय में शोध या तो किसी ज्ञानक्षेत्र का विस्तार करे, कोई नई व्याख्या करे अथवा किसी नई धारा या नए ग्रन्थ की खोज और विश्लेषण। शोधों की बढ़ती हुई संख्या आज केवल ज्ञानक्षेत्र के विस्तार के बजाय मात्र मात्रात्मक उपलब्ध ज्ञान सामग्री की नकल और संग्रह के पोथे बन चुके हैं। अतः कुछ विश्वविद्यालयों में रिसर्च छात्रों को भी औपचारिक शिक्षण (एम० लिट्) देने की जो योजना बनाई है वह बिलकुल सही है। आज स्नातकोत्तर अध्ययन ही इस दिशा में बढ़ रहा है कि कहीं भी अध्यापक होने के लिए और तरक्की पाने के लिए पी-एच० डी० की डिग्री न्यूनतम योग्यता हो गई है। साथ-साथ यह डिग्री निम्नतम हो रही है। अतः शोध एक जिज्ञासा और नवान्वेषण की भावना से नहीं हो रहे हैं। शोधार्थी विश्लेषण और संश्लेषण की नई विधियों से अपरिचित हैं, वे उन्हीं शीर्षकों को चुनवाना चाहते हैं जिन पर एक ही स्थान में सामग्री मिल जाये और जिनकी प्रकृति विश्लेषणात्मक के बजाय संग्राहक हो; वे स्वयं किसी भी विषय की धारणा नहीं रखते और अपने अधीक्षक चुने गए विषय पर बेसमझे काम शुरू करके जल्दी छुट्टी पाना चाहते हैं; वे किसी भी शोध संस्था तक में अनमने ढंग से जाने को तैयार होते हैं; वे किसी भी प्राचीन विषय पर तथा चुनौती भरे क्षेत्र में कार्य करने को अप्रस्तुत हैं; उनके निर्देशक भी इतने सर्वज्ञ हैं कि अपभ्रंश साहित्य से लेकर अस्तित्ववादी दर्शन तक के विषयों के दर्जनों छात्र उनके अकेले अधीक्षण में रहते हैं; निर्देशक बहुधा स्वयं भी विषय का ज्ञान नहीं रखते और ढाई-तीन वर्ष के बाद टाइप किये गए बारह मसाले को आँखपट्टी बाँधकर 'थीसिस' का सर्टीफिकेट दे देते हैं। आश्चर्य है कि ब्रह्मरूप अधीक्षक के नाम की मुहर की कीमत के कारण उसी थीसिस पर परीक्षक भी सहर्ष डिग्री प्रदान करके बौद्धिक उदारतावाद और राष्ट्रभारती की सेवा का परिचय देते हैं। इस तरह हिन्दी साहित्य-शिक्षा और शोध, दोनों ही मात्रा तथा गुण की दृष्टि से समदर्शी साबित हुए हैं। इसका एक मूल कारण यह है कि निरीक्षक तथा शोधार्थी, दोनों को ही व्यावसायिक प्रशिक्षण नहीं मिला है; दोनों ही व्यक्तिगत ज्ञान और व्यक्तिगत संग्रह पर आश्रित हैं। इसका असर शोधार्थियों पर पड़ता है जिनके दिल, दिमाग़ और हाथ के प्रकार्य पृथक्-पृथक् ही नहीं, परस्पर-विरोधी भी हो जाते हैं। अतः "जितनी नामी मुहर, उतनी निश्चित डिग्री; जितनी घटिया चमचागीरी उतनी बढ़िया नौकरी" का फार्मूला सरेआम लागू है। इसकी कीमत कुछ ईमानदार और स्वतंत्रचेता शोधार्थियों को देनी पड़ता है जो किसी भी गुरु से कान नहीं फुँकवाते अथवा किसी सिद्धगुरु की चरणधूल शिरोधार्य नहीं करते। यह त्रासदी है। किन्तु त्रासदी के लिए तो शर्त ही है कि त्रासद नायक नेक, ईमानदार और चरित्रवान हो जिससे सामाजिक अत्याचार उसे खत्म कर दें। कार्ल जास्पर्स के अनुसार यूनिवर्सिटी मॉडल ऐसा हो जो एक साथ एक व्यावसायिक स्कूल, एक सांस्कृतिक केन्द्र तथा एक शोध-संस्थान हो। शोध के बाबत उन्होंने कहा है कि शोध स्वयं में ज्ञान के सम्पूर्ण में अनुप्रवेश पर, तथा सभी प्रकार के विशेषज्ञों से

१. दे० 'Crisis in Literary Education', in 'Crisis in the Humanities' Ed. by J H. Plumb. Penguin 1964, p. 107.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय के अवसर पर निर्भर करती है। इसके लिए विश्वविद्यालय ज्ञान के अतिरिक्त सहायतार्थों—संग्रहालय, पुस्तकालय, प्रयोगशाला—से सज्जित करती हैं। किन्तु ऐसे गुट और ऐसे निजी रिश्ते बन जाते हैं जिनका अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता।···लेकिन अगर केवल विद्याडबरी और विषयासक्त अध्येता भौतिक सुविधाओं के पीछे ही व्याकुल रहें तो विश्वविद्यालय दरिद्र हो जाता है। यह तब भी दरिद्र हो जाता है, जब वहाँ केवल भाषाविज्ञान होता है, दर्शन नहीं; केवल तकनालॉजी होती है, सिद्धान्त नहीं; अनन्त तथ्य होते हैं, विचार नहीं।"[1]

हिन्दी साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में यह दयनीय हालत तब और भी भयानक और फूहड़ बन जाती है जब हम यह पाते हैं कि कुछ अध्यक्ष और पर्याप्त प्राध्यापक लेखक और श्रेष्ठ आलोचक भी हैं। चलो, मान लो कि बहुसंख्यकों का भेड़ियाधसान है; और कुंजी तथा खुलासे लिखकर दौलत कमाने की भेड़चाल है। लेकिन विश्वविद्यालयों में हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, नलिनविलोचन शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र और रामकुमार वर्मा जैसे कीर्तिलब्ध स्कॉलरों की उपस्थिति भी वहाँ कुछ विशेष नहीं कर सकी!! वे भी नीरस और संकीर्ण शैक्षणिक नित्यचर्या के अनुयायी होते गये। इनमें से कई स्वयं को कभी-कभी निर्वासित अनुभव करते रहे हैं। इन्हें लगता रहा है कि ये अपनी सृजनात्मक स्कॉलरशिप की शक्ति और स्फूर्ति को छात्रों में संप्रेषित करने में असमर्थ रहे हैं। क्या इसके निवारण का कोई रास्ता नहीं है? क्या विशेषज्ञता की सतही छीछालेदर के आगे अन्य ज्ञान-विज्ञानों से कोई एकता स्थापित नहीं हो सकती? इस आधुनिक शैक्षणिक पक्षाघात से विमुक्त होने का एक ही रास्ता है: (१) हिन्दी साहित्य-शिक्षा राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि मानविकीशास्त्रों तथा समाजविज्ञानों से गहरा संपर्क स्थापित करके व्यापक और सृजनात्मक बने; (२) साहित्यालोचन को कम-से-कम सौंदर्यबोधशास्त्र से, तथा कला के सामाजिक इतिहासों से संयुक्त किया जाए; तथा (३) हिन्दी साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में एक नये 'व्यक्ति-आदर्श' की प्रतिष्ठा की जाए जो न तो सामंतीय विद्वान की तरह उत्तरीय, तिलक और धोती से लकलकाता हो; न ही हवानी शर्ट और कसी पतलून पहनकर आधुनिक बनने का पाखंड करता हो; और न ही पुराने बूर्जुआ-संस्कारों में जकड़ा हुआ अपौरुषेय साहित्य की कल्पित संजीवनी और आर्षदृष्टि का कायल हो। यह 'व्यक्तित्व-आदर्श' एक मामूली, संवेदनशील, ज्ञानजिज्ञासु, जागरूक, आत्मनिर्वासित आधुनिक ऐसे मनुष्य का ही हो सकता है जो संकोची हिन्दी छात्रों-अध्यापकों की हीनताग्रंथियों से विमुक्त होगा।

इससे बड़ी दयनीय हालत क्या होगी कि 'हिन्दी वालों' और हिन्दी के अध्यापकों का सामाजिक बिंब आज भी एक पुराने कथावाचक तथा भजनीक का, शास्त्री और पुरोहित का, अथवा एक आधुनिक असामाजिक, घोर नैतिकतावादी, तटस्थतावादी, पवित्र सूरदासवादी का ही बरकरार है। अध्यापकों और पाठ्यक्रम का ही यह असर है कि बहुधा हिन्दी साहित्य के छात्र साहित्येतर गोष्ठी-समाजों में शामिल होने अथवा स्वयं को हिन्दीवाला कहलाने में शर्म और संकोच का अनुभव करते हैं; समाजविज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों के अध्येता हिन्दी-अध्येताओं को 'प्रखर रसालिया' पाते हैं। इस अपमान और हीनता को ओढ़ने-ओढ़ाने वाले अध्यापक भी हैं। बहुधा हिन्दी के छात्र-छात्राओं की यह आरोपित मूढ़ता और यंत्रणा मर्यादा पुरुषोत्तम अध्यापकों के लिए गर्व और हर्ष का विषय बनती है कि उनके विद्यार्थी छात्र असंतोष जैसे क्षणभंगुर रसभंगों; सामाजिक कर्म जैसे राजनैतिक षड्यंत्रों; बौद्धिक वाद-विवाद जैसे अमर्यादित अपराधों; तथा आधुनिक रहन-सहन जैसे अभारतीय कृत्यों में न पड़कर अनन्तम् और आत्मन् की साधना में तल्लीन हैं। वे तो कबीर की तरह श्रीराम के कूकुर हैं। उन्हें हिप्पियों और नक्सलपंथियों से क्या लेना-देना!

विश्वविद्यालयों में हिन्दी छात्र-छात्राओं के पैटर्न भिन्न-भिन्न हैं। मुझे कुछ राज्यों का निजी अनुभव है। मूलरूपेण ये निम्न-मध्यवर्ग के होते हैं जो बनावट और गरीबी, रूढ़ि और असंतोष के बीच घुटते रहते हैं। इनकी तात्कालिक समस्या नौकरी की है, क्योंकि ये छात्र संवेदनशील रोमांस और मिथकीय आदर्शों के इन्द्रजाल से कहीं गहराई पर वशीभूत हुए होते हैं, अतः ये हिन्दी के विषय को चुन लेते हैं। इनमें से अधिकांश पहले अन्य विषयों में दाखिले की कोशिश करते हैं किन्तु उनमें बेहद कमज़ोर होने के कारण, सभी जगह से अस्वीकृत होकर, लाचारी में हिंदी विभाग के अनाथालय में

1. 'The Idea of the University,' pp. 56-57, Peter Owen, London, 1965.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भर्ती होते हैं और 'साहित्य साधना' तथा 'गुरु के आशीर्वाद' जैसे तकियाकलामों से शालीन बनने का स्वांग रचते हैं। ये चापलूसी और चुगलखोरी में संस्कारतः प्रशिक्षित होते हैं। ये राजनैतिक चेतना और सामाजिक कर्म से दूर भागते हैं। इनमें से अधिकांश बचपन में ही विवाहित होते हैं जिससे उनका भावात्मक और मानसिक विकास कुंठाग्रस्त होता है। बहुधा कुछ राज्यों और छोटे विश्वविद्यालयों में एम० ए० (हिन्दी) में दाखिल होने वाले छात्र तक नहीं मिलते हैं। तब स्वयं प्राध्यापक उनके घरों के चक्कर लगाकर उन्हें मुफ्त किताबें, फीस मुआफ़ी, हाज़िरी मुआफ़ी आदि की रियायतें देकर कक्षाएँ 'बनाते' हैं। ऐसी हालत में स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। पंजाब के एक शहर के एक प्रसिद्ध कालेज में इस जुलाई में अर्थशास्त्र में दाखिल होने वाले आवेदक ३६० थे, जबकि हिंदी में केवल पांच। ये आँकड़े एक शोकगाथा का मंगलाचरण हैं। कुल मिलाकर ये बेहद निराश और दिशाहीन होते हैं। छात्राएँ मीरां-सूर-तुलसी या प्रसाद-पंत-निराला के रहस्य-रूमानी प्रभावों से संमोहित होकर आती हैं और दो माहों के भीतर ही कुंजीनुमा अध्यापन पाकर स्वयं साहित्य से विरक्त हो जाती हैं। वे भी अन्त में इसीलिए आती हैं कि अन्य विषयों में या तो वे चल नहीं पातीं अथवा उनमें फेल होती हैं। इसके अलावा उनके अभिभावक इसलिए हिन्दी पढ़वाते हैं कि वे भक्त कवियों वाली भाषा पढ़कर पवित्र कन्या और साध्वी-सती बनी रहेंगी। वे अभी भी यह समझते हैं कि रामायण-गीता की गृह-संस्कृति ही एम० ए० हिन्दी में दुबारा परिपूर्ण होती है। उन्हें 'नदी के द्वीप', 'शेखर : एक जीवनी', 'सुनीता' और 'उर्वशी' के पाठ्यक्रम का अनुमान तक नहीं है। अन्यथा परिवार-नियोजन को उद्धत देश के सत्तर प्रतिशत विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में हिन्दी की एम० ए० ठप्प हो गई होती क्योंकि हिन्दी को 'लड़कियों और युवतियों का विषय' होने का भी सम्मान मिला है। कुछ क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं : जैसे पंजाब में हिन्दी के छात्र-छात्रा बहुत हैं और वे कुछ पश्चिमी ऐटिकेट, नये फैशन तथा सामाजिक स्वतंत्रता की तमीज़ रखते हैं; बिहार के छात्र संकीर्ण जातिवाद और पुराने सिलबिल्ले पहनावे को ही हिन्दी की सेवा का सबूत मानते हैं; उत्तर प्रदेश में हिन्दी छात्र छायावादी रोमांसों में तड़पते हैं किन्तु स्वयं अपनी बहनों को बिना अंगरक्षक के रसोई के पार भी नहीं झाँकने देते। प्रत्येक राज्य के हिन्दी छात्र-छात्राओं की सामाजिक चेतना और सामूहिक आचरण में अल्ट्रा-माडर्न से लेकर अल्ट्रा-पुरातन का अन्तर है। अतः इसका असर पाठ्यक्रम में पुराने साहित्य बनाम नये साहित्य की पढ़ाई पर पड़ता है। वाराणसी के छात्र प्राचीन साहित्य की ओर मुड़ते हैं तो इलाहाबाद के मध्यवर्गीय तरुण छायावादी संस्कारों की ओर, दिल्ली के शास्त्रीय रस तत्त्व की ओर, और चण्डीगढ़ के अत्याधुनिक कहानी की राह की ओर। इसके अलावा इन क्षेत्रों में अपने-अपने आंचलिक लेखकों को शामिल करने की सर्वथा उचित चेतना है जिससे हिन्दी साहित्य हरेक राज्य में स्वतंत्र रूप से उन्नत भी हो रहा है। इतने फैले हुए मानक बटखरों में हम एक छोर पर हिन्दी साहित्य के प्रति पूज्य-भावना पाते हैं, तो बीच में कलात्मक लगाव, तथा दूसरे छोर पर उपयोगितावादी लेन-देन। इनके मेल से ही हम छात्र-छात्राओं के संस्कारों और मनोलोकों को समझकर हिन्दी शिक्षा को सही ढंग से संप्रेषित कर सकते हैं।

छात्रों में सार्थक संप्रेषण के कई रूप हो सकते हैं—मित्रता का रूप, युवक संगठनों का रूप, विवाह का रूप तथा प्रेम का रूप। सौभाग्यवश बेचारी हिन्दी के छात्र-छात्राओं में पहले रूप की प्रधानता है। किन्तु यह संप्रेषण एक सामूहिक कार्य नहीं बन पाता। बौद्धिक परंपरा की निरंतरता का प्रतिनिधित्व 'चिंतन के संप्रदाय' करते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों—सागर, दिल्ली, इलाहाबाद, वाराणसी आदि—में ये संप्रदाय प्रचलित-से हैं। विश्वविद्यालयों में ये वांछनीय होते हैं, बशर्ते इनके अनुवर्ती केवल चापलूस अनुकरण न करें बल्कि अपने गुरु से स्वतंत्र होकर चिंतन करने का सामर्थ्य और समर्थन भी पायें। हिन्दी में अनुकरणमूलक संप्रदाय की प्रधानता उसके सामंतीय आदर्शों का एक बचा हुआ जीवाश्म है। वस्तुतः छात्र इसीलिए विश्वविद्यालय में आता ; कि वह एक 'व्यवसाय' (प्रोफेशन) के लिए प्रस्तुत हो सके। यह उसका उचित मूल प्रयोजन है। इसके लिए व्याख्यान, पाठ्यक्रम, सेमिनार आदि उसकी सहायता करते हैं ताकि वह अपनी कठिनाइयाँ दूर कर सके। इसके लिए उसे पुस्तकों और अन्य सामग्रियों की भी आवश्यकता पड़ती है। यूनिवर्सिटी के छात्र शिशु न होकर वयस्क होते हैं। अतः अपने निर्माण की प्रक्रिया को वे तेज़ और श्रेष्ठ बना सकते हैं अगर वे बौद्धिक तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक जीवन में भाग लें। अतः अगर उनके अध्यापक श्रद्धा-भक्ति के स्थान पर तर्कना और विवाद की क्षमताओं को प्रोत्साहित नहीं करते, अगर उनमें स्वयं भी व्यक्तिगत संवर्धन की आकुलता नहीं होती, अगर विश्वविद्यालय का गठन विद्यार्थियों की कठिनाइयाँ दूर नहीं करता, तो वे बाजारू और घटिया कुंजियों की सहायता से पाठ्यक्रम तैयार करते हैं और सामाजिक जीवन में केवल स्वार्थसिद्धि को ही लक्ष्य मान लेते हैं। यही प्रक्रिया समाज में भी घट रही है। अतः इसका आन्दोलक विरोध नहीं हो पाता।

पुरानी शास्त्रीय साहित्य शिक्षा का 'व्यक्ति आदर्श' एक साधुपुरुष, सहृदय, गृहस्थ का निर्माण था जिसके लिए व्याकरण, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। आज यह बुनियादी माडल खत्म हो चुका है। आज अगर हिन्दी साहित्य-शिक्षा का कोई ध्येय हो सकता है तो वह विद्यार्थी में साहित्याशंसा द्वारा उसकी **संवेदना** (सेंसिबिलिटी) और **प्रत्यक्षीकरण** को प्रशिक्षित करे ताकि वह आधुनिक जीवन की जटिलताओं को झेल सके। मैं बार-बार अनुभव करता हूँ कि यह तभी होगा जब विद्यार्थी झूठे आदर्शों को प्रचंड खंडन द्वारा तहस-नहस कर देगा और प्राचीन रहस्यवादी तथा रीतिकालीन माया से उद्धारित होगा। हमें यह भली-भाँति मालूम है कि छात्र-छात्राओं की बहुसंख्या पेशेवर स्कॉलर, आलोचक, मनीषी और सर्जक नहीं बनेगी; उसे जीविका चाहिये। अतः उसे साहित्य और आडम्बर एक लगते हैं। साहित्य के बहुसंख्यक छात्र हताश और उदासीन हो जाते हैं क्योंकि वे साहित्य में जीवनपर्यन्त अन्तर्लीन होने की स्थिति में नहीं हैं, क्योंकि जो पाठ्यक्रमी साहित्य प्रदान किया जाता है वह उनके लिए अनुपयुक्त है, क्योंकि रटे-रटाये ढंग की आलोचनाएँ और रद्दी व्याख्याएँ उनकी नैसर्गिक रुचियों तक को भद्दा कर देती हैं। फिर हम केवल उन्हें एक ही साहित्य-प्रयोजन बता सकते हैं—मनोरंजन और रसानन्द। जो साहित्य छात्रों के **जीवित अनुभव** से नहीं संपृक्त हो पाता वह उन्हें रस-संप्रदाय और अनपढ़ फायडवाद तो रटा देता है किन्तु उन्हें अन्ततोगत्वा **वैयक्तिक अनुभव** से वंचित रखता है। छात्र दिलफेंक फिल्में देखते हैं, उत्तेजक पाकेटबुक्स पढ़कर गुलशन नन्दा और दत्त भारती, कुशवाहा कान्त और मीना सरकार का यशकार्य बढ़ाते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि परम्परागत हिन्दी साहित्य का जो पाठ्यक्रम उन्हें पढ़ना पड़ता है उसमें से पर्याप्त उनके बोध की परिधि में आज 'असौंदर्यात्मक' है क्योंकि बहुधा पाठ्यपुस्तकें भी तो व्यापार और स्वार्थ के दबावों से निर्धारित की जाती हैं। अतः इसका अकेला इलाज यही है कि हिन्दी वे ही पढ़ें जिन्हें या तो नौकरी की तलाश नहीं है, अथवा जो स्वतन्त्र स्वाध्याय द्वारा साहित्य को कम-से-कम भाषा, इतिहास और दर्शन, समाजशास्त्र-सौंदर्यबोधशास्त्र और मनोविज्ञान से अन्तर्ग्रथित करें। अतः 'सृजनात्मक स्कॉलरशिप' की धारणा ही साहित्य-अध्ययन में आधुनिक तथा सार्थक है।

इसी कड़ी में हिन्दी के अध्यापक आते हैं। हिन्दी-अध्यापन के प्रसंग में वे तीन स्थितियों में होते हैं—(१) विश्वविद्यालय गठन की दृष्टि से वे एक संकाय और उसके डीन के अन्तर्गत एक विभाग के सदस्य होते हैं जिसका एक प्रोफेसर-अध्यक्ष होता है। (२) विभाग में उनकी प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरर, रिसर्च असिस्टेंट आदि की श्रेणियाँ होती हैं। (३) सामान्य अध्यापकों के तौर पर एक विश्वविद्यालय के अध्यापक संघ के वे सदस्य होते हैं जो उनके एकेडेमिक उत्थान, कार्य की दशाओं, नौकरी की शर्तों, अधिकारों और कर्तव्यों आदि को प्रोत्साहित करता है। व्यवसाय के स्तर पर वे ऐच्छिक रूप से 'अखिल भारतीय हिन्दी (प्राध्यापक) परिषद्' के सदस्य भी हो सकते हैं। इन तीनों स्थितियों में शक्ति और कार्यों का विभाजन होता है लेकिन बहुधा समाज में एकाधिकारी व्यवस्थाओं के सुदृढ़ होने के अनुरूप—यह शक्ति और कार्य उच्च पदाधिकारियों में अकेले निर्बाधित केन्द्रीभूत होने की दिशा में बढ़ते जाते हैं। अतः इनका प्रजातांत्रिक ढाँचा अन्दर से निरंकुश तत्त्व वाला हो जाता है। उदा०, हर्बर्ट बटरफील्ड ने 'अमेरिकन हिस्टोरिकल एसोसियेशन' की महान् प्रसभाओं के बाबत कहा है कि वे अक्सर एक मंडी की शक्ल में बदल जाती हैं जहाँ प्रोफेसर अपने रिसर्च छात्रों के लिए नौकरियाँ पकाते हैं। एकसमान विचारों वाले व्यक्तियों का मिलना-जुलना, अधिक ज्यादा एकसमान-विचार पैदा करता है; और हमेशा अचलता तथा अनुदारता का हेतु होता है।[1] इस कड़ी में विभागीय प्राध्यापकों के चयन में सिद्धांततः तो सर्वोत्तम को चुनने का लक्ष्य होता है लेकिन व्यवहारतः उत्कृष्ट को प्रतियोगिता के न्यूरोटिक भय के कारण नहीं

१. दे० 'The University and Education Today,' p. 47.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुना जाता, तथा निकृष्ट को प्रतिष्ठा के कारण अस्वीकृत कर दिया जाता है। फलतः अतिसामान्य चुना जाता है बशर्ते कि वह बुद्धिमान से अधिक वफ़ादार हो; और मर्यादा प्रोफेसर का परमभक्त हनुमान हो। हर विश्वविद्यालय में हिन्दी के शोधछात्रों की एक गणपतिसेना तथा छात्राओं की देवसेना होती है जिसमें पुराने-से-पुराने विनीत छात्र की नियुक्ति का ज्यादा-से-ज्यादा मौरूसी हक बनता जाता है। इससे विश्वविद्यालय में प्रान्तीयतावाद और प्रसादनवाद फैलता जा रहा है। कुछ प्रोफेसर अपने छात्रों के लिए अकादमीय पद तथा पदलाभ दिलाने के कारण दिग्विजयी हो जाते हैं और बृहत्तर भारत में उनके दिग्विजयी अश्व तथा द्वारपाल कूकर तक पूजे जाने लगते हैं। नियुक्ति की लिजलिजी सुविधाजनक तिकड़मों की दास्ताँ एक आधुनिक राजतरंगिणी बन सकती है। किन्तु मूलरूपेण नीति यही है कि एक स्वतन्त्र चिन्तक के बजाय मामूली पढ़न्तू को नियुक्त किया जाए, एक 'बाहरी' के बजाय **अन्दरूनी** (जाति, गुट, प्रान्त वाले) तथा **अपने** (केवट, या हनुमान, विभीषण या अंगद) को नियुक्त किया जाय; तथा अगली पदोन्नति भी सिविल सर्विस के स्वचालित ढंग से स्वतः दे दी जाये। मेक्स वेबर ने इस दुर्दशा से निकालने का सुझाव दिया है कि एक विश्वविद्यालय का डॉक्टर-शोधकर्ता **हमेशा** दूसरे विश्वविद्यालय में ही नियुक्त किया जाये। अतः विश्वविद्यालय की विद्यासमिति भी उन विद्वानों के हाथ का मोहरा हो जाती है जो शक्ति की कामना करते हैं, धन इकट्ठा करना चाहते हैं और अपने सम्पर्कों के मायाजाल को फैलाते-फैलाते अपने गुट का अदृश्य साम्राज्य क़ायम कर लेते हैं जिसमें ऐसी सीढ़ियाँ लगी होती हैं कि अपनी तेज़ प्रज्ञा और मौलिक आलोक के कारण आरती से एक बार उतरा दीपक जीवनपर्यन्त किसी भी प्रभावित विश्वविद्यालय में जगह नहीं पा सकता। गुटों के कारण ज्ञान के सहस्रदीप जलने के बजाय पुस्तक निर्धारण, परीक्षक-नियुक्ति आदि की काजल-लीकें लगती-फिसलती जाती हैं और अनेकानेक अध्यापक साल में दस-बारह हज़ार रुपयों तक की आमदनी कर लेते हैं। उनके घरों में किताबें नहीं होतीं, किन्तु कुछ ही वर्षों में एक कोठी बनने लगती है, भारी बीमा पालिसियाँ ली जाती हैं और ज्ञान-पदलाभ की प्रतीक एम्बेसेडर मोटर दरवाज़े पर चिंघाड़ने लगती है। यह एक आम बात है। लेकिन इसके भागवत में नवों रस हैं। अतः विश्वविद्यालयों में बौद्धिक और दार्शनिक वादविवाद का स्वतन्त्र सम्प्रेषण नहीं हो पाता। उसके स्थान पर दो विरोधी शख्सियतों के लड़ाई-झगड़े तथा थुक्का-फज़ीहतें शुरू होती हैं जिससे साहित्यकारों के व्यक्तित्व के प्रभामंडल झरते जाते हैं। ईर्ष्या और विद्वेष से अनेकानेक हिन्दी-विभागों का वातावरण फदक और भभक रहा है। यह सब अभिनय इसलिए ज्यादा नंगा हो गया है कि उच्चतर शिक्षा की वृद्धि के कारण नौकरियों की संख्या बढ़ी है और इसके साथ ही सुयोग्य प्रशिक्षित स्कॉलरों की कमी हुई है जिससे अनेक संकीर्ण आधारों पर चुनाव किया जाता है ताकि जातिनेता, गुटनेता, गुरुनेता की गद्दी न डगमगाये। ऐसी हालत में कई रचनात्मक अध्यापक तथा कुछ प्रोफेसर भी अत्यन्त उत्पीड़ित रहते हैं। कभी-कभी तो योग्य प्रोफेसर भी केवलमात्र अपने घोंसलों—अर्थात् विश्वविद्यालय के अपने सिलेबस—में ही प्रवीण और दक्ष होते हैं। उनमें फ़ुरतीलापन तथा अनुकूलनशीलता गायब हो जाती है। जब समाज की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप पाठ्यक्रम बदलने की आवाज़ उठती है तब उसको कुचल दिया जाता है। यह स्पष्ट है कि नये पाठ्यक्रम की स्वीकृति का मतलब नये ढंग से पढ़ाना भी है; और इसके लिए नये बोध वाले अध्यापक चाहिये। यह नहीं; यह नहीं; यह नहीं। अतएव पाठ्यक्रम नया नहीं हो सकता; उसमें थोड़ा-बहुत ढाँचा परिवर्तन ज़रूर किया जा सकता है। फलतः विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य-शिक्षा का नवीकरण और आधुनिकीकरण नहीं हो पाया। देश में भी तो समाज-गठन का आधुनिकीकरण और नवीकरण नहीं हो पाया। अब दोनों साथ-साथ ही होंगे।

अन्तिम बात अध्यापन-विधियों की है।

हमारे विश्वविद्यालय परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ हैं। अतः वहाँ हज़ारों विद्यार्थियों के मस्तिष्कों को सूचनाओं से भर दिया जाता है जिससे यह गलतफहमी भी फैलती है कि उनकी बुद्धि का स्वतन्त्र विकास हो रहा है। यह मानो साहित्य के एक छात्र को 'अन्धकार का बालक' बना देना है। "अगर उसे पढ़ना सिखाया गया है तो विद्यालय को इस बात की चिन्ता नहीं है कि वह महाग्रंथों का पाठक बनेगा या रद्दी साहित्य में रुचि लेगा। अगर उसे केवल परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त करने के लिए समुचित ढंग से शिक्षा दी गई है—जो परीक्षा न न्यायसिद्ध है और न विश्वसनीय—तो यह शिक्षा का काम नहीं होता कि उससे पूछे कि वह ईमानदार एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्चा, समाज का सहयोगी एवं सहायक बना है कि नहीं, या कला और प्रकृति में कोई सौन्दर्य देख सकता है या नहीं, जिस पूर्ण इकाई का वह एक अंश-मात्र है, उसके हित के लिए वह अपने क्षुद्र स्वार्थों का बलिदान करने में समर्थ हो सकेगा या नहीं।"[1] वस्तुतः साहित्य की शिक्षा स्वशिक्षा है जो संवेदना को गहरा तथा प्रत्यक्षीकरण को व्यापक बनाती है। अतः यह मनोसौंदर्यात्मक अन्तर्लोक को समृद्ध बना सकती है। यह शिक्षा आत्मनिर्माण करती है। अतः इसके सामाजिक प्रयोजन आनुषंगिक हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य-शिक्षा अनुभूति, संवेदना और चिंतन की शिक्षा है जिसमें हृदय और मस्तिष्क का संयोग है किन्तु हाथ अपेक्षाकृत अजानुबाहु बनकर कटे-से लटके हैं। इसके अलावा यह भी सच है कि परीक्षा के प्रयोजन के लिए हर बुनियादी अध्ययन भ्रष्ट और भ्रान्त हो जाता है। इससे बड़ा सत्य यह है कि शिक्षा के घेरे में हिन्दी 'साहित्य' एक पाठ्यक्रम' (सिलेबस) का खंड रूप बन जाता है जिसमें साहित्यिक पाठ (टैक्स्ट) तथा आलोचनापरक टिप्पणियाँ (नोट्स) होते हैं जिनका स्वरूप प्रश्नोत्तरी वाला होता है। इसलिए तथ्यों को याद करना (परीक्षा) तथा अनुभव को भोगना (एस्थेटिक) : ये दोनों नितांत भिन्न हैं। हम यह कैसे पता लगा सकते हैं कि साहित्य ने छात्र पर कैसा तथा कितना गहरा असर डाला है, जब बाहर दुनिया में आते ही उसकी सारी शिक्षा की बारीकियाँ अनुपयुक्त तथा अनुपयोगी साबित हो जाने के जोखिमों से भरपूर होती हैं। फिर भी साहित्य की शिक्षा क. सम्बन्ध मूलतः 'भाषा' से है। अतः हमें निम्न प्रकार के भाषा-प्रयोगों का भेद करना पड़ेगा—

(क) भाषा के व्यवहार अर्थात् वाक्य-रचना और व्याकरण का ज्ञान;

(ख) तार्किक वाक्यों के अर्थों का ज्ञान तथा व्यवहार;

(ग) कविता के काल्पनिक सत्यों को समझने की क्षमता;

(घ) व्यक्तिगत अनुभूति और भावना की महीन भाषा की अभिव्यंजना (व्याख्याएँ);

(ङ) विश्लेषण और स्थापन में अनालंकृत भाषा के प्रयोग की शक्ति; और

(च) दैनिक भाषा (उपन्यास, नाटक) में तथ्यों अर्थों और अभिप्रायों की भावक शक्ति का प्रज्ञान;

अतः साहित्यिक शिक्षा में कम-से-कम **भाषा-व्यवहार** और **संप्रेषण-व्यापार** की शर्तें तो अनिवार्य हैं। भाषा की उपयुक्त शक्तियों का संस्पर्श करके ही कोई छात्र तथ्यों को चतुराई से याद करने (परीक्षा) से आगे अनुभव का भोग (एस्थेटिक्स) करके ईमानदार तथा सच्चा बन सकता है। साहित्य का आकृतिबंध ही ऐसा होता है कि वह सैद्धान्तिक सक्रियता-प्रधान है तथा भाषा की लीलाओं से शोभन है। आज जब हम सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं तब एक 'राष्ट्रीय शिक्षा' की भी याद आ रही है ('एजुकेशन-कमीशन' १९६४-६६)। अतः सामाजिक गठन और शैक्षणिक गठन परस्पर प्रतिबिंब हैं। हर प्रकार के शिक्षण में 'आदर' एक आधिकारिक तत्त्व है जिसका ईमानदारी और सच्चाई के परिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्र चिन्तन की सिद्धि होती है।

हिन्दी साहित्य की विश्वविद्यालयी शिक्षा में भी निर्देशन के कुछ रूप हैं—

व्याख्यान (लेक्चर), ट्यूटोरियल परिसंवाद (सेमिनार), और वादविवाद (डिस्कशन) आदि। यहाँ ये चार अध्यापन-विधियाँ ही प्रमुख हैं। स्नातकोत्तर हिन्दी में व्याख्यान और परिसंवाद प्रणाली ही प्रमुख हैं।

जब अध्यापक का छात्रों से अनुपात बहुत कम होता है (जैसे बी० ए० की कक्षाएँ) तब व्याख्यान-प्रणाली उचित होती है। इसमें छात्र निष्क्रिय श्रोता बन जाते हैं तथा उन्हें पकी-पकाई खीर खाने की ऐसी आदत पड़ जाती है कि वे **सुनने** के बजाय सब-कुछ **लिखने** लगते हैं और बाद का **पढ़ना** बन्द कर देते हैं। इससे छात्र न तो आपस में और न ही अपने अध्यापक से, विचारों का आदान-प्रदान कर पाते हैं, अगर बाद में वादविवाद के लिए समय या अवसर न दिये जाएँ। बहुधा घटिया व्याख्यानों से छात्र ऊब जाते हैं क्योंकि पुस्तकों में—कभी-कभी तो कुंजियों तक में—उनसे अच्छी सामग्री होती है। अक्सर यह भी होता है कि व्याख्यानों में हर साल एक ही अपरिवर्तित मुर्दा सामग्री की लाश का डिक्टेशन दिया जाने लगता है। अतः व्याख्यान एक महाजड़ श्रुतलेख में बदल जाता है जिसमें किसी भी प्रकार का नया ज्ञान न तो जोड़ा जाता है, और न ही पुराना ज्ञान छोड़ा जाता है। जब तक

१. डॉ० ज़ाकिर हुसैन, 'भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण', पृ० १६, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, १९६१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्यान अध्यापक की जीवनपर्यन्त साधना तथा सृजनात्मक स्कॉलरशिप के अंग नहीं होते, तब तक वे रद्दी, बेहूदा और कूपमंडूक होते हैं; तब वे समकालीन बौद्धिक जीवन से विच्छिन्न हो जाते हैं। बहुधा होता यह है कि कुंजियाँ लिखने, परीक्षक बनने, कमेटियों में चुनाव लड़ने और स्वार्थ साधने वाले अध्यापकों को व्याख्यान तैयार करने अथवा स्वाध्याय करने का मौका ही नहीं मिलता। अत: वे एम० ए० कक्षाओं के उन पत्रों के नोट्स किसी एक गर्मी की छुट्टी में ले लेते हैं जो उन्होंने पढ़ाने हैं। वे उन्हें प्रश्न-पत्रों के आधार पर प्रश्नोत्तर रूप में तैयार करते हैं। उन प्रश्नोत्तरों का विस्तार तथा संख्या इतनी नपी-तुली होती है कि पूरा कोर्स 'कवर' हो जाए तथा पिटे-पिटाये ढंग से पूरा साल भी बीत जाए। कभी-कभी हरफनमौला अध्यापक एम० ए० की उत्तर-पुस्तिकाओं से सर्वोत्तम उत्तरों की नकल कर लेते हैं और फिर उन्हें सालों तक डिक्टेट कराते रहते हैं। इस तरह दस वर्षों तक विभिन्न प्रश्न-पत्रों का परीक्षक बनने वाला प्रकाण्ड अध्यापक बड़ी ही शान और सम्मान से, पूरे आत्मविश्वास के साथ ठेंगा दिखाते हुए, आठों पत्रों को पढ़ाने का दावा करता है। ये व्याख्यान के कुछ रामबाण और तावीज़ हैं। इसी विधि से पच्चीस वर्ष का एक युवा अध्यापक छब्बीसवें वर्ष से ही ताउम्र पूरे वेतन को पेंशन रूप में पाने के काबिल हो जाता है। ऐसी मंज़रकशी में सूफ़ी बने हुए छात्र भी हैं जो 'कामायनी' के केवल वही सर्ग पढ़ेंगे जो पाठ्यक्रम में हैं; निराला की निर्धारित कविताओं में से भी केवल उन्हीं कविताओं की व्याख्याएँ रटेंगे जो 'इम्पार्टेंट' हैं; तथा प्रेमचन्द के निर्धारित उपन्यास का अकेला वही एक प्रश्न तैयार करेंगे जो इस साल प्रश्न-पत्र में पूछा जाने वाला है। उन्हें 'सम्पूर्ण कामायनी' का ज्ञान नहीं है; निराला के छायावदोत्तर कृतित्व से परिचय नहीं है; तथा प्रेमचन्द के निर्धारित उपन्यास के अलावा किसी भी अन्य उपन्यास का नाम तक नहीं मालम। ऐसे बहुसंख्यक छात्र-छात्राएँ तक अच्छी द्वितीय श्रेणी में एम० ए० में उत्तीर्ण होने के बाद हिन्दी साहित्य में मुक्तिबोध या निर्मल वर्मा, कुबेरनाथराय या ज्ञानरंजन, कुमार विमल या राजकमल चौधरी का नाम पहली बार सुनकर चौंकते हैं, मुँह बनाते हैं और नौसिखिये आचार्य की अवधूत मुद्रा में डगमग पाँव हिलाने लगते हैं। महाकाल का अंधेर तो तब होता है जब वे दो वर्षों में व्याख्यानों के दौरान एक भी लघुपत्रिका का दर्शनह न कर पाते, एक भी नये लेखक का नाम नहीं सुन पाते, और एक भी उत्तेजक संवाद में अध्यापक तथा लेखक को आमने-सामने टकराते हुए नहीं देख पाते। इसी तरह बाहरी टुटपूंजिये लेखक हिन्दी साहित्य की दीर्घ परम्परा को बिना जाने ही उसकी तथा विद्वान अध्यापकों की भर्त्सना करते हैं। उनके मनोजन्मा काल्पनिक पाठक कहीं नहीं हैं। मेरे सनम, वास्तविक पाठक तो ये ही हैं! और इनकी अर्थात् हमारी हालत ऐसी खस्ता है। आम पाठक तो जासूसी और रोमानी, बिस्तरी और सफ़री अफ़साने पढ़ता है। अत: टुटपूंजिये लेखक टुटपूंजिये आलोचकों को गाली देते हैं; टुटपूंजिये आलोचक मूढ़मति छात्रों को कोसते हैं; बेचारे बेचैन छात्र बौद्धिक पाखंड का भण्डाफोड़ करते हैं। अंततः सभी टुटपूंजिये निकलते हैं। एक लेखक और एक अध्यापक के बोध में पचास वर्ष का अन्तर है तो एक अध्यापक और छात्र के बोध में एक पीढ़ी का। कई जगह तो नए लेखक भी अध्यापक हैं। वे ही कौन-सा चाँद तोड़ लाते हैं। पहाड़ खोदते-खोदते अन्ततः वे इतने सिकुड़ते जाते हैं कि स्वयं चुहिया लगने लगते हैं। निष्कर्ष यही है कि नकलटीपू व्याख्यान-प्रणाली पाठ्य-उद्धरणों में संवेदना को जागृत नहीं कर पाती, तथा आलोचना में तार्किक शक्ति को प्रबुद्ध नहीं कर पाती। फलतः छात्र 'भाषा' की पूर्ववर्णित पंक्तियों से अछूते रह जाते हैं; साहित्य का भोग तथा बोध तो बहुत बाद की बात है। नतीजा यही है कि हम सब अलीबाबा के चालीस यार हैं।

दूसरी प्रणाली वाद-विवाद (डिबेट) की हो सकती है। बहस के द्वारा संप्रेषण सीधा और चिन्तनात्मक होता है। इस प्रणाली में ज्योंही हमारी स्थापना पर प्रश्न किया जाता है त्योंही तुरन्त संप्रेषण शुरू हो जाता है। इसमें अध्यापक और छात्र एक साथ वक्ता, श्रोता तथा सहभोगी होते हैं। इसके अन्त में हम कुछ बहुमान्य या सर्वसम्मत निर्णयों को प्राप्त करते हैं। इस प्रणाली में प्रतिरोधी को पछाड़ने का निष्कपट उछाह होता है। किन्तु ईर्ष्या या प्रतिष्ठा, विद्वेष या अहंकार की गाँठें जब तड़ातड़ टूटकर खुलती हैं तब वाद-विवाद की प्रणाली लफ्फ़ाज़ी, हठधर्मिता तथा दुराग्रह में डूब जाती है। वाद-विवाद का अनुशासन समाज-विज्ञानों के अध्यापन में ज्यादा उन्नत है क्योंकि वहाँ कुछ निरपेक्ष आधार हैं, कुछ बाह्य-निष्ठ कसौटियाँ हैं तथा कुछ स्वीकृत सिद्धांत हैं। किन्तु साहित्य के आधार मूलतः निजी अनुभूतियाँ हैं, कसौटियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रीय हैं, तथा सिद्धान्तों से बहुव्यापी असहमति है। हिन्दी में श्रद्धा का आतंक और चापलूसी का संत्रास इतना प्रचंड है कि छात्र अध्यापक के सामने तथा अध्यापक अध्यक्ष के सामने, पालतू तोता या भीगी बिल्ली बन जाता है। अतः स्वभावतः अनंत विवाद का सुखान्त होता है और हमेशा ही क्रमशः प्राध्यापक, रीडर, अध्यक्ष ही विजयी होता है। इसका कारण यह है कि विवाद का 'सामूहिक कार्य' चिंतन के एक सम्प्रदाय का कोरा अनुकरण बन जाता है। इस प्रणाली में यह अपेक्षा की जाती है कि अध्यापक पहले छात्रों को आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण पठन सामग्री बताये। जब समूह के सभी छात्र उससे अवगत हो जायें तब वे आपस में बहसें करें। इसमें अध्यापक भी बीच-बीच में एक विवादी की हैसियत से भाग लेता है, तथा विषयांतर होने पर बहस को ठीक लक्ष्य की ओर मोड़ता रहता है। प्रश्नोत्तरों की बौछार के बीच निर्धारित समस्या के सभी पक्ष खुलते जाते हैं। विवाद का मूल ध्येय यह रहता है कि छात्रवृंद अपने आप भी चिंतन करे तथा बिना संवीक्षण (स्क्रूटिनी) के दूसरों के मतों को नहीं स्वीकारे। विवाद छात्रों में आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा करता है। व्याख्यान के मुकाबले में विवाद प्रणाली (साहित्य-शिक्षा में) लाख दर्जे बढ़िया है जो भाषा की अनुभूति और साहित्य में अभिव्यक्ति पर चार चाँद लगा देती है। किन्तु इस प्रणाली को अध्ययन-भीरु और पस्तहिम्मत छात्रों ने भी असफल कर दिया है। विवाद में वार्ता की मात्रा से गुण ज्यादा महत्त्व का है। अतः वे सेमिनार के घंटों में अनुपस्थित होकर मैटिनी फ़िल्में देखते हैं।

तीसरी प्रणाली सेमिनार की है। यह अधिकांश विश्वविद्यालयों में लागू भी है। "एक सेमिनार अग्रवर्ती छात्रों का विवादकर्ता समूह है जो विश्वविद्यालयों में या तो स्नातकोत्तर चरण में होता है अथवा डिग्री कोर्स के वरीय वर्ष में। सेमिनार का आवश्यक अंग बहस है। आमतौर पर सेमिनार का एक सदस्य या कई सदस्य एक लेख अथवा कई लेख पढ़ते हैं। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। जिस तरह सामूहिक विवाद की प्रणाली में समस्या पर कुछ निश्चित निर्णयों तक पहुँचना ही पड़ता है, उस तरह इसमें आवश्यक नहीं है।"[१] सेमिनार में एक ही समस्या पर भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों को प्रकट किया जाता है और सर्वमान्य निर्णयों के बिना भी विचारों का विनिमय किया जाता है। स्वतंत्र संप्रेषण का यह सर्वोत्तम माध्यम है।···सेमिनार में वैचारिक प्रौढ़ता के कारण गुरु और शिष्य के संबंध परोक्ष हो जाते हैं। सेमिनार ज्ञान की अगली खोजों के लिए नई भूमिकाएँ पैदा करता है। अतः इसका लक्ष्य व्याख्यान की तरह केवल ज्ञान का संवहन नहीं है। हिन्दी साहित्य-शिक्षा में यह प्रणाली ही सार्थक हो सकती है, कम-से-कम 'व्यक्तित्व आदर्श' के विन्यास में। सेमिनार के लिए एक समृद्ध पुस्तकालय जीवन्धर कसौटी है।

ट्यूटोरियल का संबंध बहुधा स्नातक पूर्व-कक्षाओं में होता है। अतः हम उसे छोड़ देते हैं।

[हमने संबद्धित कालेजों में उच्चतर शिक्षा पाने वाले लगभग ८५.५ प्रतिशत छात्रों की चर्चा नहीं की है। यह इस विषय की सीमा है। किन्तु कालेज अध्यापकों तथा विश्वविद्यालयी अध्यापकों के बीच जो बनावटी दीवारें हैं उनसे कालेज अध्यापकों को हीनता-ग्रंथि का शिकार नहीं होने देना चाहिये।[२] काबुल में केवल घोड़े ही नहीं होते।]

अन्ततः समापन करने पर हम कुछ नतीजे निकालना चाहेंगे।

पहले हमें 'हिन्दी साहित्य' और 'हिन्दी पाठ्य विषय' के बीच स्पष्ट अन्तर करना होगा। स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य की परम्परा तथा हिन्दी साहित्य शिक्षण के बीच गहरी खाई है। इसी तरह हमें 'सामान्य हिन्दी' और 'साहित्यिक हिंदी' के बीच भेद करते हुए प्राकृतिक विज्ञानों, समाजविज्ञानों आदि पर लिखी गई पुस्तकों को सामान्य हिन्दी तथा सामान्य ज्ञान के अंतर्गत रखना होगा। इसके साथ ही मानविकी संस्कृति और तकनीकी संस्कृति की एकता को अधिक वास्तविक बनाना होगा—स्वाध्याय और आत्मसंस्कार के द्वारा। 'संपूर्ण सत्य' को कला की उदारता और विज्ञान की यथार्थता की कान्त मैत्री द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है। अतः हिन्दी साहित्य को ज्ञान की आंचलिकता, प्रान्तीयता और अन्धराष्ट्रीयता से विमुक्त होना पड़ेगा। हिन्दी-साहित्य-शिक्षा में पाठ्यालोचन और व्यवहारात्मक आलोचना पर बल दिया जाना चाहिए; सेमिनार और विवाद की प्रणाली प्रोत्साहित की जानी चाहिए। हिन्दी-परीक्षाओं में स्टैंडर्ड मूल्यांकन के

१. S. R. Dongerkerry : 'University Education in India', Manaktalas, Bombay 1967, p.147.

२. दे० वही, पृ० १२२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानदंडों का अभाव है। अपवादों को छोड़कर कभी कोई थीसिस अस्वीकृत नहीं होती; कभी कोई छात्र फेल नहीं होता; कभी कोई द्वितीय श्रेणी से कम अंक नहीं पाता; और कभी कोई हिन्दी का एम० ए० अध्यापकी के अलावा अन्य प्रकार के किसी भी कार्य को करने की इच्छा, क्षमता या योग्यता नहीं रखता। यह व्यावसायिक नपुंसकता और साहित्यिक बहुरूपियापन विदूषकीय ढंग से प्रगटाव है। कम-से-कम अन्य विषयों के छात्रों की तरह हिन्दी के छात्रों के सामने जीविकोपार्जन के कुछ और रास्ते तो खुले हों; अन्यथा एम० ए० में उन्हें फुसला-बहकाकर निहंग लाड़िली कक्षाओं में बंद करना शायद कुछ के लिए अस्तित्व का सवाल बना रहेगा। जब मैं हिन्दी के बेकार छात्र को देखता हूँ तो उसके चेहरे पर कातरता, जुगुप्सा और प्रतिहिंसा की त्रिमूर्त धूपछाँह देखकर कंपित हो जाता हूँ। उसके आत्मनिर्वासन के सामने हमारी आचार्य मुद्रा एक बृहन्नला अथवा रँगेसियार जैसी लगती है। इसके लिए कहा जा सकता है कि एक 'प्रवेश-नीति' बनाई जाय। किन्तु जब पाँच-छै छात्रों को पकड़कर इकट्ठा किया जाय (हिन्दी क्षेत्र के महानगरों को छोड़कर) तब भला यह सोचना ही निरर्थक है। सबको द्वितीय श्रेणी में पास करना तथा प्राइवेट छात्रों की कैरियरपंथी सेना को अन्धाधुन्ध विजयी बनाते जाना भी हिन्दी साहित्य में परीक्षण के प्रतिमानों को धुँधला कर चुके हैं। हिन्दी छात्र अन्य कोई भी डिग्री (जैसे बी० एड०, अन्य भाषाओं के सर्टिफिकेट अनुवाद-डिप्लोमा आदि) लेना भी नहीं चाहते। वे शुद्ध साहित्य के उपासक हैं जो साहित्य के समाज-दर्पण होने का, अथवा सत्यं-शिवं-सुंदरं के अध्यात्म का धुरंधर मंत्र जप आये हैं। बगुला जोगियों की बहुतायत से मठ उजाड़ हो गया है।

हिन्दी-अध्यापकों को केवल **विषय का उत्तम ज्ञान** ही नहीं हो; बल्कि उन्हें **शिक्षण का विज्ञान** भी पता हो। अतः हिन्दी शिक्षण में भी बी० एड०, अथवा भाषा-प्रशिक्षण, शोध-पद्धति आदि के कोर्सों का पढ़ाया जाना भी अनिवार्य योग्यता बना दी जाय। केवल प्रथम या द्वितीय श्रेणी पाकर, अथवा केवल पी-एच० डी० होने के बाद ही, हिन्दी अध्यापक ठुमकता धौला बछड़ा नहीं बने। जिस तरह बहुधा सभी जगहों से अस्वीकृत लोग हिन्दी के छात्र बन जाते हैं क्योंकि यह विषय 'आसान' है, अर्थात् सभी अच्छी द्वितीय श्रेणी में (कुंजियों को पढ़कर तथा कक्षा नोट्स को रटकर) पास हो जाते हैं; उसी तरह बहुधा हिन्दी के अधिकांश अध्यापक भी सिफारिशों, दबावों और चोर रास्तों से इस क्षेत्र में धँसे हैं; उनके चुनाव में अतिश्रेष्ठ उम्मीदवार खुल्लमखुल्ला अस्वीकृत किये गये हैं; और औचित्य की आँखों में धूल झोंकी गई है। अतः ऐसा मंडल किसी भी कनिष्ठ और योग्य के आगे बढ़ने में हर तरह के रोड़े अटकाता है। ऐसे कापीराइट-विक्रेता 'प्रतिभावान' अध्यापक प्रत्येक पत्र की उपशाखाओं पर एम० ए० के छात्रों के लिए कई पुस्तकें लिख चुके हैं और थोक के हिसाब से सालाना चार-पाँच छात्र तेज संवर्द्धक, 'मौलिक' एवं 'अनुभवी', 'आधुनिक' एवं 'वैज्ञानिक' समीक्षाएँ लिखते जाते हैं। उनके बहुविध ज्ञान की कमी का कोई भी असर पद की मर्यादा पर नहीं पड़ता। अतः माँ भारती का सपूत उर्फ़ हिन्दी का अध्यापक स्थापित स्वार्थों की दास्य-भाव से भक्ति करते हुए इहलोक-परलोक दोनों सुधार लेता है। इसीलिए भक्तिकाल पढ़ाते समय वह पूरा वैष्णव भक्त और महाप्रभु वल्लभाचार्य ही बन जाता है लेकिन कवि तुलसी और सौंदर्यचेता सूर को छोड़ जाता है; रीतिकाव्य पढ़ाते समय वह पूरा कोका पंडित बनकर अभिसार, विपरीत रति और नखशिख के प्रसंगों की रंगारंग जुगाली करता है; आधुनिक साहित्य पढ़ाते समय एक दरोगा की तरह पूरी की पूरी पीढ़ी को तुलसी, भूषण, बिहारी, प्रसाद और पंत आदि के कठघरे से बाहर फड़फड़ाने नहीं देता।

यह बात तो स्वयंसिद्ध है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय वैसा ही बनेगा जिस तरह के विद्वानों को वह आकर्षित करेगा। किन्तु आकर्षित करने के तुरंत बाद नियुक्ति की पद्धतियाँ रहस्यात्मक हो जाती हैं। तथापि व्यापक राष्ट्रीय पटल पर समाजशास्त्रीय और राजनैतिक प्रभाव विश्वविद्यालय का गोपनीय कायाकल्प कर डालते हैं। आज़ादी के बाद हमारे विश्वविद्यालयों का जो कायाकल्प हुआ है वह देश की सामाजिक व्यवस्था और अवस्था के अनुसार ही है। इसके लिए विलाप करना भी एक प्रवंचना और विडंबना है जिस गठन ने प्रोफ़ेसरों को ऊँचे वेतन और महान् स्टेटस प्रदान किये हैं, भला वे उसके विरुद्ध क्यों हों? अतः उनकी नैतिक निष्ठा को काल्पनिक भय और वास्तविक खतरे खत्म-सा करते जाते हैं। उनके लिए 'एकेडेमिक फ्रीडम' एक आड़ और ढाल बन जाती है। वे व्यावहारिक समाज-परिवर्तनों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कटकर शुद्ध बुद्धि अथवा शुद्ध साहित्य के उपासक बनकर अलकाओं में समाधिस्थ हो जाते हैं। कार्ल जास्पर्स की बात को पुनश्च दुहराकर कहा जाये कि वे मूल्य-निर्णयों को स्थगित करके तटस्थतावादी उदासीनता में अपभ्रष्ट हो जाते हैं; न्यायोचित व्यावहारिक कर्म को त्यागकर आलसी-प्रमादी बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनका अभिषेक मर्यादावादी उदार सम्प्रदायों के संस्थापक के रूप में ही हो सकता है। वे रूढ़िभंजक और विद्रोही बुद्धिजीवी होने के लिए अपना मेरुदंड ही उखड़वा लेते हैं।

इस स्थिति से कैसे उद्धार हो ? सामाजिक और आर्थिक क्रांति के साथ-साथ ही शैक्षणिक क्रांति और सांस्कृतिक क्रांति आ सकती है। तभी हम 'राष्ट्रीय शिक्षा' और 'नई प्रणाली' को स्वीकार कर सकेंगे। अतः इन सबके लिए संघर्ष किया जाए।

हिन्दी पाठ्यविषय को कैसे समसामयिक बनाया जा सकता है ? उसे कम-से-कम एक ओर सौंदर्यबोधशास्त्र, समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान से संश्लिष्ट किया जाए; दूसरी ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यावसायिक कुशलता से मंडित किया जाए; तथा तीसरी ओर पाठ्यक्रम को पढ़ाने की नई विधियाँ अपनाई जायें जिससे परीक्षा का उपक्रम पूरे शैक्षणिक सत्र तक लिखित सेमिनारों, अणुबन्धों, ट्यूटोरियलों के रूप में अनवरत चलता रहे। सेमेस्टर-व्यवस्था व्याख्यान-व्यवस्था से अधिक उपयोगी है।

क्या हिन्दी साहित्य-शिक्षा को आधुनिक शिक्षा बनाया जा सकता है ? यह पाठ्यक्रम को सुधारने से उतना नहीं होगा जितना कि नयी सामाजिक चेतना को ग्रहण करने से। इसका एकमात्र उपाय है : विभिन्न ऐतिहासिक कालों से चले आ रहे—'झूठे आदर्शों' का निर्मम विध्वंस ! इसके लिए हमें आज सामाजिक क्रांति से **प्रतिबद्ध** और व्यावसायिक प्रशिक्षण में **विशेषज्ञ**—अर्थात् प्रतिबद्ध और विशेषज्ञ—अध्यापक के 'व्यक्तित्व-आदर्श' की आवश्यकता है। इसके बिना नवीकरण और आधुनिकीकरण के आत्मनिष्ठ संकल्पों के प्रभामंडल कभी नहीं जगमगा सकेंगे।

क्योंकि शिक्षावृत्त में अध्यापक सक्रिय होता है अतः हम उसके विषय में भारत के महान् शिक्षाशास्त्री और स्वर्गीय राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन के उद्धरण से अपना प्रकथन समाप्त करते हैं—

"यदि उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनका मर्म ऐसे कुछ मूल्यों से कभी छू न गया और उन्होंने इनका मीठा दर्द कभी न जाना, तो सच में, उनका स्थान शिक्षकों में नहीं है। जो इस प्रकार कभी द्रवित नहीं हुआ, जो कम-से-कम कुछ देर के लिए ही किसी उच्चतम मूल्य के सम्मोहन का शिकार होने का मज़ा न ले पाया, जो निस्तेज है, और जो अपने क्षुद्र भौतिक अस्तित्व से आगे किसी भी मूल्य के संबंध में निस्तेज रहने की सम्भावना दिखाता है, ऐसे व्यक्ति को शिक्षक बनने या बने रहने का विचार, वास्तव में, नहीं करना चाहिए।"[1]

●

१. ज़ाकिर हुसैन : 'भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण', नेशनल बुक ट्रस्ट १९६१, पृ० ५७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिता के लिए एक कविता

मंगलेश डबराल

मैं नहीं जानता
कब यह रेगिस्तान
तुम्हारी आँखों से छूट कर
मेरे बिस्तर तक फैल गया है
एक अन्तिम ऋतु के सिलसिले में
तुम सहसा मौसमों और रोटियों की
तेज़ भगदड़ से बाहर फेंक दिये गये हो
बची हुई महज़ एक बुश्शर्ट के साथ
सुविधाओं को भाग्य की तरह
चमकाते हुए
तुम समस्याओं के चश्मे पोंछ रहे हो
अपनी सारी अंधता के आगे
अपने अतीत को क़ानून बनाकर
लागू करते हुए घर में
एक की भूख और दूसरे के भविष्य तक
पिता तुम्हारा गुस्सा टहल रहा है
और कहीं कुछ नहीं बज रहा है
पड़ोसी औरत की चूड़ियों के अलावा
अपनी बेरंग आकांक्षाओं के ख़िलाफ़ तुम
अपने स्वाद का शरीर टटोल रहे हो
तब और अब की दूरी में
इतिहास एक लँगड़ी भाषा है
जिसे तुम बार-बार बोल रहे हो
तुम्हारी झुर्रियों में गुम
हो गया है हर रास्ता
बंजर शरीरों से होकर गुज़रता हुआ
समूचा दिन तमाम जगहों पर
गर्द की तरह पड़ गया है
शोर और सिसकियों के बीच
लोग लिपटकर सो गये हैं
बाहर सिर्फ़
पत्ते हिल रहे हैं : जंगल झड़ रहे हैं
गुणगान से लथपथ
बीते हुए वर्षों की जनगणना में
खुद को तलाशते हुए
पिता तुम देख रहे हो
बेरिश्ता चीज़ों की चापलूस नैतिकता में
भागते-हड़बड़ाते लोग
प्रकट या ग़ायब हो गये हैं
एक-दूसरे का संदेह कुतरते हुए
अचानक तुम्हारी जवानी के
रसिक स्वप्न तकिये के नीचे
नोटों की गड्डियाँ बन गये हैं
और तुम्हारे पास सिर्फ़ नींद है
अकेले लालच की तरह बची हुई
ज़िम्मेदारियों के कटघरे में
खुलता हुआ यह दरवाज़ा
तुम्हारे लिए आसमान है
जहाँ वसंत एक खुशख़बरी होकर
चिपक गया है
और धूप तुम्हारी ज़रूरतों को लगातार
चकमा दे रही है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारे-के-सारे दृश्य अचानक
बाढ़ में बदल गये हैं
जहाँ धीरे-धीरे तुम्हारा स्वार्थ डूब गया है
और महज़ लाचारी है
तुम्हारी नाक में गुर्राती हुई
एक मुश्किल की तरह
दूर हो गया है
वह चेहरा पिता
जो षड्यंत्र होकर हर जगह शामिल था
इस महान् और शर्मिंदा माहौल में
हड्डियों का दर्द दबोचता हुआ
दफ्तर और दाँतों के बीच
मैं ग़ायब हो रहा हूँ
और एक वायुमंडल
अगली तरक्की की सूचना बनकर
मेरी पसलियों में घुस रहा है
पेट और प्रतीक्षा में
एकाएक सब-कुछ जम गया है
उन आहटों के अलावा
जो अपराध की हैं
मेरी दिशाएँ हर बार
उन दीवारों से शुरू होती हैं
जहाँ तुम हस्तक्षेप कर रहे हो
रोज़-रोज़ घिसी हुई घटनाओं के पीछे
ग़लतफ़हमी की तरह
तुम्हारे शब्द लपलपा रहे हैं
तुम्हारे एकांत के हाथ
समय के मुँह पर कहीं नहीं पड़ रहे हैं
अपनी अकेली बुश्शर्ट के साथ
तुम रह गये हो
पिता
हलचलहीन
एक अन्तिम ऋतु तुम्हारी
हथेलियों से उतर रही है
और यह रेगिस्तान
मेरे बिस्तर तक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु नानक देव

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज से ५०० वर्ष पहले गुरु नानक देव का आविर्भाव हुआ था। भारतवर्ष के अधिकतर महापुरुषों के समान गुरु नानक का जीवनचरित भी चामत्कारिक कथाओं से ढँका हुआ है। उनकी 'जनम-साखियाँ' तो बहुत मिलती हैं परन्तु सबमें श्रद्धातिरेक के कारण चामत्कारिक कथाओं से ऐतिहासिक तथ्य ढँक गए हैं। इन पुराने विवरणों में कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य है। उनके आधार पर गुरु नानक देव के जीवन के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिल जाती है। पर वस्तुतः गुरुजी के विचारों का सच्चा निदर्शक 'गुरु ग्रन्थ साहब' नामक महान् ग्रन्थ ही है। इसमें गुरुजी के प्रामाणिक उपदेश ही नहीं हैं—उनका शान्त-शोभन, उदात्त और मोहन रूप भी उपलब्ध होता है। कोई आश्चर्य नहीं कि इस महान् ग्रन्थ को गुरु का प्रतिरूप ही मान लिया गया है। वस्तुतः गुरु का जैसा महिमामय व्यक्तित्व और उनका चिन्मय रूप इस ग्रन्थ में अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

गुरुजी का जन्म तालवंडी ग्राम के एक खत्री परिवार में हुआ था। गाँव के मालिक एक मुसलमान रईस (राय सलार) गाँव का वातावरण ही ऐसा था जिससे गुरुजी के बालचित्त पर साम्प्रदायिक सौहार्द का प्रभाव पड़ा था। उन्हें पाठशाला में पढ़ने को भी भेजा गया था और अन्य विद्यार्थियों की तुलना में उनकी गम्भीरता, शालीनता और भगवन्निष्ठा का आभास भी उन्हीं दिनों मिल चुका था। उनकी एक बड़ी बहन थी जिसका नाम नानकी बताया जाता है। नानक का विवाह भी हुआ था। उनकी पत्नी सुलक्खनी थीं। नानक का मन घर के कार्यों में नहीं लगता था। वे साधु-संग, एकान्तवास और अध्यात्म-चिन्तन में लगे रहते थे। माता-पिता इन्हें गृहस्थी के बन्धन में बाँधना चाहते थे। बहनोई जयराम की सहायता से पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ लोदी के एक कर्मचारी के मोदी खाने में नौकरी मिल गई। परमात्मा जिसे अपना बनाना चाहता है उसके लिए सुयोग भी विचित्र प्रकार से दे देता है। कहा जाता है कि उस नौकरी के बन्धन से उन्हें एक विचित्र प्रकार से मुक्ति मिल गई। आटा तौलते समय वे एक-दो-तीन गिनते गिनते जब तेरह पर आए, तो तरह शब्द पंजाबी उच्चारण 'तेरा' पर उनका ध्यान दूसरी ओर चला गया। 'मैं तेरा हूँ' इस भावना ने उन्हें तन्मय कर दिया। हाथ तौलते रहे, मुँह 'तेरा', 'तेरा' की रट में लग गया। सारा भाण्डार तौल दिया गया 'तेरा', 'तेरा', 'तेरा'! यद्यपि यह 'तेरा' वाला अभिप्राय (अर्थात् मोटिव) और भी मध्यकालीन अनेक सन्तों के साथ जुड़ा हुआ है, पर गुरु नानक के मुख से निःसृत वाणियों के प्रकाश में यदि देखा जाए तो इसका अन्तर्निहित मर्मार्थ बिलकुल ठीक लगेगा। कदाचित् गुरु नानक वाली कहानी सबसे पुरानी भी है। इसे वास्तविक मान लेने में बिलकुल हिचक नहीं होती।

नतीजा जो होना था वही हुआ। नौकरी छूट गई। नानक की अध्यात्म-भावना के विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। साधु-संग, भ्रमण और धर्मोपदेश का अवकाश प्राप्त हुआ। उन्होंने कामरूप से लेकर मक्का-मदीने तक की यात्रा की। उन्हें संसार बाँध नहीं सका पर संसार के बन्धन से छुटकारा देने और दिलाने का रहस्य उन्हें अवश्य प्राप्त हो गया। इन सारी यात्राओं में गुरु के मुख से जो अनुभूत सत्य प्रकट हुआ वह अनायास गीत रूप में उच्छ्वसित हुआ। सौभाग्य से उन्हीं के गाँव का एक मुसलमान रागी 'मरदाना' नरावर उनके साथ रहता रहा और यथासंभव उन वाणियों को राग के ढाँचे में बाँधकर स्मरण रखा। निरन्तर मनन से गुरु के अन्तरतर की निर्मल ज्योति जाग पड़ी और वह राम नाम जपते-जपते राममय हो गए।

कुछ साक्ष्यों के आधार पर गुरु नानक का जन्म अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल ३) को हुआ था, ऐसा माना गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर काफी अर्से से उनकी जन्म-तिथि का उत्सव कार्तिक पूर्णिमा को मनाया जाता है। कुछ विद्वान् इस तिथि को ही उनकी सही जन्म-तिथि मानते हैं। आजकल यह उत्सव इसी तिथि को मनाया जाता है। वैसे तो गुरुजी जैसे महानुभाव की जो भी जन्म-तिथि हो वही पवित्र और स्मरणीय है, पर मुझे कार्तिक पूर्णिमा अधिक अर्थपूर्ण लगती है। शरद् ऋतु की इस अन्तिम पूर्णिमा को सारे भारत में न जाने कब से बहुत महत्त्व दिया जाता है। इस तिथि के साथ भारतवर्ष की धर्म-साधनाओं का विशाल और समृद्ध इतिहास जुड़ा हुआ है। कार्तिकी पूर्णिमा शामक ज्योत्स्ना से अधिक निर्मल और पवित्र होती है। गुरु नानक जैसे निर्मल यशः महामानव के आविर्भाव के लिए इस तिथि को अगर उपयुक्त समझा गया तो उचित ही हुआ। अगर उनकी मृण्मय काया के आविर्भाव होने की यही तिथि हो तो यह सोने में सुगन्ध है। वस्तुतः सिख गुरुओं ने मृण्मय गुरु रूप को कभी महत्त्व नहीं दिया। उनके चिन्मय रूप को—ज्ञानमय विग्रह को—ही अधिक महत्त्व देते आए हैं। इसके दो बड़े प्रमाण हैं। एक तो गुरु की वाणी को ही गुरु का स्वरूप समझना और दूसरे गुरु परम्परा में बिन्दु सृष्टि को अधिक महत्त्व न देकर नाद सृष्टि की महिमा पर बल देना। गुरु की परम्परा दो रूपों में चलती है—(१) बिन्दु सृष्टि पुत्र-पौत्र परम्परा का नाम है और (२) नाद-सृष्टि शिष्य-प्रशिष्य परम्परा का नाम है। गुरु नानक के पुत्र थे, पर दूसरे गुरु का स्थान उन्हें न मिलकर शिष्य-प्रशिष्यों को मिला। ऐसा भी हुआ है कि बाद में पुत्र-परम्परा और शिष्य-परम्परा एक-दूसरे से मिल गई है पर उसका कारण योग्यता ही रही है। पुत्र यदि गुरु के जलाए प्रदीप को वहन करने में समर्थ है तो वह भी नाद परम्परा का ही उत्तराधिकारी है। स्वयं को सिख या शिष्य कहने का अर्थ भी नाद परम्परा को ही अधिक गौरव देने की भावना का फल है। इसलिए गुरु की जन्म-तिथि यदि पूर्ण, शामक और निर्मल ज्ञान तथा परमानन्द का विग्रह या प्रतीक शरत् पूर्णिमा के चन्द्रमा के साथ जोड़ दिया गया तो इसमें कोई न तो आश्चर्य है न अनौचित्य। कार्तिकी पूर्णिमा का चन्द्रमा निर्मल और शामक ज्ञान का प्रतीक है—

जगन्तापहरं दिव्यं परमानन्दविग्रहम्।
वन्दे शरच्चन्द्रनिभं गुरुम् ब्रह्मस्वरूपिणम्॥

परन्तु उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मध्यकाल के निर्गुणमार्गी सन्तों में गुरु नानक का ही व्यक्ति शरच्चन्द्र के समान ही स्निग्ध-शामक और आह्लादजनक है। उनके पूर्ववर्ती संतों में कबीर अद्भुत शक्तिशाली व्यक्तित्व लेकर पैदा हुए थे। परन्तु उनके व्यक्तित्व में तीखापन भी है। वे कसकर व्यंग्य करते हैं, तीखी और तिलमिला देने वाली आलोचनाओं से पंडित और मौलवी दोनों पर चोट करते हैं परन्तु नानक का व्यक्तित्व अत्यन्त मृदु और शान्त है। उनकी भाषा में शरच्चन्द्रमा की किरणों की ही भाँति शामक गुण है। उनके व्यंग्यों में भी तीखापन या कटुता नहीं है, यद्यपि चोट करने में भी कम समर्थ नहीं हैं। इसीलिए मध्यकालीन निर्गुणमार्गी सन्तों में सच्चे अर्थों में वे शरच्चन्द्र हैं। उनकी आविर्भाव-तिथि इस पूर्णिमा को मानने के संगत कारण हैं। यह केवल भक्तों की कल्पना नहीं है, सुचिन्तित योजना है। निर्मल आकाश में शुभ्र राजहंस की तरह भ्रमण करने वाला चन्द्रमा ही उनके व्यक्तित्व की ओर संकेत कर सकता है। उसकी मीठी वाणियों में अजीव आकर्षण है, मधुर वचन को वे भक्त के आवश्यक गुण भी मानते हैं।

बाबा बोलिए पति होइ।
ऊतम ते दर ऊतम कहीअहि नीच करम बहि रोइ॥

सच पूछिए तो मध्यकालीन सन्तों की ज्योतिष्कमंडली में गुरु नानक देव ऐसे सन्त हैं जो शरत्काल के पूर्णचन्द्र की तरह ही स्निग्ध, उसी प्रकार शान्त निर्मल, उसी प्रकार शामक रश्मि के भाण्डार थे। कई सन्तों ने कस-कस के चोटें मारीं, व्यंग्य-वाण छोड़े, तर्क की छुरी चलाई, पर महान् गुरु नानक देव ने सुधालेप का काम किया। यह आश्चर्य की बात है कि विचार और आचार की दुनिया में वह इतनी बड़ी क्रान्ति ले आने वाला है। किसी का दिल दुखाए बिना, किसी पर आघात किए बिना, कुसंस्कारों को छिन्न करने की शक्ति रखने वाला, नई संजीवनी धारा से प्राणिमात्र को उल्लसित करने वाला, यह सन्त मध्यकाल की ज्योतिष्क-मंडली में अपनी निराली शोभा से शरत् पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह ही ज्योतिष्मान् है।

जनम-साखियों में गुरु नानक की यात्राओं का बड़ा मनोहारी चित्र बनता है। इनमें कुछ निश्चय ही कल्पना और श्रद्धातिरेक जुड़े हुए हैं। पर वे महान् पर्यटक थे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता और इसमें भी कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इन यात्राओं में उनका प्रधान संबल उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यपरायण सहज जीवन और निरहंकार मधुर व्यक्तित्व ही था। अपने जीवन के सत्तर वर्षों मे लगभग एक-तिहाई उन्होंने यात्रा में ही बिताई थी। उन दिनों की कठिन परिस्थितियों में उनकी यात्राएँ अद्‌भुत साहसपूर्ण कही जाएँगी। पाँच बार उन्होंने लम्बी यात्राएँ कीं। उद्देश्य साधु संग और भगवद्‌भक्ति का प्रचार था। पहली यात्रा पूरब की थी। उस समय उनकी आयु ३१ वर्ष की थी। साथ में उनके प्रिय शिष्य मर्दाना थे। इनकी यह यात्रा कामरूप तक की थी। वे सईदपुर, नालन्दा (मुलतान), पानीपत, बाराकुसी, गोरखमाता होते हुए कामरूप गए और फिर अपने स्थान को लौट आए। लौटते समय पाकपत्तन (मांटगुमरी) में शेख फरीद के शिष्य शेख इब्राहीम से धर्मालाप किया। सर्वत्र उनके मोहक व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता था। मर्दाना के बीन पर उनकी रचनाएँ श्रोताओं को मुग्ध कर देती थीं। दूसरी यात्रा सन् १५०६ में शुरू हुई। इस बार वे दक्षिण की ओर गए। सिरपा, बीकानेर, अजमेर, आबू होते हुए वे पुरी गए और उधर से नागपत्तन और श्रीलंका तक उनके जाने का विवरण मिलता है। इस बार उनके साथ सैडो और धैबी नाम के दो जाट शिष्य भी थे। तीसरी यात्रा ८ वर्ष बाद सन् १५१४ में शुरू हुई। इस यात्रा में वे उत्तर की ओर कैलास और मानसरोवर की ओर गए। साथ नासू और सीहा नाम के दो शिष्य थे। मानसरोवर में इनका योगियों के साथ सत्संग हुआ। इसी यात्रा में ये तिब्बत और दक्षिणी चीन भी गए। चौथी यात्रा पश्चिम की ओर हुई। वे हाजी के रूप में मक्का गए। बताया जाता है कि इसी यात्रा में वे यरूशलम, दमिश्क और अल्लेप्पो होते हुए बगदाद पहुँचे और अनेक मुस्लिम सन्तों और पण्डितों से सत्संग किया। उनकी प्रेममयी वाणी ने सर्वत्र जादू का असर किया। कहते हैं कि बगदाद में उन्होंने बहोल के शाह को सिख धर्म की दीक्षा दी। पाँचवीं यात्रा में उन्होंने मुख्य रूप से पंजाब का भ्रमण किया। उन्होंने पाकपत्तन, देयालपुर, कगापुर, सुलतानपुर, जलालाबाद, तिरिया आदि स्थानों में धर्म-प्रचार किया। वे जब बटाला होते हुए अमीनाबाद पहुँचे तो बाबर ने उन्हें साथियों सहित गिरफ्तार कर लिया और इस प्रकार बाबर से उनकी भेंट सम्भव हुई। गुरुजी ने अपनी मीठी और स्पष्ट वाणी में बाबर के कुकृत्यों की खरी आलोचना की। बाबर पर उसका प्रभाव भी पड़ा। इस प्रकार उन्होंने अपनी लम्बी यात्राओं से देश का कोना-कोना छान डाला। पड़ोसी देशों की भी यात्रा की और एक ओर जहाँ उन्होंने मनुष्यों के दुःख-कष्ट का अनुभव किया वहीं उनके अन्धविश्वासों और गलत मान्यताओं को दूर करने का प्रयास भी किया। यात्रा-वृत्तान्तों में कई करामाती प्रसंगों की भी चर्चा है। पर उनको हटा देने पर गुरु की अत्यन्त साहसिक प्रकृति, भगवान् पर अखंड-विश्वास, अपूर्व जिज्ञासा और दीन-दलित पर दयाभाव का परिचय अवश्य मिलता है। उनकी वाणी की मोहकता, उनके व्यक्तित्व का आकर्षण और उनकी भगवन्निष्ठा का प्रभाव इन यात्रा-वृत्तान्तों से स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि परवर्ती पुस्तकों में उन्हें शास्त्रार्थी विजेता के रूप में चित्रित करने का भी प्रयास है पर यह उनकी नहीं, उस काल की श्रद्धालु जनता की मनोवृत्ति का प्रतिफलन है। गुरु नानक बहुत वाद-विवाद में नहीं पड़ते थे। वे अपने पवित्र आचरण के द्वारा ही विरोधी को सत्य का साक्षात्कार करा देते थे। कितने ही विरोधियों ने जो उनके चरणों में आत्मसमर्पण किया वह शास्त्रार्थ-वैदूष्य को देखकर नहीं, अत्यन्त प्रभावशाली आचरण और मधुर व्यवहार के कारण ही किया।

गुरुजी अपनी यात्राओं में सैकड़ों प्रकार के लोगों से मिले। विरोधियों से भी और प्रशंसकों से भी; चोरों, ठगों और लुटेरों से भी; पंडितों, योगियों और तांत्रिकों से भी; शेखों, काजियों और मुल्लों से भी—सर्वत्र उनके मृदुल स्वभाव और सत्यशील आचरण ने विजय पाई। कटुता कहीं नहीं आई। विरोध ने वैर का रूप कभी नहीं लिया। यह ऐसी सिद्धि है जिस पर सहज ही विश्वास करना कठिन है, पर है सत्य। ऐसे ही निर्वैर निरहंकार निस्पृह मनुष्य के माध्यम से परमात्मा अपना तेज संसार को देता है। एक भजन में ऐसे भक्त-जन का चित्रण इस प्रकार किया गया है—

जो नर दुख नहि माने।
सुख असनेह अरु भय नहि जाके कंचन माटी जाने।
नहि निंदा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
हरस सोक ते रहे नियारों नाहि मान अपमाना।
आसा मनसा सकल त्यागि के जग तैं रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहीं तेहि घर ब्रह्म निवासा।
गुरु किरपा जो इन पर कीन्हीं तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयौ गोविंद सो ज्यों पानी संग पानी।

वस्तुतः यही गुरु के आकर्षक व्यक्तित्व का रहस्य भी है और स्वरूप भी। उन्होंने तथाकथित छोटी जातियों को भी भरपूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मान दिया। भेदभाव तो उनमें लेशमात्र नहीं था। हिन्दू और मुसलमान दोनों को वह समान भाव से स्नेह करते थे। कैसा भेद-भाव ? गुरु ने कभी अपने को किसी से अलग नहीं माना। उन्होंने कहा था कि एक ही ज्योति से संसार उत्पन्न किया गया है। इसमें कौन अच्छा है कौन बुरा—एक जोति ते पग उपजा कौन भले कौन मंदे।

गुरु नानक का आविर्भाव जिन दिनों हुआ था उन दिनों भारतवर्ष का हिन्दू समाज अनेक प्रकार की जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त था। इसके अतिरिक्त शक्तिशाली इस्लाम धर्म का प्रवेश भी हो चुका था। आपसी भेदभाव पहले से ही बहुत जटिल सामाजिक व्यवस्था को और अधिक उलझाता जा रहा था। धार्मिक साधना के क्षेत्र में रामानन्द, नामदेव और कबीर जैसे कई महिमाशाली व्यक्तित्व प्रकट हो चुके थे जो जाति-पाँति तथा साम्प्रदायिक भेदभाव मिटाने का प्रयास कर चुके थे, पर भेदभाव की मनोवृत्ति कठोरतर सिद्ध हुई थी। जिस किसी ने जाति-भेद को हटाने का प्रयास किया, उसी के नाम पर एक नई जाति और एक नये सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। जिस किसी ने झाड़ू देकर मन्दिर के आँगन को साफ करने का प्रयत्न किया उसी के नाम पर कोई ईंट-पत्थर आँगन में और डाल दिया गया। भेदभाव बहुत ही शक्तिशाली सिद्ध हुआ, अभेद और एकता की बात कमज़ोर साबित हुई। फिर भी महात्मा लोगों ने अपना प्रयास जारी रखा। गुरु नानक ने अपनी समकालीन सामाजिक परिस्थितियों को यदा-कदा चित्रित किया है। तत्कालीन शासकों की निर्दय निरंकुशता और सामान्य प्रजाजन की असहाय स्थिति के प्रति वे सचेत थे। उनकी वाणियों में इस बात का प्रमाण मिल जाता है। परन्तु गुरु नानक बहुत कम अवसरों पर ही उनकी चर्चा करते हैं।

इस विषम परिस्थिति का सामना करने के लिए भी वे मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जागृत करने का ही आह्वान करते हैं। वे निर्भय-निरहंकार और निर्वैर अकाल पुरुष में अखण्ड विश्वास करते थे और उसी विश्वास को प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में जागृत करते थे। अत्याचारी का अत्याचार इसलिए सह लिया जाता है कि साधारण मनुष्य के मन में भय और आशंका का भाव रहता है। भयवश और लोभवश मनुष्य क्या-कुछ नहीं करता। विरूप परिस्थितियों में गुरु नानक भय को छोड़कर सत्य पर अडिग रहने की बात कहते हैं। कहते तो और लोग भी हैं पर इतिहास साक्षी है कि गुरु के अनुयायियों ने भय का सही अर्थों में त्याग किया था। उनके ऊपर घोर अत्याचार हुए। उन दिल दहलाने वाली कहानियों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं, पर गुरु नानक के शिष्यों ने प्राणों को हथेली पर रखकर मृत्यु का तिरस्कार कर, काल के विधान को तोड़कर सत्य पर अटल रहने की साधना की है। कितनी अतल गहराई से यह महावाक्य निकला होगा जो पीढ़ियों तक भय को चुनौती दी है—

मरणै की चिन्ता नहीं जीवन की नहिं आस।

समाज की कुरीतियों और अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए वे बँधी-बँधाई बोलियों का नुस्खा नहीं बताते। वे ऐसी महान् धर्म-साधना का निर्देश करते हैं, जिसे पाकर मनुष्य को कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता है। वे भगवद्-भक्ति और त्यागपरायण निर्भीक जीवन की बात कहते हैं और सम्पूर्ण रूप से सर्वात्मना समर्पित जीवन को मुख्य सम्मान मानते हैं।

स्मरणीय है कि उत्तर मध्यकाल में भक्ति का आन्दोलन विराट् जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ था। सिख-गुरुओं ने निराकार निरंजनपरक भक्ति मार्ग का प्रचार किया। इस बात में अन्यान्य निर्गुणमार्गी सन्तों से एक बात में विशिष्ट बने रहे। मध्यकाल में भाष्यों-टीकाओं और मन्त्रों से उपलक्षित भक्ति सम्प्रदायों का बड़ा ज़ोर था। कोई भी भक्ति सम्प्रदाय तब तक मान्य नहीं होता था जब तक किसी-न-किसी प्रस्थानत्रयी समर्थित सम्प्रदाय का आश्रय न ले लेता था। गुरु नानक और उनके भक्त कवियों ने इस पराधीनता को अस्वीकार किया। नाभादासजी ने अपने भक्तमाल में उन्हीं निर्गुणमार्गी सन्तों को स्थान दिया जो इन सम्प्रदायों से सम्बद्ध माने जाते थे। कबीरदास को इसलिए स्थान मिला कि वे रामानन्द के शिष्य थे और इस प्रकार रामानुज सम्प्रदाय से दूर से सम्बद्ध थे। गुरु नानक को स्थान नहीं मिला, क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी से नहीं जोड़ा जा सका। गुरु के अनुयायियों, भक्तों और सन्त-कवियों ने इस बात की परवा न की। उन्होंने उन समस्त सन्त कवियों की बानियों का आदर किया जो अनुभव-सिद्ध सत्य के गायक थे। सम्प्रदाय या आचार्य ग्रन्थ विशेष के समर्थन के लिए उन्होंने रुकना उचित नहीं समझा। यह विशेष दृष्टि उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। इसमें स्वाधीन चिन्तन और आत्मानुभव—हेतुक उपलब्धि पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल दिया गया है। पंजाब में बहुत महत्त्वपूर्ण भक्ति-साहित्य लिखा गया, पर हिन्दी को सबसे बड़ी देन इन सन्तों की स्वाधीन चिन्तना ही मानी जाएगी। प्रस्थानत्रयी क्या है—

'प्रस्थानत्रयी' वैदिक धर्म के आधारभूत माने जाने वाले मुख्य तीन ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों भागों का नियमानुसार तथा तात्विक विवेचन किया गया है। ये तीन हैं, उपनिषद्, वेदान्त सूत्र और गीता। प्रस्थानत्रयी का दिनों-दिन अधिकाधिक प्रचार होने पर वैदिक धर्म के लोग उन मतों और सम्प्रदायों को गौण अथवा अग्राह्य मानने लगे, जिनका समावेश उक्त तीन ग्रन्थों में नहीं किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के पतन के बाद वैदिक धर्म के जो सम्प्रदाय (अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि) हिन्दुस्तान में प्रचलित हुए उनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य को, प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों पर (अर्थात् उपनिषद्, वेदान्त सूत्र और गीता पर) भाष्य लिखकर, यह सिद्ध कर दिखाने की आवश्यकता हुई, कि इन सब सम्प्रदायों के प्रचलित होने के पहले ही जो तीन 'धर्मग्रन्थ' प्रमाण समझे जाते थे, उन्हीं के आधार पर हमारा सम्प्रदाय स्थापित हुआ है और अन्य सम्प्रदाय इन धर्मग्रन्थों के अनुसार नहीं हैं। ऐसा करने का कारण यही है कि यदि कोई आचार्य यही स्वीकार कर लेते कि अन्य सम्प्रदाय भी प्रमाणभूत धर्मग्रन्थों के आधार पर स्थापित हुए हैं, तो उनके सम्प्रदाय का महत्त्व घट जाता—और, ऐसा करना किसी भी सम्प्रदाय को इष्ट नहीं था। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की यह रीति जब चल पड़ी, तब भिन्न-भिन्न पण्डित अपने सम्प्रदायों के भाष्यों के आधार पर टीकाएँ लिखने लगे। यह टीका उसी सम्प्रदाय के लोगों को अधिक मान्य हुआ करती थी जिसके भाष्य के अनुसार वह लिखी जाती थी।

इस पृष्ठभूमि में गुरु नानक की स्वाधीन चिन्तना का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जिन दिनों सारा भारतवर्ष अपनी बात को आप्त वाक्यों द्वारा समर्थित सिद्ध करने का प्रयास कर रहा था, व्याकरण और मीमांसाशास्त्र की बताई विधियों का सहारा लेकर हर प्रतिकूल बात का अर्थ बदलने में व्यस्त था, गुरु नानक और उनके अनुयायियों ने इस बन्धन को अस्वीकार कर दिया। वे सीधी बात को सीधी भाषा में कहते थे। यह आवश्यक नहीं कि वह परम्परा से एकदम विच्छिन्न हो, पर यह भी आवश्यक नहीं कि पद-पद पर वह उसके समर्थन का मुहताज हो। क्या है वह गुरु का अनुभूत सहज सत्य ?

गुरु ने परमात्मा को सत्य रूप माना है। वह अतीत का सत्य है, वर्तमान का सत्य है और भविष्य का भी वह त्रिकालातीत भी सत्य है।

आदि सचु, जुगादि सचु। है भी सचु नानक होसी सचु। सत्य का अर्थ ही 'है' है। परम्परा क्रम से हम जिस सच्चिदानन्द को सुनते आए हैं उसके तीन तत्त्व हैं, सत्, चित् आनन्द। उसकी सत्ता त्रिकाल में है इसलिए वह सत् है। काल हमारी सीमित दृष्टि का आभासित तत्त्व है। इसलिए केवल यह कहना कि वह अतीत, वह वर्तमान और भविष्य में बना रहता है, बहुत कम करके कहना है। वह काल से परे है—अकाल रूप है। वह अयोनि है, स्वयंभू है—

एक ओंकार सति नाम करता पुरुष निरभउ निरवैर
अकालमूरति अजूनी सैभं गुर परसादि'

सो, गुरुजी परम प्राप्तव्य को 'सत्य रूप' मानते हैं। जो सत्य रूप है वह सत्य से ही प्राप्त हो सकता है, मौन से, व्रत से, उपवास से, कृच्छ्र आचारों से उसे नहीं पाया जा सकता। सिद्धियों से, सांसारिक समृद्धियों से, धन से, मान से, वह अलभ्य है, अलह है।

सोचै सोचि न होवई,
जो सोची लख वारि।
चुपै चुप न होवई
जे लाय रहां लिवतारि॥
भुखियाँ भुखि न उत्तरी
जे बन्ना पुरिआं भारि॥

उसके पाने का मार्ग है, उसी के नाम-गुण का श्रवण, उसी का मनन और उसी का ध्यान—श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

श्रवण का बहुत माहात्म्य है।

फिर मनन भी आवश्यक है—

निदिध्यासन के लिए प्रमुख साधन 'पंच' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'पंच' या 'पंज' शब्द का प्रयोग गुरुजी ने अन्यत्र भी किया है। जान पड़ता है यह संस्कृत 'प्रजा' का पंजाबी रूप है : शुभ बुद्धि ही 'प्रज्ञा' या 'पंजा' है—

पंच परवाण पंच परधानु।
पंचे पावहि दरगहि मानु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचे सोहिहि दरि राजानु।
पंचा का गुरु एक धियानु।।

प्रज्ञा ही प्रमाण है, प्रज्ञा ही प्रधान है। प्रज्ञा से ही दरगाह में मान मिलता है। प्रज्ञा का ध्यान एकमात्र गुरु ही होना चाहिए। जिस मनुष्य की प्रज्ञा एकमात्र गुरुपरक होती है वही स्थितप्रज्ञ होता है।

गुरु नानक का परमात्मा पर अखण्ड विश्वास था। वे मानते थे कि हमारे प्रत्येक श्वास-प्रश्वास का हिसाब उसके पास है। ऐसा भक्त ही सच्चे अर्थों में निर्भय हो सकता है। जब उसकी मर्ज़ी के बिना कुछ भी नहीं हो सकता तो मृत्यु का भय और जीवन का लोभ दोनों ही मिथ्या सिद्ध होते हैं। भक्त न तो मरण की चिन्ता से उद्विग्न होता है न जीवन के प्रलोभनों से विचलित—

मरणै की चिंता नहीं, जीवन की नहीं आस।
तू सर्व जिया प्रतिपालही लेखे सासि गिरासि।।

भय का अस्तित्व ऐसे भक्त के लिए है ही नहीं। केवल एक बात का ध्यान उसे बना रहता है। कहीं ऐसा न हो कि मन सत्य मार्ग से विचलित हो जाए। परन्तु जिसे सत्य का साक्षात्कार हो गया है—सत्य, जो स्वयं परमात्मा का स्वरूप है उसका यह भय मिट जाता है। सत्य का भय उसे परमात्मा के और निकट ले आ देता है। वह और भी मगन होकर भगवद्रस का पान करने लगता है। जिसने ज्ञानलभ्य इस महारस का पान कर लिया है, उसकी सांसारिक माँगवृत्ति निवृत्त हो जाती है—

मन वैरागी घरिवसै सच भय राता होइ।
ज्ञान महारस भोगवै बाहुहि भूख न होइ।।

यह ज्ञान महारस केवल गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है। शास्त्रों के अध्ययन से, बाह्य अनुष्ठानों से और अर्थहीन आचारों से वह अलभ्य है। शास्त्र विवेक दे सकते हैं, ज्ञान को जीवन का अविच्छेद्य अंग नहीं बना पाते। गुरु नानक कहते हैं—

पढ़ि पुस्तक संध्यावादं। शिल पूजसि बगुलसमाधिं।
मुखि झूठ विभूषत सारं। त्रैपालनिहाल विचारं।
गलि माला तिलक लिलाटं। दुई धोती वस्त्र कपाटं।
जो जानसि वरम्ह करमं। सभ फोकट निश्चै करमं।
कहु नानक निश्चै ध्यावै। बिन सतगुरु बाट न पावै।

अरे ओ पंडित, तू पुस्तक पढ़ता है। संध्या-वंदन करता है, शिला की पूजा करता है और बगले की तरह अर्थहीन समाधि लगाता है! भाई मेरे तेरा मुख सत्य से नहीं मिथ्या से विभूषित है, तेरे विचार निस्सार हैं। तू गले में माला और ललाट पर तिलक देता है, पर तेरा हृदय धौत वस्त्र और उत्तरीय के दो कपाटों से बन्द है—तू केवल ऊपरी दिखावा कर रहा है। भाई मेरे जो तू ब्रह्म का विचार जानता तो इन सारे कर्मों की व्यर्थता भी जान जाता। नानक कहते हैं कि निश्चित रूप से समझ ले सत्यात्मक गुरु के ध्यान के बिना मार्ग नहीं मिलता।

सत्य ही परमात्मा का रूप है। परन्तु सत्य क्या है? बहुत प्राचीन काल से इस देश के मनीषियों ने इस पर बहुत ऊहापोह किया है। महाभारत में ऐसे बीसियों प्रसंगों का उल्लेख करके पुराण मुनि व्यास ने इसे शुद्ध बुद्धि द्वारा ग्राह्य होने की ओर इशारा किया है। केवल एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। सनत्कुमार के प्रसंग में सत्यवादिता जैसे अत्यन्त निर्विवाद धर्म के बारे में कहा गया है कि सर्वत्र सत्य बोलना भी अच्छा नहीं है। जहाँ सत्य बोलने से लोक-कल्याण में बाधा पड़ती हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि 'सत्य बोलना प्रशस्त है', यह ठीक तो है, परन्तु सत्य से भी बड़ी वस्तु है प्राणिमात्र की हितचिन्ता। इसीलिए सत्य वही है, जिससे सर्वभूत का आत्यन्तिक हित या कल्याण होता हो, वह नहीं जो मुँह से बोला जाता है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वेदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तम्, एतत्सत्यं मतं मम।।

शान्ति ३२९-१७

शास्त्रों में ऐसे और भी प्रसंग हैं, जहाँ सर्व प्राणिमात्र की कल्याण भावना को धर्म के मूल तत्त्वों अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह (मनुस्मृति १०-६३) आदि से श्रेष्ठ बताया गया है। ऐसे कथनों का तात्पर्य यह हुआ कि सर्व भूतमात्र की कल्याण बुद्धि से किया हुआ कार्य ही धर्म कार्य है। उसके अनुसार सामाजिक कल्याण के अनुकूल सत्यादि धर्म ग्राह्य है और प्रतिकूल होने पर अग्राह्य है। सत्य या अहिंसा, इसलिए धर्म नहीं है कि वे सत्य और अहिंसा हैं, बल्कि इसलिए कि उनसे प्राणिमात्र का कल्याण होता है। जहाँ प्राणिमात्र के कल्याण के साथ सत्य या अहिंसा समझी जाने वाली वस्तु का विरोधी हो, वहाँ समझना चाहिए कि वह तथाकथित सत्य और अहिंसा वस्तुतः सत्य और अहिंसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। इसलिए तुलाधार ने जाजलि को उपदेश देते हुए कहा था कि जो व्यक्ति प्राणिमात्र के हित में नित्य रत है, वही धर्म को जानता है। (शान्ति २६१-६)।

स्वयं गुरु नानक ने प्रज्ञा या शुद्ध बुद्धि पर जोर दिया है, ऐसी प्रज्ञा जो गुरु-केन्द्रित हो, गुरु ही जिसका एकमात्र ध्यातव्य हो। यहाँ गुरु स्पष्ट ही अन्तरतर की महाज्योति का नाम है जिसके प्रकाश से सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है। अपनी-अपनी संकीर्ण सीमाओं के भीतर हम जो कुछ देखते हैं वह वास्तविक सत्य नहीं है। वास्तविक सत्य अपनी छोटी अहमिका या 'हउमै' को मिटाकर विश्वात्मा के साथ एकमेक होकर प्राप्त किया जा सकता है। तभी सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है।

मनुष्य अपने दृष्टिकोण से सुख-दुख को देखता है। मगर सुख-दुख का कोई एक ही मानदण्ड समस्त प्राणियों के लिए नहीं है। शास्त्र का यह कथन कि—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।

अर्थात् अपने ही समान जो प्राणिमात्र के दुख-सुख को देखता है वही वास्तव में देखता है, यह भी विचार सापेक्ष है। मुझे पानी में डूबे रहने से कष्ट होता है, इसलिए मछली को भी कष्ट होगा, यह कहना नितान्त उपहासास्पद है। वस्तुतः इस वाक्य का ऐसा अर्थ करना ही ठीक नहीं है। इसका तात्पर्य है कि अपनी अन्तरात्मा को जिस प्रकार स्वयं को प्रतिकूल परिस्थितियों में कष्ट और अनुकूल परिस्थितियों में अनुभूति होती है वैसा ही सबके लिए सोचना चाहिए। व्यक्ति-विशेष की अनुकूल परिस्थितियाँ अलग-अलग होंगी। इस प्रकार के वाक्यों का सारी दुनिया के साहित्य में उल्लेख है पर उपरले स्तर की सच्चाई है। जिस व्यक्ति का हम उपकार करना चाहते हैं, उसका सचमुच उपकार कर रहे हैं या नहीं, इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। ऊपर के उदाहरण से इतना तो स्पष्ट है कि उपचिकीर्षु (उपकार करने का इच्छुक) का अनुभव प्रमाण नहीं। रही यह बात कि उपकार्य (जिसका उपकार किया जा रहा है) का अनुभव प्रमाण हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं जँचती, क्योंकि हैजे के रोगी से पूछो तो वह ठंडा पानी पीने से ही अपना उपकार मानेगा, परन्तु वह उसके लिए हानिकर है। सही बात तो यह है कि उपकार करना, सुधार करना आदि बातें बहुत गहराई तक नहीं जातीं, क्योंकि ये भी सीमित अहंकार की देन हैं।

गुरु नानक उस काल के नाथ साधकों की भाँति स्वीकार करते हैं कि यह मनुष्य का शरीर समस्त ब्रह्माण्ड का ही एक छोटा प्रतिरूप है। जो कुछ इस पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है, 'जोइ-जोइ प्यंडे सोइ ब्रह्माण्डे'। इसका अर्थ यह है कि अगर अपने अन्तरतर की ज्योति को पहचान लिया गया तो ब्रह्माण्डव्यापिनी महाज्योति को पहचान लिया जा सकता है। वस्तुतः मनुष्य उतना ही जानता है जितना उसको अन्तरतर के चैतन्य से एकमेक हुआ रहता है। हम जब कुछ नई बात जानते हैं तो होता सिर्फ यह है कि हमारे चैतन्य पर पड़ा हुआ एक पर्दा हट जाता है। परन्तु जानना ही बहुत बड़ी चीज़ नहीं है। बड़ी चीज़ है ज्ञान को जीवन का अविच्छेद्य अंग बनाना। सत्य जब आचरण में रूप ग्रहण करता है तो धर्म बनता है। जो चीज़ केवल जानकारी के रूप में कही जाती है वह 'कथनी' मात्र है। 'करनी' के साथ जब तक वह एकमेक नहीं हो जाती तब तक वह भार मात्र सिद्ध होती है। वही पुरुष महात्मा होता है जिसकी कथनी और करनी में भेद नहीं होता। परन्तु इतना होने के बाद भी 'सत्य' 'हित' नहीं बनता। कोई महात्मा बहुत सच्चा है, पवित्र है, भगवद्भजन में निरंतर लीन है, जीवन्मुक्त है तो हमारी श्रद्धा का पात्र है। वह प्रणम्य है। पर साधारण मनुष्य के लिए वह दूर की चमकीली वस्तु ही है। उसे देखकर हमें प्रसन्नता होती है। परन्तु ततः किम्? मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा था—'ये नाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्' अर्थात् मैं जिस बात से स्वयं अमृत नहीं बन जाती उसे लेकर मैं क्या करूँगी? कोई बहुत बड़ा सिद्ध हो गया, अच्छी बात है, पर साधारण सांसारिक जीवों को क्या मिला? जब सत्य जीवन में इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि वह अन्तरतर को परिपूर्ण करके बाहर भी ज्योति विकीर्ण करने लगता है तो उसके प्रकाश में साधारण जन को भी अनायास प्रकाश मिलता है। अन्धकार में भटके हुए प्राणियों को रास्ता दिखाई देने लगता है। ऐसा ही महात्मा 'गुरु' रूप में प्रकट होता है। भगवान् की ज्योति के साथ वह जितना ही अधिक एकमेक होता है उतना ही वह समाज का सही मार्गदर्शन करता है। यह सोचकर नहीं कि मैं मार्गदर्शन कर रहा हूँ। सूर्य कभी नहीं सोचता कि वह मार्गदर्शन कर रहा है। उसकी ज्योति ही ऐसी होती है कि दुनिया अपना मार्ग ढूँढ़ने में समर्थ हो जाती है। उसकी ज्योति भटके हुओं को रास्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाती है। महागुरु ऐसा ही होता है। उसके निर्मल चरित्र में अपनी दीप्ति होती है। वह सत्य और प्रेम की साधना द्वारा स्वयं सत्य और प्रेम का रूप बन जाता है। गुरु नानक ऐसे ही महागुरु थे। उनकी अत्यन्त सीधी भक्ति-भावित वाणियों में कहीं भी इस बात का आग्रह नहीं है कि वे दुनिया को सुधारने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। ऐसा करना स्वयं 'हउमै' या क्षुद्र अहमिका का रूप बन जाता है। वे तो सच्चे हृदय से महाग्रहीता के चरणों में समर्पित कर देते हैं—'हे महागुरो मैं तेरी शरण आया हूँ। तू ही पाक परवरदिगार है। तेरी ज्योति से ही समूचा जगत् ज्योतिष्मान् है।' महाग्रहीता को दिया हुआ यह अर्घ्य ही धन्य है। तुलसीदास ने कहा था—'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' (जो तुम्हें जानता है वह तुम-रूप ही हो जाता है)। सत्य इसी अवस्था में आकर प्राणिमात्र को मार्ग दिखाने वाला प्रकाश बन जाता है। ऐसा सत्य केवल 'व्यक्ति सत्य' न रहकर 'सर्वभूत हित' बन जाता है। अहंकार से आच्छन्न बुद्धि द्वारा निर्णीत सत्य सीमा का सत्य होता है, वह सीमित सुख देता है। अपने-आपको सर्वात्मना उत्सर्गीकृत भक्त का सत्य, असीम का सुख होता है, वह प्राणिमात्र का असीम सुख होता है। उपनिषद् में कहा गया है, 'भूमैव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति'। गुरु नानक ने अपने-आपको उसी महाग्रहीता के चरणों में समर्पित कर दिया था। उनका सत्य सर्वजन के सुख का हेतु बना है। नानक महागुरु थे। उनकी ज्योति मानवता को प्रकाश देने वाली ज्योति हुई।

विचित्र है वह रसमय पुरुष। वह रस भी है, रसिक भी, रसास्वादी भी है। वह प्रिया भी है, प्रिय भी है, यह अलबेला प्रियतम प्रभु निखिल विश्व ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके रम रहा है। परम प्रेयान् के इस रूप की बलिहारी है—

आपे रसीआ आपि रसु आपे रावणहारु।
आपे होवै चालड़ा आपे सेज भतारु ॥१॥
रंगि रता मेरा साहिबु रवि रहिआ भरपूरि॥
आपे बहुविधि रंगुला सखीए मेरा लालु॥
नित रवै सोहागणी देखु हमारा हालु॥

अखण्ड प्रेम स्वरूप को जिसने अपना लिया है उसके आचरण में भेदभाव का स्थान कहाँ है। उसकी प्रत्येक गतिविधि भेदभाव को मिटाने में समर्थ होती है। गुरु नानक की प्रेम-साधना समाज में फैली हुई विषमता, छूतछात, साम्प्रदायिकता को दूर करने की अमोघ शक्ति के रूप में अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई।

भारतवर्ष में जाति-भेद और छूतछात का मनोभाव दीर्घकाल से चला आ रहा है। आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व यह मनोभाव और भी तीव्र था। हमारे इस देश में अनेक मनीषी हुए हैं जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थों के ऊपरी भेदों को, नानात्व को मिथ्या बताया है और एक ही अद्वैततत्त्व को सत्य घोषित किया है। परन्तु इस विस्मयकारी चिन्तन के बावजूद सामाजिक भेदभाव और समाज के अनेक वर्गों को अस्पृश्य मानते रहने का क्रम भी ज्यों-का-त्यों चलता रहा है। विचार के सत्य को परमार्थ सत्य और आचार के भेदभाव को व्यवहार सत्य मानकर संगति बैठा ली गई है। विचार और आचार के बीच दरार पैदा करने वाली ऐसी विसंगति की भी संगति लगा लेने का प्रयत्न एक बड़ा करिश्मा ही है पर इस देश में वह जम के बैठ गया है।

गुरु नानक ने इस व्यवधान को दूर करने का सफल प्रयत्न किया था। दीर्घकाल से चले आए हुए एकत्व की—नेह नानास्ति किंचन—की आवाज़ को उन्होंने नई शक्ति दी। मार्ग उनका प्रेम और मैत्री का था। उनका आदर्श निराकार, निरहंकार और निर्वैर सत्यपुरुष था, उनका बल कथनी और करनी के व्यवधान को पाटने पर था, उनका उपाय एकान्त भवन्निष्ठा और अकुण्ठ शरणागति था, उनकी एक विशेष निष्ठा 'गुरु' की शिक्षा पर थी।

कई विद्वानों ने कहा है कि 'गुरु' की मध्यस्थता उन्होंने साभी धर्म से ली। इस धर्म में ईश्वर और जीव के बीच एक पैगम्बर मध्यस्थ का कार्य करता है। यह बात कुछ अनावश्यक आडम्बर के साथ कही जाती है।

निस्सन्देह गुरु नानक के सामने महान् इस्लाम धर्म था। मुस्लिम सन्तों का सत्संग भी उन्होंने प्राप्त किया था और उनके संवेदनशील चित्त पर उसका प्रभाव भी पड़ा था। परन्तु उन्होंने समन्वय का मार्ग अपनाया था। भेदभाव जिसके मन में कभी आया ही नहीं उससे यह आशा करना कि सत्य के निर्णय में वह हिन्दू और मुसलमान का भेद करेगा, एकदम बेबुनियाद बात है। उन्होंने शक्तिशाली इस्लाम के उत्तम सिद्धान्तों को सहज भाव से अपनाया है। सहज भाव से मौलिक तत्त्वों को अपनाना ही सच्चा समन्वय है।

कुछ लोग धर्मों के नाम पर चलने वाले ऊपरी आचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को एक साथ जोड़ देने को समन्वय कहने लगे हैं। रोजा भी अच्छा और एकादशी भी अच्छी। त्रिपुंड धारण भी ठीक और कृपाण का पहनना भी ठीक। सलाम भी सही और नमस्ते भी सही। इस प्रकार समन्वय आरम्भ किया गया है। समन्वय की यह नीति ठीक नहीं जँचती। समन्वय में तत्तद् धर्मों के उन मूल तत्त्वों का ध्यान रखना आवश्यक है जिनको केन्द्र करके इन बाह्य आचारों को अपनाने लगे, जो भिन्न-भिन्न धर्म के पालन करने वाले ग्रहण करते हैं। समन्वय का अर्थ यह है कि हम मनुष्य की मूल एकता को स्वीकार करें, और उस विशाल मानवता वाली दृष्टि को अपनाएँ जो समग्र मनुष्य जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार की कुशिक्षा, कुसंस्कार और अभावों के बन्धन से मुक्त करके उसे जीवन की उच्चतर चरितार्थता की ओर ले जाने का प्रयास कर रही है। गुरु नानक ने इसी मूल तत्त्व को पकड़ा था।

कार्य और अकार्य, कर्तव्य और अकर्तव्य की क्या कसौटी होनी चाहिए, इस विषय पर अनेक शास्त्र लिखे गए हैं। क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है, यह दीर्घकाल से सामाजिक नैतिकता के मनीषियों का विचारणीय विषय रहा है। गुरु नानक व्यक्तिगत शुचिता और सार्वभाव से आत्मार्पण की महिमा घोषित करते हैं। वे मनुष्य के चित्त से अहंकार, भय और लोभ का उन्मूलन करने पर बल देते हैं। जो चित्त अहंभाव, भय और लोभ से मुक्त होता है वह अनायास सामाजिक मंगल की ओर प्रवृत्त होता है। अहंकार वस्तुतः अपने-आपको सबसे अलग समझने के कारण ही होता है। अहंकार अर्थात् पृथकत्व बुद्धि। गुरु नानक ने कहा है—मन मेरे तू क्षुद्र अहमिका का अभिमान छोड़ दे और हरि-रूप गुरु के शीतल सरोवर का सेवन कर। तभी तू उसके दरबार में आदर पा सकेगा—

मन रे हउमे छोड़ि गुमानु।
हरि गुरु सरवर सेवि तू पावहि दरगहि मानु।

सिरी रागु, महला १

अपने-आपको जगत्-प्रवाह से विच्छिन्न समझने वाले के मन में ही मैं और मेरा अहंकार और ममता के भाव आते हैं। जिसने अपनी आभा को महागुरु के चरणों में समर्पित कर दिया है उसे अहंकार और मिथ्या गर्व हो ही नहीं सकते। 'हे प्रभु तू इतना बड़ा दाता है, देवनहार है कि तेरी भक्ति के भाण्डार में कभी कोई त्रुटि नहीं आती। कहाँ का गर्व और कैसा अहंकार? गर्व करने से कुछ हाथ नहीं लगता। किस बात का गर्व किया जाय? यह जीव भी तेरा, यह शरीर भी तेरा। मेरा है ही कहाँ कि ममता का आकर्षण हो—

तू एवडु दाता देवणहारु।
तोटि नाही तुधु भगति भंडारि।
कीआ गरबु न आवै रासि।
जीउ पिंडु सभु तेरै पासि॥

भक्ति-भावना की विशाल पटभूमि पर लोभ, मोह, भय, भ्रान्ति, अहंकार, ममता की समस्याओं को सुलझाने का यह प्रयत्न बहुत ही प्रशंसनीय है। इसमें परमार्थ और व्यवहार का द्वन्द्व नहीं है, कथनी और करनी का व्यवधान नहीं है और व्यक्तिसत्य और समष्टिसत्य की निरर्थक ऊहापोह भी नहीं है! जो भी अहंकार, भय, लोभ और तृष्णा द्वारा चालित वह मनमुख है इसलिए त्याज्य है। जो भी अन्तरतर की ज्योति के सम्मुखीन है वह ग्राह्य है, गुरुमुख होने से वह स्वीकार्य है। जो मनमुख होता है उसे ममता सताती रहती है, वह पुत्र-कलत्र की धन-सम्पत्ति को अपना समझकर 'तेरा-मेरा' के चक्कर में पड़ा रहता है। इसी का नाम भवजाल है। वह उलझता है, छटपटाता है, वह काम-वासना से विचलित होता है, सम्पत्ति के नष्ट होने के भय से कातर हो जाता है वही असामाजिक हो जाता है—

मनमुखु जाणै आपणे धीआ पूत संजोगु।
नारी देखि विगासी अहि नाले हरखु सु लोगु।

परन्तु जो गुरुमुख होता है, जिसकी चित्तवृत्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तरतर को महागुरु की ओर प्रवृत्त रखती है वह दिन-रात हरि रस का पान करता रहता है—

गुरुमुखि सबदि रंगावले अहनिसि हरिरसु भोगु॥

हरिरस—चरम प्राप्तव्य, समष्टि सत्य, अगजग-व्यापिनी मंगलेच्छा। यही व्यक्तिसत्य है, यही समष्टि-सत्य—जोइ-जोइ प्यंडे सोइ ब्रह्माण्डे।

अन्यायी से भय न पाने वाला ही सच्चे अर्थों में निर्भय है, पर निर्भयता के साथ-ही-साथ निर्वैरता भी होनी चाहिए। नानक ने कहा था डरो मत और डराओ मत। निर्भय भी बनो और निरहंकार भी बनो और निर्वैर होना भी मत भूलो। इसलिए नहीं कि यही सफल जीवन-यात्रा की नीति है बल्कि इसलिए कि सत्यात्मा गुरु स्वयमेव ऐसा है और उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम पाने का यही मार्ग है। दूसरे मार्ग धोखा हैं। गुरु ने कहा दुखियों की सेवा करो, सब पर दया करो, इसलिए नहीं कि इससे समाज की व्यवस्था सुधरती है बल्कि इसलिए जो परमगुरु है उसका ऐसा ही स्वरूप है। गुरु ने कहा, अपने-आपको उलीचकर दे दो, जो कुछ है उसे महाग्रहीता को निछावर कर दो, इसलिए नहीं कि ऐसा करने से सामाजिक मंगल की साधना होती है, बल्कि इसलिए कि वह प्रभु स्वयं महादाता है, परमदेवणहारु है, उसका प्रेम इसी मार्ग से पाया जाता है। अपूर्व है यह तत्त्वज्ञान। यह वह भक्ति है जो सब-कुछ को छापकर सत्य का जयोद्‌घोष करती है।

इतिहास साक्षी है कि गुरु के इन उपदेशों ने सामाजिक क्रान्ति का द्वारा खोल दिया। वह प्रक्रिया जारी है। आज भी उसकी प्रभाविनी शक्ति कार्यरत है।

पाँच-सौ वर्ष बीत गए। भारतवर्ष के विशाल आकाश के नीचे न जाने कितनी घटनाएँ घटीं। धरती को न जाने कितनी बार रक्तस्नान से सिक्त होना पड़ा, अन्याय और शोषण ने न जाने कितने ताण्डव किए, पर कार्तिकी पूर्णिमा का चाँद अपनी स्निग्ध शामक शोभा उसी प्रकार बिखेरता जा रहा है, गुरु की पवित्र वाणी उतनी ही स्निग्ध ज्योति विकीर्ण कर रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु नानक देव : एक समसामयिक मूल्यांकन

अत्तर सिंह

पिछले वर्षों में सिक्ख-अध्ययन इतिहास के गुरु नानक से निष्ठा के गुरु नानक के विशेषीकरण की एक सम्भावना को आँकने की सीमा तक आगे बढ़ चुका है। इसका यह अर्थ नहीं कि गुरु नानक के बहुमुखी भव्य व्यक्तित्व का कोई नया पहलू प्रकाश में आया है या ऐतिहासिक प्रमाणों के ज़रिये कोई ताज़ी क्रान्तिकारी खोज की गई है। वास्तव में ये अध्ययन भी उस कार्य को पूर्ण करने में सक्षम नहीं रहे हैं, जो उन्हें गहरी और उच्च श्रेणी की सार्थक शोध के लिए एक सुरक्षित आधार प्रदान करता। यहाँ तक कि ऐसा विशद ऐतिहासिक अध्ययन-कार्य अभी तक प्राप्य नहीं बनाया गया है जिसकी कि अपने कृत्यों के द्वारा गुरु नानक ने महत्त्वाकांक्षा की थी और जिन्हें प्राप्त किया था। हुआ यह है कि विद्वानों का एक नया सम्प्रदाय आ खड़ा हुआ है, जिनकी खोजें निष्ठा-परक उपदेशों तक ही समाप्त नहीं हो जातीं। गुरु नानक के कार्यों और जीवन के बहुत-से पहलू हैं और यह नयी विद्वत्ता एक ऐसी प्रक्रिया तैयार करने में लगी हुई है, जो कि भजनों की निष्ठा से टकराये बिना भी इनकी एक गहरी और उचित समझ प्राप्त कर सके।

सौभाग्यवश हमारे लिए एक प्रमुख और सर्वाधिक प्रामाणिक आधार, जिसके ऊपर गुरु नानक के व्यक्तित्व की पुनर्रचना सम्भव है, आदि ग्रन्थों में सम्मिलित उनका अपना कृतित्व है। 'जनम साखी' के रूप में जनपरिचित उनके जीवन की कहानियाँ मात्र ऊपरी ढाँचे की रेखाओं को प्राप्य बनाती हैं। यदि हम ऐतिहासिक प्रमाणों पर उनकी निर्भरता जैसी बहसों में न उलझें, तब भी, हम इस सचाई से नहीं बच सकते कि इन साखियों का गुरु नानक एक ऐतिहासिक घटना है, कि वह बाह्य परिस्थितियों में से होने वाले विकास में एक व्यक्तित्व के रूप में, एक अन्तर्मुखी तनाव के रूप में चित्रित नहीं किया गया है। इन साखियों में हम गुरु नानक को अपनी परम्पराओं और अपने समय के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थानों को अस्वीकार करते हुए पाते हैं; अपने सगे स्नेहियों को छोड़ते, अपने माता-पिता, पत्नी और बच्चों को छोड़ते, सामन्त सरदार द्वारा सेवा के लिए मुक़दमों का सामना करते मानव के लिए कष्टों के सर्जक राजनीतिक उभारों का सामना करते, सत्य की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए और अपने दर्शन का प्रवचन करते हुए पाते हैं। और एक सम्पूर्ण जीवन से भी बड़े, इन अनुभवों के दौर से गुज़रते हुए गुरु नानक की एक ऐसी मूर्ति हमारे सम्मुख आती है जो लोगों के लिए भावुकता से सम्बद्ध होने से परे है। एक संवेदनशील आत्मा की सारी पीड़ाएँ, एक अन्वेषणशील मस्तिष्क की सारी समस्याएँ, एक जिज्ञासु चेतनता के सारे प्रश्न, और वस्तुतः ही इस मूर्ति में अस्तित्ववादी स्थिति के किसी भी मनोभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। इस बात को स्वीकार करने के लिए हमें स्वयं उनकी रचनाओं, और उनके प्रसिद्ध साथी भाई मरदाना द्वारा उनके गायन के लिए रचित रचनाओं से बहुत-कुछ उद्धृत करना पड़ेगा। यहाँ फिर हमारे सम्मुख वही कठिनाई उठ खड़ी होगी कि उनकी रचनाओं को किस दृष्टि से देखा जाय। और यही वस्तुतः गुरु नानक की गुत्थी को समझने के उद्यम की निर्णायक लड़ाई लड़ी जायगी और जीती जायगी।

गुरु नानक की कविताएँ पवित्र पाठ्य-पुस्तकें हैं। उनमें सिक्ख-आन्दोलन को चलाने वाला अमर दर्शन सुरक्षित है। इसके बावजूद इन कविताओं में कल्पना की ऐसी ऊँची उड़ान है, संगीत से इस तरह सन्तुलित हैं, कि इनके माध्यम से तात्कालिक सौन्दर्य-बोध हमारे सामने आता है। इन रचनाओं की धार्मिक प्रवृत्ति और व्यंग्यात्मक टोन के बीच, उनके उच्च नैतिक भक्ति-भाव और कलागत संरूप के बीच, मनुष्य अस्तित्व की विविधताओं पर दृष्टि रखने तथा उनकी बहुरूप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शी ऐन्द्रिय आकर्षणों के बीच, उनकी भविष्य के प्रति और वर्तमान सम्बद्धता के बीच, जो एक प्रकार का तनाव है, अन्तर्विरोध है, उसे गुरु नानक के युग में उनका विश्व से जो सम्पर्क हुआ उससे सम्बद्ध करना होगा। अधिकतर व्याख्या-कार और प्रचारक उनकी उन्हीं कविताओं को चुनते हैं जो गुरु नानक के अतिमानवीय वास्तविकता में संलग्न व्यक्तित्व को ही प्रदर्शित करती हैं या जिनमें अपने युग की बुराइयों की आलोचना होती है। उन पंक्तियों और उद्धरणों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, जो इनकी खोज में व्यथा और उल्लास को प्रदर्शित करती हैं। हर समय गुरु नानक बाहरी दुनिया की ओर अपनी दृष्टि रखते हैं, और उस दुनिया की ओर जो पीछे है; वे अपने वस्तुगत या तात्विक ज्ञान का समाधान अपने अन्तर्मुखी दर्शन में या दृष्टि से करते हैं।

कलि कातो राजे कासाई
धर्म पंख करि उडरिआ
कूड अमावस सच चन्द्रमा
दीसै नाही कै चड़िया
हडं भालि विकुन्नो होई
अँधेरे राह न कोई

[समय एक चाकू के समान है और राजा कसाई है, नियम उड़ता हुआ पंख है; झूठों की गहरी अँधेरी रात में मैं सत्य के चन्द्रमा का उगना नहीं देख सकता; मैंने सब जगह तलाश लिया इस अँधियारी में कहीं रास्ता नहीं सूझता। अन्दर जो घमण्ड है न! वही दुःखों का मूल है। हे नानक! अब हम कल पर किस तरह जीवित रहेंगे?]

इन और ऐसे क्षणों में ही गुरु नानक की खोज वास्त-विकता के साथ उनकी व्यक्तिगत और व्यक्तिकृत सम्बद्धता प्राप्त कर लेती है। यह सम्बद्धता एकदम प्रामाणिक और ईमानदार है। यह कहना पर्याप्त है कि जागरूकता के इस स्तर पर न केवल उनके समय के परम्परागत धार्मिक विश्वासों बल्कि उनकी अपनी ही भक्ति और निष्ठा पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है। अपने चारों ओर के जीवन के रहस्यों और ईश्वरीय विधान के मध्यस्थ रहकर वे इस पहेली को समझते हैं।

जेते जीअ जीआं का तोहि
कित को साहिबु आवहि रोहि

[सभी जीव तुम्हारे हैं, तुम्हीं केवल उनके हो, फिर हे ईश्वर, यह क्रोध और दैव-दुर्विपाक क्यों?]

या—

एति मारि पई कुतलाणे
तैं को दरद न आया

[क्या तुझे मौत दिखाई नहीं देती? क्या तुझे यह रोना सुनाई नहीं पड़ता? क्या तेरा हृदय दुःख से नहीं भर जाता?]

गुरु नानक के व्यक्तित्व के इस पहलू की ओर आपका ध्यान आकर्षित करके मैं यह कहना चाहता हूँ कि उनकी काव्य-दृष्टि की शुद्धता को उनके धार्मिक संदर्भों और उनकी कृतियों की कथन-शैली के अन्तर्गत ही समाहित नहीं किया जा सकता। और इस रूप में, इस विशिष्ट क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन निश्चित रूप से उनकी मानसिक और आत्मिक प्रतिपादन के अन्तर्विरोधों या तनावों को दुह-रायेगा। साथ ही उनके भक्तिमय भजनों के साथ उनके सम्पूर्ण वातावरण को उजागर करने वाली सूक्तियाँ भी हैं। ये सूत्र केवल निष्ठा से नहीं बल्कि गहरे सामान्य ज्ञान से संतुलित यथार्थ की आलोचनापरक दृष्टि से पोषित हैं। गुरु नानक का चमत्कार, यदि व्याख्या इस प्रकार भी की जाये तो, एक नए धार्मिक अनुशासन के कायम करने में नहीं बल्कि धार्मिक निष्ठा और सजगता को सामाजिक परिवर्तन का हथियार बना देने में है। गुरु नानक का युग अधिकारवादी राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थानों का युग मध्य युग था। यह मध्ययुगीन विश्व नियम एक ओर तो परम्परा के आधिपत्य के प्रति श्रद्धा पर टिका था और दूसरे विधर्मी आचरण के लिए दी जाने वाली सजा के डर पर कायम था। मध्ययुगीन विश्व-नियम के ये दोनों ही पक्ष गुरु नानक द्वारा विवेचित हुए हैं। गुरु नानक मूलभूत अभिधारणा से शुरू करते हैं—

सोचै सोचि न होवई
जे सोची लख बारि
चुपै चुप न होवई
जे लाय रहां लिवतारि
भुखियाँ भुखि न उत्तरी
जे बन्नां पुरीआं भारि
सहस सिआणप लख होवहि
तां इक न चलै नालि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किव सचिआरा होईऔ
किव कूड़ तुटै पालि

[केवल चिंतन से ही वह नहीं जाना जा सकता चाहे लाख बार चिंतन करो; न मौन से वह जाना जा सकता है, विश्व का कोई धन उसके लिए भूख नहीं मिटा सकता; हज़ारों युक्तियाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं; तब फिर सत्य को कैसे जाना जा सकता है? झूठे भ्रमों के नक़ाबों को कैसे दूर किया जा सकता है?]

वे सत्य, रहस्य, ध्यान, अर्जन आदि के विभिन्न रास्तों के नकार पर ही अपनी बात समाप्त नहीं करते। इसके विपरीत गुरु नानक अपनी समस्या को लिए चलते हैं और एक खोज को लेकर सामने आते हैं—

काल नाही जोग नाही नाही सति का ढब
थानिसट सब भृष्ट होय डूबता इव जग

[समय का कोई मूल्य नहीं है, योग, तप की कोई संगति नहीं है, नानक कहते हैं कि सत्य की खोज को भुला दिया गया है। ये वस्तुतः इस विश्व नियम रूपी रिसते जहाज़ के डूबने के चिह्न हैं, कि इसके सभी विश्वास और सभी संस्थान भ्रष्ट हो गए हैं।]

मानव की दृष्टि को धुँधला करने वाले इन सभी कारणों के विरुद्ध कठोर संघर्ष के माध्यम से गुरु नानक ने अपने समय के सभी संस्थानों के आधिपत्य को समाप्त करने का प्रयास किया है और मानव पर छाए उनके भय को दूर करने की कोशिश की है। उन्होंने यह न केवल इनको इन्हीं के आदर्शों के विरुद्ध बताकर किया है बल्कि इन संस्थानों के द्वारा मानव पर किये गए अत्याचारों का भण्डाफोड़ करके, उनके उद्भव और उनकी परिवर्तित प्रकृति को बताकर भी किया है। गुरु नानक ने शासकों के दुष्कर्मों पर ही प्रहार नहीं किया बल्कि उनकी असमर्थता का उद्घाटन करके, और इस प्रकार, मानव को ईश्वर और परिस्थितियों के विरुद्ध भी प्रदर्शित किया। इसी प्रकार उन्होंने न केवल धर्म-विधियों की व्यर्थता को बताया बल्कि धार्मिक ठेकेदार पुरोहितों के पूर्णतया स्वार्थी व्यवहार को भी खोलकर सामने रखा। इन दोनों ही क्षेत्रों में गुरु नानक के प्रयासों का लक्ष्य, अपने समय के संस्थानों को अपदस्थ करने, तथा उनके अतिमानवीय मुखौटों को उतारकर उनके असली मानवीय चरित्र को दिखाना था, जिससे कि आम आदमी उनकी चुनौतियों का मुकाबला करने में समर्थ हो सके। इस परिप्रेक्ष्य में गुरु नानक के व्यक्तित्व के प्रभाव पर विचार करते हुए हम यह स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने अपने अनुयायियों में अपनी दुःखद परिस्थितियों के प्रति आई उदासीनता को किस प्रकार तोड़ा और किस प्रकार उन्हें इतिहास की गति में सक्रिय भाग लेने के लिए उत्साहित कर सके। उनके इस प्रयास का एक और प्रतीक यह भी है कि उन्होंने संस्कृत भाषा और उसकी साहित्यिक परम्परा का परित्याग करके जनभाषा को अपनाया और उसकी नृत्य विधाओं, गीतों को अपने काव्यगत उद्देश्यों का सहायक बनाकर क्लासिकल संगीत की पद्धति के आडम्बरहीन रूप में संस्कारित किया।

अतः हम अनुभव करते हैं कि गुरु नानक की भूमिका का मूल्यांकन उन्हें उनके अपने युग से सम्बद्ध करके ही हो सकता है। ऐसा करने के लिए एक अत्यन्त समृद्ध प्रलेखन की आवश्यकता है जिससे कि उनके वातावरण को पुनरुज्जीवित किया जा सके और देखा जा सके कि उस समय सामान्य व्यक्तियों की भौतिक स्थिति क्या थी और किन विशिष्ट भय और आशाओं, स्वप्नों और असंतोषों से वे अपना जीवन-यापन करते थे। इस विशालदर्शी नाटक में गुरु नानक की भूमिका को तभी सावधानी से विश्लेषित किया जा सकता है और उन्हें विभिन्न स्वायत्त श्रेणियों में रखकर देखा जा सकता है यथा, उनका व्यक्तित्व, उनकी निष्ठा, उनकी विचारणा और उनकी कविता; और तभी हम उनके सम्पूर्ण को एक अगत्यात्मक एकता के रूप में नहीं (जैसा कि अब तक उन्हें प्रस्तुत किया जाता रहा है) बल्कि एक गत्यात्मक अन्तर्विरोध, तनाव के रूप में अनुभव कर सकते हैं। उनके प्रति हमारी श्रद्धा मार्ग का अन्त नहीं होनी चाहिए बल्कि प्रयाण का एक बिन्दु होनी चाहिए। केवल तभी हम उनके द्वारा प्रस्तुत की गई समस्या में भागीदार हो सकते हैं—

किव सचआरा होईऔ ?

[तब सत्य को कैसे जाना जा सकता है?]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाज़ार में

रमेशचन्द्र शाह

मैं
अनुभूति कर रहा हूँ
रंग और रूप की
परिक्रमा करते हुए
इस
बृहदाकार
स्तूप की···
जहाँ भी जाता हूँ
खोजने
अपना
संसार
वहीं लगा मिलता है
पहले से
मुझको
बाज़ार
मैं
क्या चाहता हूँ
क्या खोजता हूँ
कहीं मेरा यह प्रश्न ही
बिकाऊ न रक्खा हो यहाँ
घबड़ा जाता हूँ
मैं
हर 'भाव' का
भाव पूछता हुआ
आगे
बढ़
जाता
हूँ।

मेरी जेब में
रस्ते से बीने हुए
पत्थर हैं
जिन्हें मैं
जिस किसी के झोले में
चुपके
रख देता हूँ
जब यह खेल भी
ख़त्म हो जाता है
मैं
जेब की सारी रेज़गारी
हवा में उछालकर
"राम नाम सत्त है" जोर से
चिल्लाता हूँ
और
खुश होता हूँ
कि सारे खरीदार
झोला-झंटा छोड़कर
लगे हैं···
बटोरने···
किसको ख़बर है यहाँ
कौन
कब
किसकी
अर्थी में कन्धा देकर
कैसे
कहाँ
गुम
हो गया! ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुद्राओं की भाषा तथा विद्रोह की व्यावसायिकता

विजय मोहन सिंह

पिछले दिनों साहित्य में अधिकांश परिवर्तन 'यथार्थ' के नाम पर हुए हैं, इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि 'यथार्थ' आज के साहित्य का सर्वाधिक व्यभिचारग्रस्त शब्द बन गया है। बीते हुए कुछ वर्षों में अनेक कहानीकारों ने—जिन्हें 'भोगे हुए यथार्थ' के नाम पर पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई, 'यथार्थ' को 'वातावरण' से काटकर पेश किया। जबकि सच्चाई यह है कि केवल वातावरण से जुड़ा हुआ 'यथार्थ' ही यथार्थ हो सकता है—'भोगा हुआ यथार्थ' कहानी का अपने-आप में कोई गुण नहीं है, क्योंकि यह पूरा-का-पूरा तथाकथित 'भोगा हुआ यथार्थ', 'आत्मवंचना' (सेल्फ डिसेप्सन) का एक नमूना मात्र हो सकता है। आवश्यक है कि यह 'भोगा हुआ यथार्थ' (जो मात्र एक आत्मगत उद्घोषणा है) परिवेश-सम्पन्न हो। 'यथार्थ' की यही 'परिवेश-सम्पन्नता' उसे 'प्रामाणिक' बनाती है और 'भोगा हुआ यथार्थ' की सार्थकता केवल यही हो सकती है कि वह लेखक के 'आन्तरिक सत्य' का अंग बन चुका हो।

लगभग यही हाल 'यथार्थ' से जुड़े हुए दूसरे प्रचलित शब्द 'प्रामाणिकता' का हुआ है। 'प्रामाणिकता' की छीछालेदर आलोचकों ने कम कहानीकारों ने ज्यादा की, क्योंकि यह 'प्रामाणिकता' कहानीकारों के लिए लगभग उसी तरह की बैसाखी का काम करती रही जिस तरह 'परम्परा' और आधुनिकता' का सहारा लेकर साहित्य का एक हिस्सा घिसटता रहा है। 'प्रामाणिकता' को कभी 'भोगे हुए यथार्थ' से नत्थी कर बिल्ले की तरह लगाया गया और कभी छायावादी 'अनुभूति प्रवणता' से जोड़कर हर सांस का लेखा-जोखा रखने वाली 'प्रामाणिकता' बताया गया।

'यथार्थ' तथा 'प्रामाणिकता' के नाम पर होने वाले इस 'व्यभिचार' ने केवल 'आलोचना' और विचार की दिशा को ही विकृत नहीं किया है बल्कि कहानी के पूरे स्वरूप को बेमानी और बाज़ारू बना दिया है। ऊपर जिस 'परिवेश-सम्पन्न यथार्थ' की चर्चा की गई है, दरअसल प्रामाणिकता का सीधा सम्बन्ध उसी से है, क्योंकि साहित्य में प्रामाणिकता का प्रश्न साहित्य की उस मौलिक अक्षमता का द्योतक है जिसे बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का साहित्यकार सहसा अनुभव करने लगा है अर्थात् साहित्य को साहित्य के रूप में सार्थक होने की अपेक्षा अपने समय के सन्दर्भ में सार्थक और प्रामाणिक होना है अन्यथा यह बेजान और निकम्मा है। बीसवीं शती के साहित्यकार ने इस सत्य को अत्यन्त तीव्रता तथा व्यथा के साथ अनुभव किया कि सामान्यतः साहित्य का 'अच्छा' या बुरा' होना समाज के लिए कोई 'फ़र्क' नहीं पैदा करता। तमाम महत्त्वपूर्ण 'निर्णय' उससे अलग होकर ही लिए जाते हैं और साहित्यकार अपने को इस निर्णय-प्रक्रिया के 'बाहर' पाता है।

निरन्तर 'बाहर' होते जाने का यह बोध ही साहित्य में 'प्रामाणिकता' के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण बनाता है। साहित्यकार अपने समय के 'निर्णयों' में अधिक-से-अधिक कितना 'शामिल' हो सकता है, यह उसके साहित्य की 'प्रामाणिकता' की पहली शर्त है। इस रूप में 'प्रामाणिकता' निषेधात्मक आधुनिकता तथा सम्भावनाहीन अतीत के बीच एक सार्थक और धनात्मक खोज है। 'प्रामाणिकता' एक ओर परिवेश निरपेक्ष साहित्य की प्रतिक्रिया है तो दूसरी ओर परिवेश को बाह्य राजनीतिक स्तर तक सीमित करने वाले 'नारी-साहित्य' की प्रतिक्रिया भी है। 'प्रामाणिक' होने के क्रम में साहित्यकार साहित्य के विरुद्ध सारे षड्यंत्रों के बीच अपने को तथा अपने परिवेश को सार्थक बनाता है।

आज की हिन्दी कहानी 'यथार्थ' और प्रामाणिकता' से उत्पन्न होने वाली 'विडम्बना' से अपने को बचा नहीं पाई है और अपनी वर्तमान स्थिति में वह 'यथार्थ', 'प्रामाणिकता'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा इसी तरह के अनेक उत्सवघोषित शब्दों की व्याख्या बनकर जीने लगी है। अधिकांश कहानियाँ इसी कारण या तो 'मुद्राएँ' हैं या व्याख्या-स्थितियाँ मात्र।

इसलिए यह कहना झूठ नहीं होगा कि कहानियाँ या तो 'फार्मूलों' की भाषा अपना सकती हैं या 'स्लैंग्स' की। वर्तमान सन्दर्भ में यह एक विकल्पहीन स्थिति है और दो बुराइयों के बीच चुनाव करने की दुविधा तक ही पहुँचाती है। यह सही है कि 'स्लैंग्स' की भाषा, भाषा के अनुभवहीन सिद्धान्तों का आश्रय अभिव्यक्ति के लिए नहीं लेती—लेकिन 'स्लैंग्स' की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि वे प्रायः इकहरी भाषा का निर्माण करते हैं और प्रायः उनकी सीमा एक वैयक्तिक 'मैनरिज़्म' के रूप में निर्धारित हो जाती है। लेकिन ज़िन्दगी का यथार्थ कभी इकहरा नहीं होता—रचनात्मकता हमेशा अन्तर्विरोधों की पकड़ में होती है। पर विडम्बना यह भी होती है कि आगे चलकर इन 'अन्तर्विरोधों' के भी 'फार्मूले' बन जाते हैं और भाषा फिर अपने इकहरेपन में टँगी रह जाती है। दरअसल भाषा हमेशा अनुभवों को 'धारणाओं' (कॉन्सेप्ट्स) में बदलती रहती है। भाषा द्वारा वस्तुओं के धारणाओं में बदलने के इस क्रम में धारणाएँ (कॉन्सेप्ट्स) 'अनुभव' से अलग होती जाती हैं और ताज़ा अनुभवों से अलग होते ही 'धारणाएँ' 'फारमूलों' में बदल जाती हैं। अतः अनुभवों को उनकी ताज़ा स्थिति में पकड़ने के लिए 'स्लैंग्स' का इस्तेमाल काफी दूर तक सहायक सिद्ध होता है।

इधर के कुछ कहानीकारों ज्ञानरंजन, महेन्द्र भल्ला, रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह, गोविन्द मिश्र आदि में 'स्लैंग्स' के आधार पर भाषा गढ़ने का आग्रह दीख पड़ता है, लेकिन वहीं इन्हीं कहानीकारों में से कुछ की कहानियाँ पहले 'अनुभव' की धारणाओं में बदलती हैं फिर अपनी भाषा में उनका अनुवाद करने का प्रयास करती हैं। दूधनाथ सिंह की 'विकल्प'-३ में प्रकाशित कहानी 'सुखान्त' इसका उदाहरण है। कहानी में यथार्थ के सारे जीवित उपकरणों को लेकर एक अविश्वसनीय वातावरण रचा गया है जिसमें उन उपकरणों के बावजूद कहानीकार का सम्पर्क जीवित यथार्थ से टूट गया है और कहानीकार कहानी की अविश्वसनीयता में ही रस लेने लगता है, जबकि कहानी की यह 'अविश्वसनीयता' उसके 'यथार्थ' को अधिक तीव्र करने के लिए निर्मित होनी चाहिए थी। ठीक इसी के समानान्तर उसी अंक में प्रकाशित काशीनाथसिंह की कहानी 'सुबह का डर' में एक प्रचलित अमानवीयता का केन्द्र बनाकर परिवेश का 'इस्तेमाल' किया गया है और उसके बीच से एक विडम्बना को देखा गया है। काशीनाथ सिंह की कहानी में परिवेश का 'इस्तेमाल' है लेकिन उसका ध्यान दूधनाथ सिंह की तरह उस परिवेश में रस लेने की ओर नहीं है बल्कि उसकी अमानवीय परिणति की ओर है। इसी कारण जहाँ 'सुबह का डर' सपाटता की कीमत पर भी 'निच्छल' बनी रहती है वहीं 'सुखान्त' अतर्कित मुद्राओं में खो जाने वाली कहानी बन जाती है।

हिन्दी कहानियों में इधर विकसित होने वाले इस बारीक 'छल' को पकड़ना दिनों-दिन मुश्किल होता जा रहा है और 'भोगा हुआ यथार्थ' तथा 'प्रामाणिकता' के नाम पर अनेक मुद्राजीवी कहानियाँ उत्सवघोषित बनी रही हैं। इस 'भ्रम' का एक सीधा और सामयिक कारण है: कहानीकार अपने परिवेशगत 'यथार्थ' को व्यक्त करने के क्रम में उस 'अलगाव' (यहाँ 'अलगाव' की व्याख्या अप्रासंगिक है) को भी व्यक्त करता है जो उसके और 'यथार्थ' के बीच आ जाता है। अतः कहानीकार के 'यथार्थ' में इस 'अलगाव' को भी शामिल समझना चाहिए। लेकिन यहीं कहानीकार उस विडम्बना का भी शिकार होता है जो कहानी तथा उसकी भाषा में 'मुद्राओं' को जन्म देती है, क्योंकि तभी यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि कहानीकार उस 'अलगाव' को व्यक्त कर रहा है या अपने और 'यथार्थ' के बीच के 'अन्तराल' को अपनी 'मुद्राओं' से भरने की कोशिश कर रहा है। पिछले दिनों लिखी गई अनेक कहानियों में 'अलगाव' के नाम पर केवल 'अलगाव की मुद्राओं' को व्यक्त किया गया है।

कहानी की भाषा में 'मुद्राओं' की सृष्टि एक ओर इस 'अलगाव' के नाम पर हुई तो दूसरी ओर 'प्रतिबद्धता' के नाम पर। 'प्रतिबद्धता' ने 'अलगाव' से कम मुद्राएँ कहानी की भाषा को नहीं प्रदान कीं। कभी-कभी आश्चर्य होता है कि एक ही लेखक की भाषा में इस तथाकथित 'अलगाव' और 'प्रतिबद्धता' दोनों की मुद्राएँ प्राप्त हो जाती हैं। इस 'अलगाव' तथा 'प्रतिबद्धता' के मुद्राधारी लेखकों की संख्या '६० के बाद की कहानियों में विशेष रूप से बढ़ी है, क्योंकि जहाँ '६० के बाद कहानियों में परिवर्तन की 'पहचान' उत्पन्न हुई वहीं उस 'पहचान' की रूढ़ियाँ भी उसी तेज़ी से बनीं। वैसे एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तर पर कहानी की भाषा हमेशा से 'मुद्राओं' की भाषा रही है, क्योंकि कहीं-न-कहीं 'कहानी' की शुरुआत ही एक मौलिक 'छल' से होती है और मुद्राओं से घिरा हुआ यह कहानी का 'छल' क्रमशः कहानी का 'स्वभाव' बनता गया। कहानी-सम्बन्धी समस्त आन्दोलनों ने कहानी के इस 'छली स्वभाव' से ही अपने को मुक्त करने का प्रयास किया, लेकिन 'छल-मुक्ति' के इन आन्दोलनों ने कहानी को एक 'छल' से दूसरे 'छल' तक ही पहुँचाया और 'सामयिकता की रूढ़ियों' ने 'रूढ़ियों' की जगह ले ली।

मुद्राओं की इस भाषा की शुरुआत इस दौर में नए सिरे से हुई है—न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि सामाजिक तथा राजनैतिक स्तर पर भी यह पूरा-का-पूरा दौर मुद्राओं का दौर रहा है। हिन्दी कहानीकार ने मुद्राओं की भाषा में जीना आज़ादी के साथ उत्तराधिकार में पाया है। दरअसल इस दरम्यान कहानी में नए सिरे से उत्पन्न होने वाली मुद्राओं को कहानी की अपनी विशेष स्थिति के साथ जोड़कर भी देखा जा सकता है: लिखना शुरू करते ही आज के कहानीकार के सामने छपने की समस्या आती है और छपना शुरू होते ही वह पाता है कि वह 'बाज़ार' में खड़ा है—उसकी कहानी बाज़ार के लिए और बाज़ार के द्वारा लिखी जाती है। 'व्यावसायिकता' के द्वारा अगर कोई विधा सबसे अधिक 'भ्रष्ट' हुई है तो वह कहानी है। साहित्य की व्यावसायिकता को समझने वाले जानते हैं कि व्यावसायिकता 'विद्रोह' की भी होती है और जब 'विद्रोह' व्यापार बन जाता है तो कहानीकार रूढ़ियाँ तोड़ने के बजाय रूढ़ियाँ तोड़ने की मुद्राएँ धारण करने लगता है। पिछले दिनों 'धर्मयुग' जैसी व्यावसायिक पत्रिकाओं में विद्रोह, विघटन और अलगाव व्यक्त करने वाली अनेक कहानियाँ सम्पादकीय टिप्पणियों के साथ छापी गई हैं जिनमें दावा किया गया है कि वे छद्म यथार्थ का पर्दाफाश करने वाली कहानियाँ हैं जबकि वे मूलतः अलगाव, विघटन आदि का व्यापार करने वाली मुद्राधारी कहानियाँ हैं। यह अकारण नहीं है कि तमाम असुविधाओं तथा आंतरिक असंगतियों के बावजूद पिछले दिनों की सही अर्थों में महत्त्वपूर्ण कहानियाँ छोटी पत्रिकाओं द्वारा ही प्रकाशित की गई हैं। इस सन्दर्भ में 'कथा'-१ में प्रकाशित ज्ञानरंजन की कहानी 'घंटा' का उल्लेख किया जा सकता है 'घंटा' में 'स्लैंग्स' की भाषा का तिलमिला देने वाला इस्तेमाल तो मिलता ही है, साथ ही सुविधा तथा स्वतंत्रता के बीच खड़े कहानीकार के ठेठ रूप को भी वह कहानी बड़ी बेबाकी के साथ पेश करती है। नितान्त व्यक्तिगत धरातल पर घटित होती हुई भी यह कहानी पूरी तरह सम्पृक्त रचना है जो सुविधा की तरफ ललचाई निगाह की हास्यास्पद विसंगति को परत-दर-परत खोल देती है। यह कहानी इसलिए भी उल्लेख्य है कि एक निगाह में वह पूरी तरह मुद्राओं की भाषा का उदाहरण पेश करती हुई नज़र आती है लेकिन ग़ौर करने पर इस भाषा की ढकोसलेबाज़ी 'मुद्राओं' की पोल खोलने के लिए विशेष रूप से निर्मित लगती है। वस्तुतः यह कहानी आज की कहानी की मुद्राओं की कहानी कहती है और इस रूप में लगातार तिलमिला देने वाले आघातों से भरपूर बनी रहती है।

मुद्राओं की भाषा में लिखी गई उत्सवघोषित कहानियों से अलग लेकिन उनके ठीक समानान्तर ही उन कहानियों की भाषा भी विकसित होती रही है जो प्रायः बिल्लों की ओट में नहीं लिखी गई है। रामकुमार, रामनारायण शुक्ल और अशोक सेकसरिया की कहानियों की भाषा ऐसी ही रही है जो कदम-कदम पर मुहावरे गढ़ती कहानियों की तुलना में ठंडी और बेअसर समझकर अनदेखी जाती रही है। शोर मचाने वाली बिल्लेदार कहानियों के प्रति शीघ्र ध्यान जाने की क्रिया के पीछे हिन्दी कहानी का एक निश्चित ऐतिहासिक सन्दर्भ भी रहा है: हिन्दी कहानी का पाठक प्रारम्भ से ही बँगला कहानी का पाठक रहा है और काफी दिनों तक उसे आधुनिकता भी बँगला आधुनिकता के रूप में ही प्राप्त होती रही है। 'दुलाईवाली' बंग महिला तथा 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' की बंगाली भावुकता काफी दूर तक हिन्दी के कहानी पाठक का संस्कार बनी रही है। इसी कारण छलहीन सच्चाई व्यक्त करने वाली कहानियाँ ठंडेपन तथा बेअसरी का पर्याय मानी जाती रही हैं और स्थितियों को भावुकता की चिकनाई के साथ बेलकर बढ़ाई गई व्याख्यात्मक कहानियाँ रचनात्मक प्रभावात्मकता की कसौटी मानकर उदाहरण बनाई जाती रहीं। किसी-न-किसी रूप में कहानी को पसन्द करने की यह संस्कारबद्ध परम्परा हिन्दी की हर नई-से-नई कहानी के साथ जुड़ी रही है। इसी कारण यदि पिछले वर्षों की कुछ चर्चित कहानियों को एकत्र कर देखा जाय तो पता चलेगा कि रूढ़ियों से मुक्त होने के तमाम दावों के बावजद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें से अधिकांश कहानियों में सँवारे हुए आरम्भ, अन्त और भाषा में प्रयत्नपूर्वक ध्वनित होने वाले गुण मिलेंगे। जिन कहानियों ने अनायास आरम्भ, अन्त, चरम स्थिति की रूढ़ियों तथा भाषा के चमत्कारपूर्ण छलों को छोड़ा वे प्रायः 'राजमार्ग' से परे रखी गईं। इसका मुख्य कारण यह था कि यह 'चुनाव' हमेशा अतीत रुचि के सम्पन्न पाठकों और आलोचकों के द्वारा ही किया गया तथा आमतौर पर उसे स्वीकृत मानकर उन कहानियों के स्थान नियत कर दिये गए।

निश्चित रूप से यह सब 'ऐयाश प्रेतों का विद्रोह' या कोई सुनियोजित षड्यंत्र नहीं था बल्कि 'मोहभंग' के नाम पर एक 'भ्रम' की निरन्तरता थी जो किसी-न-किसी रूप में आज भी चल रही है। भाषा के स्तर पर इस 'छल' को पकड़ पाना आसान नहीं है, बल्कि एक अलग भ्रम की शुरुआत करने वाला भी सिद्ध हो सकता है, लेकिन इतिहास का एक छोटा-सा अंतराल भाषा के स्तर पर ही इस 'भ्रम' को काफी दूर तक तोड़ता चला जाएगा। यह आश्चर्य नहीं कि यह प्रक्रिया एक सीमा तक शुरू भी हो चुकी है और जिसने 'भोगा हुआ यथार्थ', 'प्रामाणिकता' तथा ऐसे अनेक मुहावरों के साथ आने वाली स्वीकृत कहानियों को सहसा उघाड़कर रख दिया है।

यही कारण है कि यह अपेक्षाकृत 'मद्धिम' कहानियों का दौर है जो सीधे-सीधे बिना किसी दावे के साथ ज़िन्दगी में उतरती और 'इतिहास की प्रौढ़ता' के साथ अपने को संयुक्त कर लेती हैं। 'इतिहास की प्रौढ़ता' को कहानी के सन्दर्भ में समझने के लिए 'घंटा' कहानी का एक उदाहरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा: **"मैंने ग़ौर किया कि पहले से स्थिति बेहतर अवश्य हुई है। पहले मैं केवल मुस्कुराता था। जैसे संसार एक चूतियापा है और मैं उसे समझ गया हूँ। हालत यहाँ तक पहुँची कि इस मुस्कुराहट के कारण मैं घोंघा समझा जाने लगा था। इस शाकाहारी मुस्कुराहट से सत्ता का तो कुछ बिगड़ता नहीं। दमदार मुस्कुराहट तो राजा की होती है, महंत की होती है, औरत की होती है और खतरों से मुक्त जिनका चमन है उनकी होती है। मुस्कुराहट गई तो अब उल्टी आने लगी है। तोड़-फोड़ मचने लगी है। भरपूर तरीके से ऐसा ही होता रहे, यह भी आसान नहीं है क्योंकि लोकतंत्र का रोमांस और नागरिक भावना को पता नहीं कब अन्दर ऐसा कचर दिया गया है कि तोड़-फोड़ तो दरकिनार हो जाते हैं बस बचा रह जाता है एक कुनकुना बुदबुद।"**

'घंटा' कहानी के पूरे स्वर के बावजूद ऊपर का उदाहरण केवल व्यंग्य नहीं है बल्कि अपने समय के सन्दर्भ में सार्थक होने की 'ऐतिहासिक प्रौढ़ता' से जुड़ा हुआ है। उसे सपाट या आरोपित 'वक्तव्य' भी नहीं कह सकते क्योंकि कहानी की भीतरी स्थितियों में बहता हुआ यह 'वक्तव्य' अचानक फूट पड़ता है। यह बोध विकास का बौनापन ही कहा जायगा कि एक हद तक ज्ञानरंजन जो काम 'स्लैंग्स' के सहारे कर लेते हैं वही काम चमत्कारहीन विच्छलता से करने वाले कहानीकारों को कभी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया। मसलन पत्नी के अत्याचारों से पीड़ित अथवा प्रेमिका की विमुखता से व्यथित नायकों का जो सत्कार कहानियों में आज तक किया जाता रहा है वह आश्चर्यजनक है लेकिन जो कहानियाँ मध्यमवर्गीय विवशताओं तथा विसंगतियों को प्रौढ़ता के साथ बिना किसी उच्छल उत्तेजना के पेश करती रही हैं उन्हें एक सिरे से चर्चा के बाहर रखा गया। रामनारायण शुक्ल, अशोक सेकसरिया और एक हद तक कामतानाथ की कहानियों के साथ प्रायः यही होता रहा है। एक अस्वाभाविक उत्तेजना का अभाव संवेदना की प्रौढ़ता का द्योतक होता है और यदि कहानी को आवश्यक रूप से उस अस्वाभाविक उत्तेजना से जोड़कर ही देखने की प्रक्रिया चलती रही तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि कहानी मौलिक रूप से अपनी विधा की सार्थकता केवल किशोर विचारों को वहन करके ही प्रमाणित कर सकती है और इस रूप में यह 'विधा' क्रमशः प्रौढ़ जगत् के लिए अनुपयुक्त तथा अनावश्यक होती जायगी। हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में इस समस्या पर नये सिरे से सोचना चाहिए क्योंकि वह या तो मुद्राओं की भाषा में 'प्रौढ़ता' का दम भर रही है या प्रौढ़ों को रिझाने वाली अपनी मौलिक 'तुतलाहट' को भी बरकरार रखती जा रही है। एक तरह से यह कहानी के समझने-बूझने की समस्या भी है जो इस दरम्यान बहिष्कृत रखी जाने वाली अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता से भी जुड़ी हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्सवाद और समकालीन बूर्ज्वा विचारधाराएँ (१)

इतिहास : संयोग और सार्थकता

सुरेन्द्र चौधरी

पिछले तीस वर्षों में इतिहास के भीतर जो परिवर्तन हुए हैं और इन परिवर्तनों से जिस अनुपात में हमारा चिंतन और जीवन प्रभावित हुआ है उसके प्रकाश में अगर मार्क्सवाद के सम्मुख कुछ नई समस्याएँ पैदा हो गई हैं तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। प्रश्न यह है कि ये नई समस्याएँ कहाँ तक मार्क्सवाद के लिए वास्तविक चुनौती बनती हैं और कहाँ तक कोरे विरोध के रूप में कुछ समय-सम्बन्धी प्रपंच खड़े किए गए हैं। बूर्ज्वा दुनिया जिस आत्यंतिक संकट और आत्म-विघटन से होकर गुज़र रही है, उसके भीतर यह आवश्यक है कि आत्मरक्षा के लिए वह चेष्टापन्न हो। इस चेष्टा का विस्तार ही मार्क्सवाद के विरोध को जन्म देता है। वैसे पूँजीवादी दुनिया में कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो पूरी ईमानदारी से अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने की चेष्टा करते हैं, मगर प्रचलित बूर्ज्वा विचारधाराओं को भीतर अपनी संगति नहीं बैठा पाने के कारण जिन्हें उस विरासत का सही अन्दाज़ नहीं है, जो उन्हें मिलती है। वे मार्क्सवाद का कोरे सैद्धांतिक स्तर पर विरोध करते हैं। वस्तुतः दर्शन उनके लिए वस्तुओं के सत्य के रूप में महत्त्व न रखकर विचार का सत्य बन जाता है। हम विस्तार से इन स्थितियों पर विचार करेंगे। अभी यहाँ इतना ही कहूँ कि जिन दो भिन्न स्तरों पर मार्क्सवाद का विरोध किया जाता रहा है उनके स्रोत उस समाज में ही हैं जो एक व्यवस्था के विघटन के भीतर स्वयं भी आहत है।

आज से लगभग आठ-नौ वर्ष पहले सार्त्र ने 'युग के दर्शन' के रूप में मार्क्सवाद को स्वीकार कर तथा अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद की विचारधारा मानकर संपूर्ण पूँजीवादी (बूर्ज्वा) विचारधाराओं की नींव पर ही जैसे चोट की थी। इस धक्के को बूर्ज्वा विचारधाराएँ सह नहीं सकीं जिसका परिणाम समस्त पूँजीवादी देशों में युवा पीढ़ी के आन्दोलनों में देखा जा सकता है। मगर इससे विचारधाराओं की बाहरी स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। बाहर से अब भी ये मार्क्सवाद का विरोध उसी ज़ोर से कर रही हैं। प्रस्तुत लेखमाला में मेरा उद्देश्य **समस्त बूर्ज्वा विचारधाराओं का विवेचन करना नहीं है।** मैंने अपने विवेचन को **उन मौलिक स्तरों तक सीमित कर दिया है** जहाँ मार्क्सवाद और बूर्ज्वा विचारधाराओं की टकराहट समकालीन मानस को प्रभावित करती है या **प्रभावित कर सकती है।** इसीलिए दर्शन के कोरे सैद्धांतिक सवालों पर मैंने अनावश्यक चर्चा नहीं की है। वह बहस हमें उस विस्तार में ले जाती जहाँ हमारा मूल उद्देश्य पीछे छूट जाता है।

मार्क्सवाद विरोधी बूर्ज्वा विचारधाराओं से समय-समय पर हमें टकराने की आवश्यकता न होती अगर उनसे कुछ '**ज्ञानात्मक निष्कर्ष निकाले न जाते** और उन्हें मार्क्सवाद-विरोध का एक घिनौना हथियार न बनाया जाता। मुश्किल यह है कि बूर्ज्वा विचारधाराएँ इन्हीं दो स्तरों पर मार्क्सवाद का विरोध करती पाई जाती हैं। इस लेखमाला में मैंने उन ज्ञानात्मक निष्कर्षों को पहचानने की कोशिश की है जिन्हें हमारे विरोधियों ने अपने मौलिक विवेचन में उपलब्ध किया है और जिनके आधार पर वे दावा करते हैं कि मार्क्सवाद को अन्तिम रूप से उन्होंने ध्वस्त कर दिया है। हम जानते हैं कि पिछले सवासौ वर्षों के इतिहास में मार्क्सवाद को हर दशक में इसी तरह बूर्ज्वा विचारधाराएँ अंतिम रूप से ध्वंस करती रही हैं और फिर भी वे नए सिरे से उसे ध्वंस करने की आवश्यकता भी महसूस करती रही हैं।

पिछले समय में मार्क्सवाद का विरोध कुछ तथाकथित भौतिकीविदों और गणितज्ञों ने किया था। माख इसी तरह के भौतिकीविद थे। मगर इधर तीस वर्षों के भीतर मार्क्सवाद का विरोध विज्ञान की ओर से उतना नहीं हुआ है जितना ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में हुआ है। **यह भी एक विशेष स्थिति**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जिसके भीतर हमारी परिचर्या सीमित होती है। विज्ञान की तुलना में 'ज्ञानात्मक क्षेत्रों' में निष्कर्ष निकालने की छूट होती है। संभवतः इसीलिए जितने ज्ञानात्मक निष्कर्ष आज निकाले गए हैं, उतने शायद पूरे मार्क्सवाद-विरोध के इतिहास में नहीं मिलेंगे। फिर भी ये **ज्ञानात्मक निष्कर्ष** अपने **स्वरूप में एक नहीं हैं और न उनकी संगति की कोई सामान्य जमीन** ही है। इसीलिए आज जब हम बूर्ज्वा विचारधाराओं पर विचार करने लगते हैं तो सबसे पहली समस्या उस अनिश्चित विस्तार की होती है जिससे हमें साक्षात्कार करना है। स्पष्ट है कि इस अनिश्चित विस्तार से टकराने की कोई सार्थकता नहीं है। अधिक-से-अधिक हम इन ज्ञानात्मक निष्कर्षों के उन मौलिक आधारों पर विचार कर सकते हैं जिनका संबंध **'विधि की परिकल्पना'**, 'वास्तविकता और संभावना', 'अनिवार्यता और आकस्मिकता', 'इतिहास और स्वतंत्रता' आदि से है। इसका दूसरा पक्ष अधिक ठोस और ज्ञान क्षेत्र से बनता है। इस पक्ष में **'आधार और अधिस्थापत्य'** से संबद्ध विषयों-विचारों पर हमने विस्तार से लिखा है। मुख्यतः वर्ग-संघर्ष पर इसका अन्तिम पक्ष उस **भाववादी सौन्दर्यशास्त्र** का है जिससे आज अधिकांश रचनात्मक चिंताधाराएं प्रभावित हैं।

इस प्रकार मैंने मार्क्सवाद के 'भौतिक दर्शन', 'समाज-दर्शन' और 'सौन्दर्य-शास्त्र' के संदर्भ में समस्त बूर्ज्वा विचार-धाराओं की टकराहटों को समेटने की चेष्टा की है। स्पष्ट है कि **बूर्ज्वा विचारधाराओं के अनिश्चित विस्तार के सम्मुख मेरी जानकारी की सीमाएँ** हैं और मैं अपनी सीमाओं के प्रति सहज सजग हूँ। मगर प्रश्न उस अनिश्चित विस्तार से अधिक 'ज्ञानात्मक निष्कर्षों' को है जिन्हें आज के वैचारिक व्यावहारिक संदर्भ में मैं विचारणीय मानता हूँ। इसीलिए अपनी सीमाओं के बावजूद मैंने यह साहस किया है। विषय की प्रस्तावना में मुझे अपनी ओर से दो-चार बातें मुख्यतः करनी हैं। पहली और मुख्य बात जो किसी दर्शन-पद्धति के सम्बन्ध में की जाती है वह कल्पित समग्रता की ज़मीन से की जाती है। यह 'कल्पित समग्रता' मूलतः हमारे मानसिक संयोजन का अंग होती है और आवश्यक नहीं है कि उसके भीतर ढूंढे गए कारणों को वस्तु-प्रक्रिया से संगत माना ही जाए। मूल समस्या वस्तुतः यहीं से उत्पन्न भी होती है। मार्क्सवाद के आलोचकों ने सामान्य रूप से द्वंद्ववाद की सीमा का निर्देश करते हुए यह कहा है कि "इसके (मार्क्सवाद) भीतर की अधिकांश दार्शनिक अनिश्चितताओं के मूल में **बौद्धिक द्वन्द्ववाद** और **कारणत्वमूलक अनिवार्यता** के बीच निरंतर बदलाव है।'[1]

लेनिन के समय से जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन मार्क्सवाद-विरोधी विचार-सरणियों में आया है उसकी ओर मैं ध्यान खींचना चाहूँगा। स्पष्टतः पिछले तीस वर्षों में मार्क्सवाद विरोधी मुद्दे में एक स्थानांतरण लक्षित किया जा सकता है। बीसवीं सदी के प्रारंभ में मार्क्सवाद-विरोधी जो अभियान शुरू हुआ था उसमें मार्क्सवादी **पद्धति की आलोचना पर उतना बल नहीं था।** उसका विरोध सम्पूर्ण मार्क्सवादी चिंतन के रूप से था, अर्थात् भूत-द्रव, भौतिक संयोजन, भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के स्वरूप, मूल तत्त्व को आधिभौतिकता आदि को लेकर यह संघर्ष प्रारम्भ हुआ था। माख और ऐवेनेटियस जैसे विचारकों ने मार्क्सवाद पर जो आघात किया था उसका मूलपक्ष यही था। वैसे **विस्तार और व्यावहारिक पक्षों** पर भी वे आक्षेप करते थे। किन्तु बीसवीं सदी के मध्य में आकर यह आलोचना **पद्धतियों पर आकर ठहर गई।** निश्चित रूप से आज की मार्क्सवाद-विरोधी विचारधाराएँ पद्धति, व्यवहार और ऐतिहासिकता, अनिवार्यता आदि के प्रश्न से ज्यादा लगाव रखती हैं। आज 'आत्मा' या चेतना की आद्यरूपता पर बहस नहीं की जाती और न इस ज़मीन से मार्क्सवाद की आलोचना की जाती है। मार्क्सवाद-विरोधी आलोचना का यह रूपांतरण अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण संकेत है। इसके साथ ही साथ **मनोगत विचार और वस्तुगत जगत् के एकात्म** को लेकर पुरानी बहसें नए अन्दाज़ में की जाने लगी हैं। विश्व-रेखांकन, प्राकृतिक दर्शन, द्वन्द्ववाद पर की जानेवाली बहसें अब द्वन्द्ववाद के 'गणितीय विरोध' पर आकर केन्द्रित हो गई हैं।

इनकी तुलना में इतिहास के केन्द्र में द्वन्द्ववाद ने कुछ आकस्मिक और महत्त्वपूर्ण मुद्दे पैदा किए हैं। इसी तरह वर्ग-संघर्ष और विकास की धारणा को भी कई दृष्टियों से आज परीक्षणीय बनाया जा रहा है। इस सम्बन्ध में हम एक मार्क्सवाद-विरोधी विद्वान् का एक उद्धरण यहाँ देना चाहेंगे।

१. रेमोंद ऐरों—'दि फ़िलासफी ऑव हिस्ट्री' शीर्षक निबन्ध। 'फ़िलासफ़िकल थॉट इन फ्रांस एण्ड यूनाइटेड स्टेट्स' (१९५०)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने लिखा है—"इस सबमें सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि ऐतिहासिक परिवर्तन के मार्क्सवादी सिद्धांत की कभी निर्णायक रूप में आलोचना हुई ही नहीं। उसकी विजय इसलिए होती रही कि उसके विरोधियों ने उसकी असंगतियों और आत्म-विरोधों को कभी उद्‌घाटित ही नहीं किया।"[1]

मार्क्सवाद-विरोधियों का यह नया अभियान सम्भवत: इसीलिए इतिहास के क्षेत्र में आज अधिक रुचि लेने लग गया है। तनिक विस्तार में यहाँ इस पूरे आलोचना-क्षेत्र को हम देखें। फोन माइज़ेज के अनुसार ही अब तक मार्क्सवाद के 'ऐतिहासिक परिवर्तन' सम्बन्धी वर्गवादी सिद्धान्त का निर्णयात्मक विश्लेषण और आलोचना न होने का कारण भी हम समझें। और साथ-साथ इस निर्णयात्मक विश्लेषण से उन्होंने जो 'ज्ञानात्मक निष्कर्ष' निकाले हैं उन्हें भी हम यहाँ बहुत संक्षेप में देख लें।

उनका कथन है कि मार्क्सवाद-विरोधियों की समझदारी की मौलिक चूक उसी बात से स्पष्ट है कि वे मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद और फ्रायड के 'चित्तविश्लेषण' या मनोविश्लेषण को जोड़कर देखते हैं जबकि ये नितान्त परस्पर-विरोधी धारणाएँ हैं। फिर कैथोलिक दर्शनों के उस व्यावहारिक रुझान को वे कोसते हैं जिसमें मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण को आत्मसात् करने की चेष्टाएँ की जा रही हैं।[2] अब हम उनके 'ज्ञानात्मक निष्कर्षों' पर ध्यान देंगे। अपनी पुस्तक 'सिद्धान्त और इतिहास' के चौदहवें अध्याय में उन्होंने उन 'ज्ञानात्मक निष्कर्षों' की व्याख्या की है जिन्हें यह सम्पूर्ण विवेचन उपलब्ध करता है। उनके अनुसार प्राकृतिक विज्ञानों में सम्भाव्य घटनाओं की भविष्यवाणी के दो आधार हैं—एक सामान्य और दूसरा सांख्यिकीय (Statistical)। मगर ये दोनों ही विधियाँ सत्यापक (Apodictic) नहीं मानी जा सकतीं क्योंकि ये अनुभव पर आधारित हैं। अनुभव केवल अतीत या व्यतीत का होता है। भविष्यत् घटनाओं की भविष्यवाणी के लिए इन अनुभवों का उपयोग तभी हो सकता है जब हम यह मान लें कि पदार्थों (वस्तुओं) के संक्रमण में और श्रृंखला में कोई अपरिवर्तनीय, आत्मिक एकरूपता है, **अर्थात् सरल और विस्तारसूचक आगमन** (Ampliative induction) **प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञानात्मक आधार है।**' इस आगमनात्मक विधि का प्रयोग इतिहास अर्थात् मानवीय कर्मों के क्षेत्र के लिए उसी रूप में नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन के दूसरे विरोधी विद्वान का कथन है कि "इतिहास दर्शन के भीतर इतिहास का दैवीकरण अनिवार्यत: परिवर्तन और क्रान्ति का अबौद्धिक (हेतु) जस्टिफ़िकेशन बन जाता है। इतिहास के इसी दैवीकरण ने मार्क्सवादी दार्शनिक लूकाच को बोल्शेविक क्रान्ति के अबौद्धिक दैवीकरण के लिए बाध्य किया।"[2] एक तीसरे आलोचक के अनुसार इतिहास-चिंतन में अनिवार्य रूप से सभ्यताओं के मार्क्सवादी नियम की सैद्धान्तिक बहस बन्द हो गई है।[3] मार्क्सवादी ऐतिहासिक सिद्धान्त पर की जाने वाली इन बहसों पर यहाँ विचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है। यहाँ केवल उनकी दिशाएँ ही मैंने निर्धारित-इंगित की हैं।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को कुछ लोग प्रारम्भ से ही अपूर्ण और साधारण मानकर खारिज करने की चेष्टा करते रहे हैं। सम्भवत: सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र इतिहास-दर्शन के समानांतर का क्षेत्र है जिसमें बूर्ज्वा विचारधाराएँ नये आवेश से मार्क्सवाद से टकराती मालूम पड़ती हैं। प्रस्तुत अंश में हमने विस्तार से इन बूर्ज्वा सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं, सिद्धान्तों और धारणाओं की चर्चा की है। इस सम्बन्ध में हम एक फ़्रेंच विद्वान का महत्त्वपूर्ण वक्तव्य संक्षेप में उद्‌धृत करना चाहेंगे। उन्होंने लिखा है—

> "युग की केन्द्रीय समस्या जिस अनेकार्थी धारणा में मूर्त हुई वह मानवीय परिस्थिति ही थी।"

इसी मानवीय परिस्थिति के सन्दर्भ में हमारा सौन्दर्यशास्त्र एक नए भावात्मक संकट से गुज़र रहा है। ऐसी स्थिति में इस मानवीय परिस्थिति की मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी धारणाओं पर विचार करना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। यह क्षेत्र तत्त्व-मीमांसा का क्षेत्र नहीं है। मगर इतिहास और समाजदर्शन का क्षेत्र तो यह है ही—मानवीय भाव-संपदाओं को इनसे अलग नहीं किया जा सकता। मार्क्स-

१. फोन माइज़ेज, 'थियरी एण्ड हिस्टरी', पृ० १५२ (१९५८-लन्दन)।
२. उपरिवत्, पृ० १५२-१५३।

१. उपरिवत्, पृ० ३०३।
२. प्रोसिडिंग्स—११वीं अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन परिषद्—जैकोव तौबे का 'एपाथियोमिस ऑव हिस्टरी' शीर्षक निबंध।
३. इतिहासचक्र, डॉ० लोहिया, पृ० २८ (हिन्दी अनुवाद, १९६८)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाद के समानान्तर चलने वाली और मार्क्सवाद के समीप आने वाली धारणाएँ प्रसंगात् यहाँ चर्चा का विषय नहीं बनाई गई हैं। उन पर पूरी गम्भीरता से विचार किया गया है। इस प्रकार यह लेखमाला एक व्यापक और सर्वांगीण उद्देश्य को ध्यान में रख कर लिखी गई है।

सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं को लेकर जो विचारणाएँ प्रकाश में आई हैं वे कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। शब्दावली और विषय-स्वरूप के परिवर्तनों के बावजूद सौन्दर्यशास्त्र के भीतर मौलिक रूप से चलने वाला संघर्ष ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। यानी संघर्ष की वस्तु (Content) लगभग वही है। संघर्ष का क्षेत्र जरूर कहीं बढ़ा है और कहीं घटा है। जिन मौलिक निष्कर्षों की ओर यह सम्पूर्ण लड़ाई इंगित करती है, वही हमारी परीक्षा के क्षेत्र में आते हैं। अलग-अलग सिद्धान्तों के रूप में देखना न तो सम्भव था और न उपादेय ही। इसलिए हमने सिद्धान्तों की अपेक्षा उनके निष्कर्षों को महत्त्वपूर्ण समझकर उनकी परीक्षा की है।

आशा है, विचारधाराओं की टकराहट में यह लेखमाला कुछ नए क्षेत्रों को उद्घाटित करने में सहायक होगी।

इतिहास का क्षेत्र अकेला नहीं है जहाँ उसके उद्देश्य के प्रश्न पर मतभेद है। ज्ञान के सभी क्षेत्रों में ऐसे विवाद आज चल रहे हैं या चलाए जा रहे हैं। सत्य की खोज बराबर हमें इसी तरह कहीं-न-कहीं ले जाकर छोड़ आया करती है जहाँ हम उसके संघटन को या तो पहचान लेने का दावा करते हैं या फिर उसे अज्ञेय मानकर संयोग अथवा नियति के हवाले कर देते हैं। **हेगेल तक आकर इतिहास की समस्या विश्वात्म अथवा आत्मचेतना में इतिहास के अन्तर्भाव की हो गई थी।** संपूर्ण जर्मन विचारधारा का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने इस अन्तर्मुक्त इतिहासवाद का विरोध किया।[1]

कुछ लोगों का विचार है कि इतिहास विज्ञान की तरह सत्य के संगठन और स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकता, इतिहास की कोई धारणा इतनी पूर्ण और वस्तुगत हो ही नहीं सकती। यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या विज्ञान तथ्यों के संघटन से सत्य की धारणा तैयार करता है या वस्तुतः सत्य के संगठन से साक्षात्कार करता है? खैर, विज्ञान के सत्य सम्बन्धी ज्ञानात्मक दावे पर यहाँ बहस नहीं करूँगा। सवाल को इतिहास तक सीमित रखूँगा। समकालीन बूर्ज्वा विचारधारा इस प्रश्न पर आत्मविभाजित मालूम पड़ती है कि इतिहास के कारणत्व की व्याख्या किस रूप में संभव है। इस सवाल को जर्मन विचारक फ़ोन माइज़ेज ने अपनी पुस्तक 'सिद्धान्त और इतिहास' में इस तरह सामने रखा है[1]—

"ज्ञानात्मक रूप से प्रकृति की विशिष्टता इस बात में देखी जाती है कि उसमें तथ्यों के उत्पादन और क्रम में एक अनिवार्य और निश्चयात्मक स्थायित्व है। दूसरी ओर जिसे हम मानवीय क्षेत्र या इतिहास कहते हैं, उसमें ऐसा कोई निश्चयात्मक और स्थायी क्रम नहीं मिलेगा।"

अपने इस निष्कर्ष को इतिहास-ज्ञान की विधि में तत्काल बदलकर वे कहते हैं[2]—"मरणशील मनुष्य नहीं जानता कि यह जगत् और वह सब जो इसमें समाहित है—किसी अपर ज्ञानशक्ति को किस रूप में ज्ञेय होगा। संभवतः ऐसा उदात्त मानस जगत् के समस्त तथ्यों की संगत, व्यापक और एकात्मक व्याख्या कर सकता। किन्तु मनुष्य—अद्यावधि—हमेशा इन किनारों के आरपार पुल बनाने में बुरी तरह असमर्थ रहा है।"

इस प्रकार बूर्ज्वा विचारधाराएँ इतिहास-विधि को एकात्मक और समाहारक मानने से इनकार करती हैं और एक द्वैत उत्पन्न करती हैं। इस द्वैत के पक्ष में उनका कहना है कि "इस विधि के द्वारा 'सार' (Essences) और आधिभौतिक संयोजन के विरोध को मिटा देना संभव है।"

सार और संयोजन के इस द्वैत ने कोई नया सवाल सामने ला खड़ा किया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। मुझे तो ऐसा लगता है जैसे किसी समय में लगभग तय हो गए प्रश्न को नए सिरे से उठाया जा रहा है। समस्त भाववादी इतिहास धारणाएँ जहाँ तक पहुँच चुकी थीं, वहाँ से यह नई धारणा आगे नहीं बढ़ी मालूम पड़ती। प्रश्न यह है कि बूर्ज्वा चिन्तन के क्षेत्र में यह सवाल बार-बार क्यों पैदा किया जाता है और इस नियति की शत-शत व्याख्याएँ क्यों अनिवार्य हो जाती

१. कार्ल मार्क्स एवं फ्रेडरिक एंगेल्स—'जर्मन आइडियालॉजी', पृ० ३९-५५ (अंग्रेज़ी संस्करण, मास्को)

१. फोन माइज़ेज—'थियरी एण्ड हिस्ट्री', भूमिका—पृ० ४, (लंदन)।

२. उपरिवत्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। ऊपर से तो ऐसा ही लगता है कि समकालीन चिन्तन इन सवालों को उठाने के लिए विवश है कि अनुभव उसे नए सिरे से उन सवालों से जोड़ रहा है। मगर उससे ज्यादा अनिवार्य और विवशकारी कारण संभवतः यह है कि **मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन का विरोध करना बूर्ज्वा दुनिया के लिए नए सिरे से अनिवार्य हो गया है।**

आज की बूर्ज्वा विचारधारा एक विचित्र संकट की स्थिति में है। यह संकट ज्ञान के क्षेत्रों के आत्मविभाजन का है। वह अपने ही वैज्ञानिक निष्कर्षों से इतिहास-ज्ञान को तोड़कर अलग करता हुआ जब यह कहता है कि—"दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के बीच संवाद एक स्थिति के बाद निरर्थक हो जाता है, क्योंकि वे एक-दूसरे को समझ नहीं पाते"[1]—तो हमें आश्चर्य होना स्वाभाविक है। लगभग चालीस वर्ष पहले बूर्ज्व ज्ञानक्षेत्र में यह संकट नहीं था। कम-से-कम ऊपरी तौर पर इस संकट से राह निकाल ली गई थी। तब सारे निष्कर्ष एक भाववादी मौन में डूब गए थे। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने अज्ञेयता की एक ही मुद्रा ओढ़ ली थी! आज बूर्ज्वा विश्व का संकट फिर इस आत्मविभाजन के प्रकाश में स्पष्ट होने लग गया है—ज्ञान के अलग-अलग क्षेत्रों में संवाद की स्थिति प्रायः नष्ट हो चली है। आज जिस तरह सत्य को अनूदित होता हुआ दार्शनिक नहीं समझ सकता, उसी तरह तथ्यों के ढांचे के बाहर किसी 'सार' या सत्य की विशुद्ध स्थिति को वैज्ञानिक भी समझ नहीं पाता! यह विरोध यहीं तक सीमित नहीं है, इतिहास के संदर्भ में यह दुर्भाग्य सामान्य विरोध से बड़ा है। यह हमें वहाँ ले जाता है जहाँ कारणत्व की खोज एक बन्द गली में ले जाकर हमें छोड़ देती है। उस बन्द गली को आप कोई भी नाम दे सकते हैं—आकस्मिकता, संयोग या नियति!

ऐल्फ्रेड श्वेत्स (Schuetz) ने कुछ वर्षों पहले इतिहास के सत्य को अपने ढंग से संयोजित करने की एक 'मौलिक चेष्टा' की थी।[2] यह चेष्टा हूसेर्ल और हाइडेगर जैसे विद्वानों से भिन्न थी। यह धारणा सार्त्र और मेरल्यो पॉन्टी की इतिहास-धारणा से भी भिन्न है। इतिहास-ज्ञान और ऐतिहासिक

१. रेमोंद ऐरों—'दि फिलासफी ऑव हिस्ट्री' शीर्षक लेख—मार्विन फर्बर द्वारा सम्पादित-संकलित (१९५०)।
२. ऐल्फ्रेड श्वेत्स—'डर जिन हैफ़्ट ऑफ़बो डर जोसियालेन वेल्ट'।

वास्तविकता के भीतर सामंजस्य ढूंढ़ने की यह चेष्टा अपने-आप में विराट कही गई। मैंने यह पुस्तक नहीं देखी। मगर श्वेत्स के भक्त ऐरों ने उसके सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे इस मौलिक और विराट् चेष्टा की रूपरेखा तो बन ही जाती है। ऐरों के अनुसार **इतिहास के सत्ता-ज्ञान का जैसा सार्थक और व्यापक आधार** इस पुस्तक में तैयार हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

इस सार्थक और व्यापक आधार पर एक नज़र देना असंगत न होगा। **ऐतिहासिक ज्ञान और ऐतिहासिक वास्तविकता समुत्पाद्य हैं। उन्हें चेतनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध** में समझा जा सकता है। क्या ये स्थापनाएँ इतनी मौलिक हैं? क्या इतिहास को आत्मचेतना में अन्तर्मुक्त करने की चेष्टाओं से अलग इनमें कुछ है? चेतना के भीतर इतिहास के सत्य को देखने का यह प्रयत्न अगर नया है तो एक सीमित अर्थ में ही। **वर्तमान में अतीत के पुनः संघटन के इस प्रयत्न को ऐतिहासिक ज्ञान की मौलिक उद्भावना** कहना मुझे उचित नहीं मालूम पड़ता। वैसे ऐरों ने अनेक प्रचलित मुहावरों में इस ऐतिहासिक ज्ञान की अनिवार्यता को यों प्रस्तुत किया है[1]—

"मगर यह निश्चित है कि इतिहास-विज्ञान का महत्त्व इसी **स्वतःसंभव ज्ञान में है।** मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी सिर्फ इसलिए नहीं है कि उसका भविष्य एक संभावना है; कि उसे अपनी नियति को चुनना ही है; कि वह एक सामाजिक परिवृत्त में घिरा है; कि वह भौतिक बुद्धि के द्वारा अपने पूर्वजों की विजय का फल भोगता है, बल्कि इसलिए कि वह अपने को दूसरों की तुलना में परिभाषित करता है—अतीत से तुलना के द्वारा।"

मार्क्स ने अपने समय में इस चेतनावाद (तब के विश्वात्मवाद या आत्मचेतनावाद) से जमकर संघर्ष किया था। उसने अपनी पुस्तक 'जर्मन विचारधारा' में इसका हवाला देते हुए लिखा[2]—"ज्यों ही हम इस सक्रिय जीवन-प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं त्यों ही इतिहास मृत तथ्यों का पुंज नहीं रह जाता—जैसा अनुभववादियों के लिए है। **वह किसी कल्पित विषयी की कल्पित क्रिया भी नहीं रह जाता,** जैसा भाववादियों के यहाँ होता है।" चेतनावादियों ने अक्सर इतिहास के कारणत्व की उल्टी व्याख्या की है। या फिर

१. रेमोंद ऐरों—'दि फिलासफी ऑव हिस्ट्री' शीर्षक निबंध।
२. मार्क्स—'जर्मन आइडियालॉजी'—पृ० ३८ (मास्को)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने इस 'कारणत्व' को संयोग के हाथ समर्पित कर दिया है। **मानवीय इतिहास मानवीय प्रयत्नों की एक विशिष्ट भौतिक संघटना है**, इसे चेतनावादी स्वीकार नहीं कर सकते।

मार्क्सीय इतिहास-धारणा के विरोध में सामान्यतः दो बातें कही जाती हैं। पहली यह कि मार्क्सवादी इतिहास-शास्त्र जड़ द्वन्द्ववादी है और दूसरा यह कि स्वतन्त्रता और नियति के सवाल को मार्क्सवाद अधूरे ढँग से सुलझाता है, कि उसमें इनके ढांचों के परस्परावलंबन के लिए गुंजाइश ही नहीं है। दोनों ही आक्षेप विरोधियों की नज़र में अनुभवों की दुनिया से पैदा हुए हैं और ज्ञान के अर्थ से जुड़ते हैं।

इतिहास-सम्बन्धी विचारधाराएँ क्या सचमुच हमें इस जड़ द्वन्द्ववाद से उबारकर किसी गति और परिवर्तन के अनुभव से जोड़ती हैं? क्या इतिहास के 'कारणों' की उनकी व्याख्या सचमुच इतनी पूर्ण है? या कि उनमें 'कारणों' के प्रति निर्मम उपेक्षा का भाव है और वे केवल उसका दृश्य-सत्तात्मक संयोजन करने में लगी हैं? इन सवालों की व्याख्या से ही हमें ऊपरी आक्षेपों का उत्तर मिल जाएगा। वैसे अपनी इस निबन्धमाला में मैं अलग से भी इनका उत्तर देने की चेष्टा करूँगा।

फ्रेडरिक ऐंगेल्स ने जिस आडम्बरपूर्ण बकवास का हवाला आज से लगभग अस्सी वर्ष पूर्व दिया था, स्थिति उससे ज़्यादा आज बेहतर नहीं है। इतिहास के प्रश्न पर जितनी आडम्बर-पूर्ण बहस आज चल रही है, उतनी शायद पहले कभी नहीं चली। इतिहास को संयोग सिद्ध करने वाली विचारधाराएँ इतिहास के आयाम को कहीं स्वयं ही झूठी साबित कर रही हैं। मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का विरोध दो अलग-अलग दृष्टियों से समकालीन चिन्तन में हुआ है। हेगेल और मार्क्स की इतिहास-सम्बन्धी धारणा को एक घोषित कर और उसे 'इतिहास-वाद' की संज्ञा देकर कार्ल पॉपर ने जो कुछ भी लिखा है[1] वह इतना अधूरा, आडम्बरपूर्ण और आत्मविरोधी है कि उस पर फिर से यहाँ विचार करना मुझे आवश्यक मालूम नहीं पड़ता। वैसे कुछ हवाबाज़ इतिहास-लेखक इस इतिहास-विरोध से प्रभावित हुए **और उन्होंने इसका उपयोग व्यक्ति की स्वतंत्रता, व्यवस्था और इतिहास-निरपेक्षता से जोड़कर किया।**

१. कार्ल पॉपर—पावर्टी ऑफ़ हिस्टोरिसिज़्म, प्रेगराइन संस्करण (१९५६)।

कार्ल पॉपर और इसाइया बर्लिन ने युद्धकाल में ही कुछ ऐसे लेख लिखे थे जिनके द्वारा उन्होंने मार्क्सवादी इतिहासशास्त्र का विरोध किया था।

मानवीय स्वातंत्र्येच्छा (!) को सर्वोपरि और आत्म-तंत्र घोषित करने वाले इन विद्वानों ने (!) मार्क्सवाद को व्यक्ति-विरोधी, स्वतंत्रता-विरोधी और अधोमुख कहा। हम सबसे पहले मार्क्सवादी दर्शन के इसी ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करेंगे। **क्या 'कारणत्व' और मानवीय इच्छा और स्वतंत्रता में आधारभूत विरोध है? अगर ऐसा कोई विरोध है तो इस विरोधी परिस्थिति को हम किस रूप में संघटित करके प्रत्यक्ष कर सकते हैं?** किसी कल्पित स्वातंत्र्येच्छा की ओट में सिर्फ विरोध करना अगर लक्ष्य हो तो बात दूसरी है। मार्क्स ने जर्मन आदर्शवाद की आलोचना इसी बिना पर की थी कि उसमें वास्तविक मनुष्य को कल्पित इकाइयों में बदला जा रहा था। इतिहास से ऊपर प्रतिष्ठित किसी धारणा से इतिहास की व्याख्या नहीं हो सकती, इसे मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया था।[1] ऐसी स्थिति में कार्ल पॉपर की यह धारणा कि 'मानवीय व्यवहार में कुछ भी सम्भव है', एक निहायत अर्थहीन और अनैतिहासिक धारणा मालूम पड़ती है। ऐतिहासिक प्रक्रिया इस व्यक्ति-व्यवहार की असामान्यता को लेकर नहीं चलती। ऐसी धारणाओं से मानवीय व्यापार-क्षेत्र परस्पर स्वतंत्र नहीं हो जाता और न हमारा कार्य-क्षेत्र निरर्थक। उसे किसी दैवी (असामान्य) आत्मा की अभिव्यक्ति मानकर आज भी चला जा सकता है, इसमें मुझे पूरा सन्देह है। बेनेडेटो क्रोचे ने भी लिखा है—'व्यक्ति की धारणा हमेशा ही एक सार्वभौम अथवा सर्व-साधारण धारणा है।'[2] व्यक्तिसत्ता की धारणा और व्यक्ति सत्ता एक चीज नहीं है, यह सही है। मगर उससे यह सिद्ध करना कि इतिहास में व्यक्तियों की धारणा से काम चलाया जा सकता है मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ता। इस प्रश्न पर डॉ० लोहिया ने लिखा था[3]—"उद्देश्यों और व्याख्याओं की बात ही क्या, इतिहास के तथ्यों, असलियतों को भी इकट्ठा कर पाना कठिन है···मैं बहुत दिलचस्पी से जानना चाहूँगा

१. मार्क्स का पत्र, १८७७ की रूसी पत्रिका 'आतेशेस्तवेन्ये जिपिस्की' से उद्धृत (इतिहासकार 'कर' द्वारा)।
२. क्रोचे—'एस्थेटिक्स', परिच्छेद ५ (अंग्रेज़ी अनवाद)।
३. लोहिया—इतिहास चक्र (हिन्दी अनुवाद), पृ० १३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उस समय गौतम बुद्ध ने कैसा अनुभव किया होगा या उनकी उस समय क्या अनुभूति थी, जब उस युग की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी का परिचय उनसे कराया गया और उसने संघ में शामिल किए जाने का आग्रह किया था। क्या उनके मन में तनिक-सा भी कम्पन हुआ था? हमें कुछ नहीं मालूम, न जान पाना कभी सम्भव है, क्योंकि बुद्ध को छोड़कर अन्य कोई नहीं जान पाया कि क्या हुआ था···।"

प्रश्न यह नहीं है कि ऐसी समस्याएँ युग की निर्णयात्मक समस्याएँ हो सकती हैं या नहीं—प्रश्न सिर्फ इतिहास के सामूहिक कारणों का है। हर अनुभव का एक निश्चित परि-वृत्त होता है, विचारों, वस्तुस्थितियों और सम्बन्धों का घेरा होता है। ऐसी स्थिति में अनेक आत्मस्वतन्त्र लगने वाले कारण उतने स्वतन्त्र रह नहीं जाते। मार्क्स की तो बात ही जाने दें, क्या क्रोचे ने भी हेगेल की आत्मवादी या दैवात्म-वादी दृष्टि का विरोध नहीं किया? क्रोचे को जोज़िया रॉयस और ब्राडले के साथ हेगेलवादी करार दिया गया है। क्रोचे की आत्मिकता क्या हेगेलीय द्वयात्म से एकदम भिन्न उपपत्ति नहीं है? ऐसी स्थिति में क्या हम ऐसा नहीं कह सकते कि हेगेल का निरर्थक विरोध करने वाले पॉपर जैसे विद्वान् क्रोचे की अपेक्षा ज्यादा हेगेलवादी हैं?

इतिहास में कारणत्व के नियमों की द्वंद्वात्मक और यांत्रिक दोनों व्याख्याएँ हुई हैं। इन दोनों को एक मानकर मार्क्सवाद पर आक्षेप करना एक अज्ञानतापूर्ण प्रयत्न मात्र कहा जाएगा। विषयी और विषय के जिस परंपरित श्रेण्य-विभाजन से इतिहास-धारणाएँ सामान्यत: जुड़ी हुई हैं उसके इतिहास से भी हमारा परिचय है। इस इतिहास को थोड़ा दुहरा लेना अनावश्यक नहीं होगा। **सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का समस्त 'तत्त्वज्ञान' इस भेद को स्वीकार कर ही इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करता है।** इतिहास की श्रेण्य धारणा में मनुष्य और प्रकृति को प्रतिमुख कर देखने की एक सामान्य परिपाटी है। मनुष्य को प्रकृति के विरोध में रखकर ही समस्त इतिहास-धारणाएँ इस काल में निर्मित हुईं। **मार्क्स ने मनुष्य और प्रकृति के इस सरल विभाजन को अपनी इतिहास-धारणा में एक मोड़ दिया।** ड्यूहरिंग मत-खण्डन में ऐंगेल्स ने लिखा[1] : 'स्वाधीनता प्राकृतिक नियमों से स्वाधीन हो जाने के स्वप्नों में निहित नहीं है, बल्कि वह उन नियमों के ज्ञान में, तथा इस ज्ञान की सहायता से निश्चित उद्देश्यों के लिए सुनियोजित ढंग से कार्य करने की जो संभावना पैदा होती है, उस संभावना में निहित है।" इतना ही नहीं, उन्होंने आगे लिखा—"यह बात बाह्य प्रकृति के नियमों के लिए भी सत्य है और उन नियमों के लिए भी जो खुद मनुष्य के शारीरिक और मानसिक अस्तित्व पर शासन करते हैं। नियमों के इन दो वर्गों को हम अधिक-से-अधिक केवल चिन्तन में ही एक-दूसरे से अलग कर सकते हैं।"

यही कारण है कि इच्छा की स्वतन्त्रता का अर्थ हम विषय-क्षेत्र से मुक्ति के रूप में नहीं लेते, बल्कि उस निर्णय की संभावना से लेते हैं जिसमें हम विषय-क्षेत्र का अधिक-से-अधिक अनुकूल उपयोग करते हैं। **इतिहास के बाहर किसी 'सार' की कल्पना मार्क्सवादी नहीं करता, स्वतन्त्रता की भी नहीं।** इतिहास और स्वतन्त्रता शीर्षक परिच्छेद में हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे। स्वतन्त्रता ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, वह ऐतिहासिक विषयों के ज्ञान की आत्मा है। यहाँ ज्ञान की आत्मा को हेगेलीय दैवात्म से मिला कर नहीं देखा जाए। ऐसा समझना उसके मौलिक स्वरूप को आहत करना होगा। आधुनिक प्रकृति-विज्ञान के भीतर यह स्थिति साफ-साफ देखी जा सकती है। **आज ज्ञाता और ज्ञेय के विभाजन से ज्ञान का निश्चय करना संभव नहीं रह गया है।** प्रकृति को हम किसी अपर सत्ता की तरह आज अज्ञेय मानकर नहीं चलते और न उसे मनुष्य-विरोधी ही समझते हैं।

मार्क्सवादी दर्शन और इतिहास-सरणि को विधेयवादी, स्वातन्त्र्येच्छा-विरोधी और न जाने क्या-क्या कहकर हम इस ऐतिहासिक ज्ञान का निषेध नहीं कर सकते। सम्भावना और मानवीय कर्म की ऐसी संगत और वैज्ञानिक व्याख्या पहले कभी प्रस्तुत नहीं हुई। सच्चाई तो यह है कि मार्क्सवाद का विरोध करने वाले विद्वान् भी इस ऐतिहासिक व्याख्या से अपने को बचाने में असमर्थ रहे हैं। **मार्क्सवादी ऐतिहासिक प्रक्रिया में मानवीय व्यापारों और सम्बन्ध-क्षेत्र की संगति और विरोध को समान महत्त्व दिया गया है।** मनुष्य के व्यापारों और सम्बन्ध-क्षेत्र के भीतर से इतिहास-गति को उपलब्ध करने वाली यह धारणा किसी भी यांत्रिक धारणा का अंग नहीं हो सकती।

इतिहास में अनिवार्यता और सार्थकता का प्रश्न

१. ऐंगेल्स—ड्यूहरिंग मत-खण्डन, पृष्ठ १९० (हिन्दी अनुवाद, मास्को।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परस्पर-विरोधी नहीं है। एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' में लिखा है—"······किसी खास प्रश्न के सम्बन्ध में किसी आदमी का मत जितना अधिक स्वतन्त्र है इस मत के सार को उतनी अधिक आवश्यकता के साथ निर्धारित किया जाएगा; जबकि दूसरी ओर, अज्ञान पर आधारित वह अनिश्चयता, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के तथा परस्पर-विरोधी सम्भव निर्णयों में से किसी एक को मनमाने ढंग से चुनती प्रतीत होती है, ठीक अपने कार्य से ही स्पष्ट कर देती है कि वह स्वतन्त्र नहीं है; बल्कि वह स्वयं उसी वस्तु के नियन्त्रण में है जिसका उसे नियन्त्रण करना चाहिए था।"

स्वतन्त्रता और इतिहास के प्रश्न पर इधर अस्तित्व-वादियों ने बहुत-कुछ लिखा है। समकालीन चिन्तन की समस्त धाराओं पर, मार्क्सवाद को छोड़कर इनका थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा है। अस्तित्ववादियों की बुनियादी कमज़ोरी शायद यह है कि वे **विषय और विषयी के सम्बन्ध को ज्ञान-सम्बन्ध मानने से इनकार करते हैं। वे इसे अस्तित्व में सिद्ध मानते हैं।** यह व्यक्तिगत स्तर पर एक 'नाटकीय परिस्थिति' है जिसका केवल विवरण दिया जा सकता है। इस प्रकार, सामान्यतः, अस्तित्ववाद ज्ञान की सार्वभौमता को, मनुष्य के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों को, समय के भौतिक स्वरूप को और ऐतिहासिक परिस्थिति को अनिश्चित और असीमित मानवीय त्रासों में तथा स्वतन्त्र व्यक्ति-निर्णयों में बदल देता है। इन समस्याओं में केन्द्रीय समस्या ऐतिहासिक संयोग की है। इस विचित्र ऐतिह्यता के भीतर 'स्वतन्त्रता' की एक हेगेलीय पूर्ण धारणा बनाई जाती है। मानवीय स्वतन्त्रता को रहस्यमयता से भर देना अस्तित्व-वादियों के अस्पष्ट चिन्तन का परिणाम है। **भाववाद से मुक्ति की उनकी सारी चेष्टाएँ यहाँ आकर व्यर्थ हो गई मालूम पड़ती हैं।** अतीत को 'डेड वेट' मानकर उनकी ऐतिह्यता केवल भविष्य में आक्षेपित होती है। भविष्य में इस प्रकार व्यक्ति को उछालकर वे स्वतन्त्रता की रहस्यवादी धारणा तैयार करते हैं।

रेमोंद ऐरों ऐतिहासिक संघटना की जिस 'दृश्यसत्तात्मक विधि' का निरूपण अपनी पुस्तक में करते हैं उसका हाल में काफी प्रचार हुआ है।[१] ऐरों की पुस्तक काफी जटिल है और उस पर समकालीन जर्मन विचार-वैचित्र्य का प्रभाव कई स्तरों पर लक्षित होता है। यूरोपीय महादेश के बाहर और भीतर उसे इसी रूप में ग्रहण किया गया है। ऐरों की तुलना में मेरल्यो पॉन्टी के इतिहास-सम्बन्धी विचार ज्यादा गम्भीर, मौलिक और स्पष्ट हैं। इंगलैंड में, जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस पुस्तक का अच्छा स्वागत नहीं हुआ। 'संयोग और सार्थकता' के प्रश्न पर इस पुस्तक में लम्बी बहस चलाई गई है। 'अतीत और इतिहास की धारणाएँ' शीर्षक अध्याय में ऐरों ने इतिहास के क्षैतिज नियमों और सिद्धान्तों पर विचार किया है। दूसरे खण्ड में ऐतिहासिक ज्ञान की विस्तृत चर्चा है। **वस्तुतः पुस्तक का यही हिस्सा बहस की केन्द्रीय प्रस्तावना तैयार करता है।**

इतिहास की नैतिकता का प्रश्न उठाकर यहाँ ऐरों कहते हैं कि यह नैतिकता इतिहासकार को यह छूट नहीं देती कि वह वर्तमान के सन्दर्भ में अतीत को पुनर्गठित करे। इतिहास की ऐसी व्याख्याएँ, ऐरों के अनुसार, इतिहास को धारणाओं में बदल देती हैं। इतिहास की यह धारणा वस्तुपरकता के सारे दावे झूठे कर देती है। इसी सन्दर्भ में समस्त क्षैतिज इतिहास-सिद्धान्तों पर आक्षेप करते हुए ऐरों ने मार्क्सवाद पर भी आक्षेप किए हैं।

ऐतिहासिक परिस्थिति की प्रत्यक्ष जटिलता और मानवीय प्रयत्नों का इतिहास-विधायक स्वरूप हमें एक केन्द्रीय सवाल के सामने ला खड़ा करता है। इनके भीतर मार्ग ढूंढने का काम इतिहास-दर्शन की केन्द्रीय समस्या है। लेनिन जब अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इम्पीरियो-क्रिटिसिज़्म' लिख रहे थे तब वे न केवल प्राकृतिक दर्शन के सवालों से टकरा रहे थे, बल्कि वे इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धान्त की भी सचेत रूप में रक्षा कर रहे थे। अनेक भाववादी, संशयवादी और जड़-अनुभववादी धारणाएँ इस कालखण्ड में चिन्तन पर प्रभाव डाल रही थीं। ऐसी स्थिति में इतिहास में संयोग और सार्थकता का प्रश्न पूरी गम्भीरता से उभरा था। लेनिन अपने आसपास की दुनिया में डूबकर लिख रहे थे और अपने समकालीन इतिहास पर पकड़ के साथ लिख रहे थे। उनकी लड़ाई समकालीन चिन्तन के तीसरे आयाम की लड़ाई थी।

मार्क्सवाद इतिहास को धारणाओं में नहीं बदलता। उसके प्रति पूरी तरह सचेत रहकर मार्क्स ने 'जर्मन विचार-धारा' में लिखा था—"इस उत्पादन-विधि को मात्र व्यक्तियों

१. ऐरों—'इन्ट्रोडक्शन टू द फिलासफ़ी ऑव हिंस्ट्री' (अंग्रेज़ी अनुवाद, १९६१)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भौतिक अस्तित्व के पुनरुत्पादन के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए, बल्कि यह इन व्यक्तियों के कर्म-व्यापार के निश्चित रूप हैं जो विशिष्ट ढंग से उनके जीवन को व्यक्त करते हैं—उनके पक्ष में ये स्पष्ट जीवन-विधि हैं।" ऐरों और उनसे प्रभावित दूसरे लोग सम्भवतः इस विशिष्ट जीवन-विधि को इतिहास से उत्पन्न नहीं मान पाएँगे क्योंकि **उनके लिए इतिहास मानवीय कर्म और संयोगों के बीच विभाजित है।** फिर व्यक्ति को 'ऐतिह्यता' के लिए पूरी परिस्थिति भी उन्हें यहाँ नहीं मिलेगी। जिस **'इण्टर सब्जेक्टिविटी'** के **भीतर वे समस्त इतिहास और मानवीय स्वतन्त्रता को देखते हैं, वह वस्तुस्थिति के रहस्यवादी रूपान्तर से ही बनती है।**

इस केन्द्रीय प्रश्न के सन्दर्भ में पैदा हुए मतान्तरों पर हम यहाँ बहस नहीं करेंगे। विषय को प्रवृत्ति में बदलकर इतिहास की जो रूपरेखा तैयार की जाती है उसकी सार्थकता पर भी हम अलग से विचार करेंगे। अभी आँरी लेफ़ेव्र के शब्दों में हम यहाँ कहना चाहेंगे—

"निश्चित रूप से ये सामाजिक सम्बन्ध किसी प्रत्यय की तरह अस्तित्ववान नहीं होते और न हवा में होते हैं। इनका भौतिक आधार होता है—उत्पादन की शक्तियाँ, उनके हथियार, यन्त्र और उनका कार्य-संयोजन।"[1]

(क्रमशः)

१. आँरी लेफ़ेव्र—'सोशियालॉजी ऑव मार्क्स', पेंगुइन संस्करण (१९६८)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यिक द्वन्द्व : गुप्त-द्विवेदी संघर्ष के सन्दर्भ में

विष्णुकान्त शास्त्री

साहित्यिक द्वन्द्व दूसरे द्वन्द्वों से कहीं अधिक दिलचस्प होते हैं, कहीं अधिक नाटकीय। साधारण जन की यह धारणा हो सकती है कि झगड़ा करना सुसंस्कृत साहित्यकारों का काम नहीं है, किन्तु सच्चाई यह है कि झगड़ों, दलबन्दियों के लिए साहित्यिक क्षेत्र बहुत उर्वर है। हाँ, इनके लिए साहित्यिकों ने नाम उच्च-स्तरीय रख छोड़े हैं असहमति, मतभेद, नवीन वाद प्रवर्त्तन, मूर्त्ति-भंजन, आत्माभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य आदि-आदि। अपनी सर्वश्रेष्ठता के विश्वासी भावप्रवण साहित्यकार के लिए किसी दूसरे को (विशेषत: किसी सम-सामयिक को) अपने से बढ़कर मानना कठिन हो जाता है, अतः पूर्वप्रतिष्ठित अथवा समवयस्क प्रतिष्ठाप्राप्त या अपनी प्रतिष्ठा को चुनौती दे सकने वाले नये उभरते साहित्य-कार के साथ अपने को समंजित करना उसके लिए लोहे के चने चबाना है। फलत: कई बार वह अपने समवर्ती लेखकों की रचनाओं की तथाकथित दुर्बलता का उपहास करने का प्रलोभन संवरण नहीं कर पाता। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल विच्छिन्न व्यंग्योक्तियों के रूप में तात्का-लिक क्षोभ-प्रकाशन को ही साहित्यिक द्वन्द्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती। साहित्यिक द्वन्द्व के लिए दीर्घकालीन ऐसी अनेक आलोचना-प्रत्यालोचना का होना आवश्यक है जिनसे वास्त-विक गहरे एवं प्रायः स्थायी मनमुटाव का बोध हो। एक बार ऐसा द्वंद्व छिड़ जाने पर उसका विकास अपने ही नियमों के अनुसार होता है। हो सकता है कि कभी-कभी इनका आरंभ इकतरफे आक्रमण के कारण हो, किन्तु प्रायः मार दुतरफी होती है। ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, विरोधी व्यक्तित्व या शुद्ध साहित्यिक मतभेद इनमें से एक या अनेक हेतु इन द्वन्द्वों के मूल में हो सकते हैं। अपनी उपेक्षा और दूसरे को मिलने वाली प्रतिष्ठा ईर्ष्या को और दूसरे को पछाड़कर आगे बढ़ जाने की भावना प्रतिस्पर्धा को जन्म देती है। अधिक उग्रता इन्हीं दो कारणों के फलस्वरूप उभरती है। द्वन्द्व-ग्रस्त साहित्यिकों को भड़काकर मज़ा लेने वाले भी बहुत बड़े अंश तक ऐसे द्वन्द्व के लिए उत्तरदायी माने जाएँगे। इन्हें साहित्यिक ज़मालो-बीबियाँ कहना चाहिए। विवेक के क्षणों में द्वन्द्वग्रस्त साहित्यकार चाहते हैं कि द्वन्द्व को स्थगित कर दें या रोक दें, किन्तु प्रायः वे ऐसा कर नहीं पाते। बात यह है कि कृती साहित्यकारों का व्यक्तित्व प्रायः इतना जटिल, उलझा हुआ और परस्पर विरोधी तत्त्वों से युक्त होता है कि बहुत बार स्वयं उनके लिए आन्तरिक सामंजस्य बनाये रखना कठिन हो जाता है। यह भी देखा गया है कि वे ऐसे द्वन्द्वों में प्रायः तभी प्रवृत्त होते हैं जब या तो स्वयं अच्छा न लिख पाने के कारण या आर्थिक सामाजिक कारणों के फलस्वरूप वे गहरे मानसिक तनाव के शिकार रहते हैं। ये द्वन्द्व प्रतिभाशाली लेखकों के पीड़ित, उलझे हुए, क्रुद्ध, पश्चात्तापयुक्त, क्षुद्र और कभी-कभी आश्चर्यजनक उदार स्वरूप का उद्घाटन करते हैं।

साहित्यिक द्वन्द्व सभी देशों और सभी कालों में होते रहे हैं। इस कथन के प्रमाणस्वरूप डॉ० जान्सन और लार्ड चेस्टरफील्ड, थैकरे और चार्ल्स डिकेंस, इवान तुर्गनेव और दोस्तोवस्की तथा तोल्सताय, अर्नेस्ट हेमिंग्वे और शेरउड ऐंडर्सन आदि के द्वन्द्वों का उल्लेख किया जा सकता है। (देखिए, मिरिकलैंड कृत द फाइन आर्ट ऑफ़ लिट्रेरी मेहेम) हिन्दी के सन्दर्भ में ही बात करनी हो तो चन्दबरदाई और भट्ट केदार से आरम्भ कर पद्माकर और ठाकुर से होते हुए निराला और पन्त तक की (उनके बाद के लोगों का नाम लेना खतरे से खाली नहीं है) अनेकानेक साहित्यिक नोक-झोकों की चर्चा की जा सकती है। पर इनमें से अनेक विवाद महत्त्वपूर्ण होते हुए भी दीर्घकालीन आलोचना-प्रत्यालोचना के अभाव में ठीक-ठीक द्वन्द्व संज्ञा के अधिकारी नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में सबसे रोचक, व्यापक और सच्चे अर्थों में प्रखर साहित्यिक द्वन्द्व बाबू बालमुकुन्द गुप्त और आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के मध्य हुआ था। यहीं यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि अपने देश में हुए न केवल प्राचीन काल के बल्कि आधुनिक काल के साहित्यिक द्वन्द्वों का भी प्रामाणिक एवं पूरा विवरण प्रस्तुत करना निर्भर योग्य विस्तृत सामग्री के अभाव के कारण कठिन है। विदेशों में जिस तरह साहित्यिकों के जीवन-चरित्र, आत्मकथाएँ, पत्र-संग्रह, रोजनामचे, उनके जीवन की विशिष्ट घटनाओं के बारे में प्रत्यक्षदर्शियों के विवरण आदि सुलभ हैं, उस तरह की सामग्री यहाँ कहाँ ! फिर भी गुप्त-द्विवेदी-द्वन्द्व के बारे में काफी मसाला इधर-उधर बिखरा हुआ है, जिसका उपयोग कर साहित्यिक द्वन्द्व के स्वरूप को स्पष्ट करने की सार्थक चेष्टा की जा सकती है।

"हमने समझ लिया था कि हिन्दी जाननेवालों और हिन्दी लिख सकनेवालों में न्याय का नाश हो गया, पांडित्य डूब मरा, गुणग्राहकता अस्त हो गई, लेखन-शक्ति का उच्छेद हो गया, पर अन्त में आपने हमारे इस नैराश्यपूर्ण भ्रम को दूर कर दिया।"

"क्या हम चिड़िया हैं, जो ये लोग हमारा गला घोंट देंगे ?"[1] अपनी समझ से अपने ऊपर हुए अन्यायपूर्ण नृशंस आक्रमण के फलस्वरूप कुछ कातरता, कुछ रोष की व्यंजना करने वाली ये क्षोभपूर्ण उक्तियाँ हिन्दी के परम समर्थ आलोचक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की हैं, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता। फिर भी यह सच है कि गुप्त-द्विवेदी-द्वन्द्व में अपने प्रमुख समर्थक (एक दृष्टि से त्राणकर्त्ता) पं० गोविन्दनारायण मिश्र को लिखे ४-३-१९०६ तथा ११-४-१९०६ के अपने पत्रों में द्विवेदीजी ने ये पंक्तियां लिखी थीं—

"वह (पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी) समझते हैं कि हमें सबकी आलोचना करने का अधिकार मिल गया है और हमारी आलोचना कोई करे तो हमारे भाई-बन्धु जाति-धर्म की, भाई-बिरादरी की दुहाई देते हुए चारों ओर से लट्ठ लेकर सहायता के लिए आ धमकें और विद्या से नहीं तो लट्ठ से उसे सीधा कर दें। आत्माराम पर भी वही बीती। वह गरीब लठैतों के दल में घिर गया।"[1] अपनी दृष्टि के अनुसार अपने न्याययुक्त पक्ष के अन्यायपूर्ण खंडन के प्रति क्षोभ और अपनी स्थिति के प्रति सहानुभूति के उद्रेक का प्रयास बालमुकुन्द गुप्त की इन पंक्तियों में स्पष्ट है।

इन उद्धरणों से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि कितना तीखा रहा होगा वह साहित्यिक द्वन्द्व, जिसकी उत्तर वेला में ये दोनों दिग्गज इस प्रकार क्षत-विक्षत हो कराह रहे थे और दूसरों से समर्थन एवं सहयोग की कामना कर रहे थे।

किस बात पर छिड़ा था वह द्वन्द्व, कैसे हुए थे उसमें आक्रमण-प्रत्याक्रमण, क्या निकला था उसका निष्कर्ष, ये सभी सार्थक प्रश्न हैं, किन्तु इनका समाधान करने के पूर्व छोटी-सी भूमिका जरूरी है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८ ई०) तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७ ई०) दोनों समवयस्क थे, दोनों अत्यन्त तेजस्वी, निर्भीक एवं दृढ़चेता व्यक्ति थे, दोनों हिन्दी के निष्ठावान् सेवक, सफल लेखक और मनस्वी पत्रकार थे। केवल इतना ही नहीं, दोनों एक-दूसरे के सहायक और स्नेही भी थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' में द्विवेदीजी की रचनाएँ १८८९ से अप्रैल १९०१ तक समय-समय पर प्रकाशित की थीं। भारतमित्र के 'तेईसवाँ वर्ष' शीर्षक लेख में १९०१ ई० में उन्होंने लिखा था—"हम पं० श्रीधरजी पाठक तथा पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी का हृदय से धन्यवाद करते हैं। हिन्दी पद्य को पथ पर ले जाना आप जैसे लोगों ही का काम है।"[2] दूसरी तरफ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रत्नावली के गुप्त-जी कृत अनुवाद की प्रशंसा करते हुए लिखा था—"हमको आप चाटुकार न समझें, यदि हम यह कहें कि जैसा श्रीधरजी अँगरेजी का अच्छा अनुवाद करके पढ़नेवालों के मन को मोहित कर लेते हैं वैसा ही आप संस्कृत का अनुवाद करके मोहित कर लेते हैं।"[3] इसके अतिरिक्त १९०० ई० में जब गुप्तजी का पं० लज्जाराम मेहता से 'शेष' के अर्थ को लेकर विवाद हुआ था तब भी द्विवेदीजी ने वामन शिवराम आप्टे की संस्कृत-अँगरेजी डिक्शनरी एवं पंडितराज जगन्नाथ के

१. श्री गोविन्द निबन्धावली (प्रथमावृत्ति पं० गोविन्दनारायण मिश्र को लिखित आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पत्र से, पृ० १ ।) तथा १-)।

१. गुप्त निबन्धावली (प्रथम भाग), पृ० ४२८।
२. बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ, पृ० १२०।
३. वही, पृ० १२४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस गंगाधर से उनके अनुकूल प्रमाण देकर उनके पक्ष का समर्थन किया था। निस्सन्देह दोनों एक-दूसरे की क्षमता के कायल और प्रतिभा के प्रशंसक थे।

फिर भी विवाद छिड़ने पर गुप्तजी ने द्विवेदीजी के लिए लिखा था—"सचमुच जिस भाषा के ठेकेदार आप जैसे घर-घमंडी हों, उस अभागी का विनाश ही होता है।"[1] और द्विवेदीजी ने गुप्तजी के लिए लिखा—"जो लोग 'ज्ञानलव दुर्विदग्ध' हैं, ईर्षा-द्वेष से जिनका जी जल रहा है, उनको वृहस्पति के बाप की भी बातों में पूर्वापर विरोध और संदिग्ध भाव देख पड़ेगा।"[2]

क्या इस प्रकार की कठोर भाषा के प्रयोग के द्वारा किसी सार्थक विचार-विनिमय की सम्भावना रह जाती है ? इसकी ध्वनि से यह स्पष्ट है कि शुद्ध वैचारिक मतभेद की मीमांसा दोनों में से सम्भवतः किसी को अभीष्ट भी न थी। दोनों सिद्धान्तों की ओट लेकर दूसरे को अपदस्थ करना चाहते थे, यद्यपि यह भी ठीक है कि दोनों का घोषित उद्देश्य भाषा-परिमार्जन ही था और इस विवाद से एक हद तक उस आवश्यक किन्तु उपेक्षित पहलू के बारे में विचारक, लेखक और सामान्य पाठक अधिक सचेत हुए भी। किन्तु यह दुःखद सत्य है कि इस द्वन्द्व के कारण जितनी गर्मी पैदा हुई, जितना धुआँ फैला, उतना प्रकाश नहीं।

इस द्वन्द्व का विस्फोट हुआ था नवम्बर १९०५ की सरस्वती में प्रकाशित पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के एक लेख 'भाषा और व्याकरण' के फलस्वरूप। इस लेख में द्विवेदीजी ने भाषा की परिवर्तनशीलता की ओर संकेत करते हुए यह मत प्रतिपादित किया था कि लिखित भाषा की एकरूपता बनाए रखने के लिए सर्वांगपूर्ण व्याकरण का प्रणयन एवं लेखकों द्वारा उसका अनुगमन आवश्यक है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने हिन्दी में अच्छे व्याकरण के अभाव की तथा प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा भी व्याकरण-विरुद्ध भाषा-लेखन की चर्चा करते हुए कुछ सम्मान्य जीवित एवं दिवंगत लेखकों की भाषा पर भी टीका-टिप्पणी की थी। उन्होंने यह आग्रह भी व्यक्त किया था कि वाक्प्रवाह या मुहावरे की ओट लेकर व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों को ठीक नहीं ठहराया जा सकता। सच कहा जाये तो इस लेख के विषय के अनुरूप ही इसकी शैली भी गम्भीर और विचार-प्रधान थी एवं इसमें किसी को जान-बूझकर अपमानित करने का भाव नहीं झलकता। व्याकरण-विरुद्ध रचनाओं के उदाहरण देने के पूर्व द्विवेदीजी ने लिखा था—"पर जिनकी रचना के ये उदाहरण हैं उनसे इस कारण हम शत बार क्षमा-प्रार्थना करते हैं—चाहे वे इस समय इस लोक में हों चाहे परलोक में। इसमें बुरा मानने की बात नहीं। हम स्वयं भी बहुधा व्याकरण-विरुद्ध लिख जाते हैं। इसका कारण यह है कि व्याकरण की तरफ लोगों का ध्यान ही कम है।"[1]

किन्तु द्विवेदीजी इसके पहले लाला सीताराम, पं० माधव प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 'ज़माना' सम्पादक दयानारायण निगम आदि से टकरा चुके थे। उनकी विद्वत्ता और दबंगपन से प्रभावित साहित्यसेवी जहाँ उन्हें श्रेष्ठ आलोचक के रूप में स्वीकार करने लगे थे वहीं उनकी कठोरता और अहम्मन्यता से क्षुब्ध साहित्यकार उनके स्फीत दर्प को चूर्ण करने का अवसर खोज रहे थे। इस लेख में भी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गदाधरसिंह राधाचरण गोस्वामी आदि सम्मान्य लेखकों की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ दिखाई गई थीं, इसका अर्थ उन्होंने यह निकाला कि द्विवेदीजी अपने को इन लोगों से भी बड़ा लेखक मानने लगे हैं। बाबू बालमुकुन्द गुप्त द्विवेदीजी की कठोर आलोचना शैली से पहले से ही असन्तुष्ट थे। लाला सीताराम की उग्र आलोचना से द्विवेदीजी को विरत करने की चेष्टा करते हुए उन्होंने लिखा था—"मेरा मतलब यह है कि किसी अच्छे लेखक से कुछ भूल भी हो तो उस पर अधिक कटाक्ष न होने पावे।"[2] फिर भारतेन्दु आदि की भूलें दिखाना तो उनके भावुक हृदय को अक्षम्य अपराध जान पड़ा। उनकी क्षोभाग्नि में आहुति डाली विशुद्धानन्द विद्यालय के संस्कृत अध्यापक पं० अक्षयवट मिश्र ने। उन्होंने गुप्तजी को सुझाया कि 'भाषा और व्याकरण' के बारे में बड़े-बड़े उपदेश देने और दूसरों के दोष दिखाने के बावजूद द्विवेदीजी स्वयं अस्थिरता के स्थान पर 'अनस्थिरता' जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं जो नितान्त व्याकरण-विरुद्ध है। बाबू भगवानदास हालना के अनुसार "गुप्तजी को यह सुनकर प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा कि यह बहुत अच्छा हुआ, अब द्विवेदीजी को भी ठीक रास्ते

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४३५।
२. वाग्विलास, पृ० १२४।

१. वाग्विलास, पृ० ८९-९०।
२. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १२३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखा दिया जायगा।"[1]

इसके बाद गुप्तजी ने अपनी अननुकरणीय व्यंग्यात्मक शैली में आत्माराम के नाम से भारतमित्र में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक दस लेख लिखे। इन लेखों में हिन्दी के पुराने लेखकों की द्विवेदीजी द्वारा बताई गई भाषा-सम्बन्धी कुछ भूलों को तो सही सिद्ध किया गया, कुछ को भाषा की पुरानी धारा के अनुरूप माना गया, कुछ को उपेक्षणीय बताया गया। फिर द्विवेदीजी के उसी लेख के अनेक वाक्यों की धज्जियाँ उड़ाकर चुनौती दी गई कि 'अनस्थिरता' को द्विवेदीजी व्याकरण द्वारा शुद्ध सिद्ध करें। ये लेख हिन्दी के 'विवादी लेखन' के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रतिपक्षी को महीन काटने में गुप्तजी का जवाब नहीं है। द्विवेदीजी की वाक्य-रचना में चुस्ती की सचमुच कमी थी। शिष्ट भाषा-प्रवाह के जीवन्त रूप के स्थान पर द्विवेदीजी की भाषा किताबी, भारी-भरकम और जटिल होती थी। गुप्तजी ने उस पर भी खूब फब्तियाँ कसीं। यह लेखमाला यदि इतनी विध्वंसक न होती, यदि अनस्थिरता को शुद्ध सिद्ध करने पर इतना ज़ोर न दिया जाता तो इसी विचार-क्रम में द्विवेदीजी और गुप्तजी की मान्यताओं के आधार पर व्याकरणबद्धता और शिष्ट भाषा-प्रवाह के महत्त्व का तुलनात्मक विवेचन हो सकता था। किन्तु दुर्भाग्य से यह विवाद विचार के स्तर से व्यक्तिगत मानापमान के स्तर पर उतर आया और 'अनस्थिरता' की शुद्धता या अशुद्धता जीत-हार की कसौटी बन गई।

शीघ्र ही यह विवाद दो व्यक्तियों के बीच का न रहकर हिन्दी जगत् के अधिकांश लेखकों का बन गया। द्विवेदीजी के समर्थकों में पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० देवीप्रसाद शुक्ल, पं० गिरिजाप्रसाद वाजपेयी, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि थे, तो गुप्तजी के पक्षधरों मे पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० अक्षयवट मिश्र, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू गोपालराम गहमरी आदि प्रमुख थे।

गुप्तजी ने बार-बार चुनौती-भरे स्वर में यह लिखा था कि "अनस्थिरता का फैसला झटपट हो जाना चाहिए, क्योंकि वही सारी लिखा-पढ़ी की जड़ है।" अतः द्विवेदीजी के समर्थक पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने अर्ध सत्य का सहारा लेते हुए हिन्दी बंगवासी में प्रकाशित 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेखमाला में अनरस, अनरीति, अनहोनी जैसे शब्दों के अनुसार ही हिन्दी व्याकरण से 'अनस्थिरता' शब्द को शुद्ध सिद्ध कर दिया। द्विवेदीजीने उन्हीं के तर्कों का सहारा लेते हुए फरवरी १९०६ की सरस्वती में प्रकाशित अपने लेख में गुप्तजी को कड़ा उत्तर दिया। इसका प्रत्युत्तर गुप्तजी ने 'व्याकरण विचार','हिन्दी में आलोचना' (सात लेख), आत्मारामीय टिप्पण आदि के द्वारा दिया और यह फब्ती भी कसी कि द्विवेदीजी की अनस्थिरता अँगरेज़ी से भी साबित हो सकती है, क्योंकि उसमें भी अनस्क्रुपुलस, अनथाटफुल, अनसिविलाइज्ड, अनरेड, अनग्रामेटिकल आदि शब्द हैं जिनमें द्विवेदीजी महाराज का 'अन' मौजूद है। इस विवाद के सैद्धान्तिक पक्ष का विस्तृत विवेचन करना हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है।[1] ध्यान देने की बात यही है कि विचार-विवेचन में सत्यान्वेषण के संयत प्रयास के स्थान पर इन आलोचना-प्रत्यालोचनापरक लेखों में वैयक्तिक ऊष्मा की अनियंत्रित अभिव्यक्ति हुई है, व्यंग्यों, कटाक्षों के तेज नश्तर चुभाने की चेष्टाओं में दूसरे पक्ष के सत्यांश को अनदेखा कर दिया गया है।

आलोचना में शालीनता के परम समर्थक गुप्तजी गोविन्द नारायण मिश्र के प्रहारों से बौखलाकर उनके बारे में यहाँ तक लिख गए, "अब एक पहाड़ी खखोडर के पुराने उल्लू की गुड़मगुड़म सुनिये। बहुत दिन से यह गोबरगणेश चुपचाप था। अब उसने बंगवासी के धर्म भवन पर बैठकर अपने पट्ठों सहित बोलना शुरू किया है।"[2] यह संभवतः अपनी तुरुप-चाल 'अनस्थिरता को व्याकरण-शुद्ध सिद्ध करने की चुनौती' के कट जाने से उत्पन्न क्रोध का परिणाम था। द्विवेदीजी के बारे में उन्होंने इतना कटु नहीं लिखा था, शायद इसका एक कारण यह भी था कि उन्हें अपने पक्ष की जीत का पूरा भरोसा था और इसीलिए ज़रा ऊँचाई पर खड़े होकर वे एक के बाद दूसरे लेख में द्विवेदीजी की गंभीरता की, 'अपनी छटांक भर विद्या को मन भर करके दिखलाने की' उनकी श्रेष्ठता-ग्रन्थि की खिल्ली उड़ाते चले गए थे। प्रस्तुत है एक

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० ३५६।

१. जो इस विवाद के सैद्धान्तिक पक्ष के बारे में पढ़ना चाहें वे 'बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन' में संकलित हमारा लेख 'हिन्दी आलोचना को श्री बालमुकुन्द गुप्त की देन' पढ़ें।

२. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४८१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण—"द्विवेदीजी आँधी की भाँति उठते हैं किन्तु धूल की भाँति गिरते हैं। आपकी लम्बी-चौड़ी फूँफाँ और हुल्लड़ देखकर तो यही प्रतीत होने लगता है कि न जाने कैसी भारी बात आप कहेंगे, पर पास जाते ही मालूम हो जाता है कि देहातों गुलगपाड़े से बढ़कर कुछ नहीं है।"[१]

द्विवेदीजी इन मार्मिक प्रहारों से पहले तो वास्तव में सन्नाटे में आ गये, फिर जब गोविन्दनारायण मिश्र ने हिन्दी व्याकरण के आधार पर 'अनस्थिरता' को शुद्ध सिद्ध कर दिया तब फरवरी १९०६ की सरस्वती में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से ही दूसरा लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने अपने पक्ष के प्रशंसक विद्वानों की सम्मतियाँ छापीं, अपने पक्ष का समर्थन किया और गुप्तजी की कटु आलोचना की।

एक बानगी देखिये—"शब्दों की व्युत्पत्ति उसे समझाई जाती है, जिसे समझने का शऊर होता है। जो इतना भी नहीं जानता कि 'जीव' और 'जीवन' में भेद है या नहीं, और है तो क्या है, जिसकी आँखें 'प्रकाशन' और 'प्रकटन' को देखकर दुखने लगती हैं, जिसकी समझ में 'ब' और 'व' का अन्तर अभी तक नहीं आया और जिसका पंचभूतात्मक प्रपंच भर्तृ-हरि का एक श्लोक सही-सही नकल तक नहीं कर सकता, उसका शब्दों की व्युत्पत्ति पूछना मानो तीन दमड़ी की दूकान रखने वाले किसी बनिये-बक्काल का जगत् सेठ राथ्सचाइल्ड या कारनेगी से उनकी सम्पत्ति का हिसाब पूछना है।"[२]

अपने नाम से प्रकाशित रचनाओं में तो वे शिष्टता की सीमा नहीं लाँघ सकते थे, अतः उन्होंने कल्लू अल्हइत के नाम से 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक एक करारा आल्हा लिखा। यह रचना एक देहाती की नाममात्र की अपनी पढ़ाई-लिखाई के बलबूते पर शहर आकर ईर्ष्या और अहंकार के मारे दूसरों की पगड़ियाँ उछालने तथा अन्य कुकृत्य करने की स्वीकारोक्ति है। कहना न होगा कि देहाती के रूप में द्विवेदी-जी ने गुप्तजी को ही संकेतित किया है। इसकी कुछ संकेत-पूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जिन बभनन का पुरिखन पूजा हमहूँ जिनके ज्वारा हाथ।
हमरिन गारिन के फूलन ते उनहिन के भै बोझिल माथ॥

× × ×

गुन जसु मानवु कौन चीज है सो हम अपन्यौ जानत नाहिं।
अस किरतघ्न और जो ढूँढ़ै मिली न सात बिलाइत माँहि॥

× × ×

पढ़ा गुना हम कुछौ नहींना, जो कुछ सिखा राम का नाउँ।
तहू बिरस्पति जो कुछ ब्वालैं वहि मा दौरि घुसारी पाउँ॥

× × ×

हमरी नस-नस बीच बियावै इरखा और लोभ महराज।[१]

फिर अनुताप के क्षणों में वह देहाती स्वयं घोषणा करता है, "साफ कहित है हम ऐसेन का सरगौ नरक ठेकाना नाहिं।" यह पूरा आल्हा गुप्तजी की खिल्ली उड़ाने की दृष्टि से ही लिखा गया है। इससे द्विवेदीजी का उनके प्रति क्षोभ तो व्यक्त होता ही है, उनकी अपनी साहित्येतर सीमा भी प्रकट होती है। विचार के क्षेत्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण का सवाल उठाना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

गुप्तजी कब दबने वाले थे! उन्होंने इसके जवाब में तीन कविताएँ लिखीं 'गुरु घंटाल का स्वप्न', 'गुरुजी का हाल' और 'व्याकरणाचार्य'। 'गुरुजी का हाल' की कुछ चुभती हुई पंक्तियाँ देखिये—

कहो गुरूजी कैसा हाल। रह गई चोटी उड़ गयी खाल।
फैलाये कितने ही जाल। गली नहीं पर मेरी दाल॥
रही हमारी जो कुछ पोल। यारो ने सब डाली खोल।
नाहक मैं उलझा बेतौर। किया नहीं कुछ पहले गौर॥
'टिड्ढाण' की ढाल बनाई। उल्टी सीधी खूब सुनाई।
पर आखिर को मुँह की खाई। अपनी करनी आगे आई॥

गुरूजी की पोल खुल जाने पर सब उनकी हँसी उड़ाने लगे। उनको बेहाल बैठे देखकर उनके भाई-बन्द दौड़े आये।

बैठे थे हम मन को मारे। भाई-बन्द आ गये सारे।
मोटे-मोटे लट्ठ उठाये। बोले—कल्लू कस बुलवाये॥
तो संग को करि सकै मरोरि। अभी देहि हम माथा फोरि।

द्विवेदीजी का सर्वप्रथम प्रभावी समर्थन पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने गुमनाम रहकर किया था, अतः उनकी विशाल काया की चुटकी लेते हुए गुप्तजी ने लिखा—"आये पहले हाथी राम, कोई न जाने जिनका नाम।" पं० माधवराव सप्रे एवं पं० अप्पा शास्त्री ने 'अनस्थिरता' को संस्कृत व्याकरण से भी सिद्ध माना था। संभवतः इसी की ओर संकेत करते हुए गुप्त जी ने लिखा—

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४५२।
२. वाग्विलास, पृ० ३४१।

१. कविता कौमुदी (दूसरा भाग), पृ० ५२८-२९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मरहट्ठों ने रख लई लाज । इससे जान बची है आज ।
तो भी कुछ-कुछ हैं गुर्राते । चुपके-चुपके हैं चिचियाते ।[1]

द्विवेदीजी के अहंकार पर कटाक्ष करते हुए गुप्तजी ने 'व्याकरणाचार्य' में लिखा—

साधो मैं व्याकरणाचारी ।
घर ही के कोने में मिल गई मुझको विद्या सारी ।
सबसे अधिक पसन्द मुझे है अपनी ही टिड्ढाँण ।।
मेरा कहना तुम भी मानो बाबा वचन प्रमाण ।[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस गहरी नोक-झोंक, तेज़-तर्रार उत्तर-प्रत्युत्तर, तीखे व्यंग्य विद्रूप के कारण इस साहित्यिक द्वन्द्व के दौरान प्रकाशित पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बाबू गोपालराम गहमरी आदि-आदि के लेख, पद्य बड़े ही चित्ताकर्षक बन गये हैं और आज भी उनको पढ़ने में बड़ा मज़ा आता है । कितना अच्छा हो यदि इन सबको एकत्र संकलित कर ग्रन्थाकार प्रकाशित कर दिया जाये ।

क्या यह सारा विवाद शुद्ध साहित्यिक मतभेद के कारण ही खड़ा हुआ था ? यह ठीक है कि द्विवेदीजी और गुप्तजी की भाषा-सम्बन्धी दृष्टि में कुछ अन्तर था, एक का ज्यादा ज़ोर व्याकरण पर था, दूसरे का शिष्ट भाषा-प्रवाह पर, किन्तु क्या उसी के कारण विचार-विवेचन में इतने वैयक्तिक आक्षेप किये जा सकते थे ? साहित्यिक द्वन्द्व में तीक्ष्णता का संचार करने वाले दो प्रमुख तत्त्वों के रूप में ईर्ष्या और स्पर्धा की चर्चा इस लेख के आरम्भ में की गयी है । सच्चाई यह है कि वे दोनों तत्त्व इस द्वन्द्व में भी सक्रिय थे ।

द्विवेदीजी और गुप्तजी के स्नेहपूर्ण सम्बन्धों में पहला तनाव तब आया था जब लाला सीताराम की द्विवेदीजी द्वारा की गयी कठोर आलोचनाओं के प्रति गुप्तजी ने असहमति प्रकट की थी । फिर २९ जनवरी १९०० ई० के भारतमित्र में हिन्दी शिक्षावली के तृतीय भाग की कड़ी आलोचना करते हुए द्विवेदीजी ने उसमें संकलित 'खिलौना' पुस्तक की एक कविता 'गिलहरी का ब्याह' की भी गलतियाँ दिखायी थीं । 'खिलौना' के लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त थे, सम्भवतः उन्होंने ही रामभजराम के नाम से उसका चुटीला उत्तर लिखकर द्विवेदीजी की आलोचना को निःसार सिद्ध किया । द्विवेदीजी भी रामभजराम पर कुछ ताव खा गये, किन्तु जब उन्हें श्री श्रीधर पाठक से पता चला कि खिलौना के लेखक गुप्तजी हैं तो उन्होंने गुप्तजी को व्यक्तिगत पत्र लिखकर इस मामले को रफा-दफा करना चाहा । गुप्तजी ने अपने पत्र में यह तो लिखा कि 'खिलौना' पर आपके लिखने से मुझे हर्ष है, दुःख नहीं । ऐसी बातों का मुझे ख्याल नहीं होता ।[1] पर यह भी लिखा—"आपकी कविता में दोष दिखाने की चेष्टा नहीं की परन्तु आज्ञा हो तो करूँ ? पर शर्त यह है कि उसमें अन्य भाव न समझा जावे ।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि उनके मन में गाँठ पड़ गयी थी । इसके बाद 'भारतमित्र' में द्विवेदीजी की एक-दो रचनाएँ ही छपीं और जब उनकी एक-दो रचनाओं को मर्यादा के अनुकूल न होने के कारण 'भारतमित्र' में प्रकाशित करने में गुप्तजी ने असमर्थता प्रकट की तो उनको द्विवेदीजी ने वापस मँगवा लिया और फिर 'भारतमित्र' में प्रकाशनार्थ अपनी कोई रचना नहीं भेजी । इस समय तक गुप्तजी और द्विवेदीजी समान स्तर के ही लेखक माने जाते थे बल्कि 'भारतमित्र' जैसे प्रतिष्ठित पत्र के सम्पादक होने के कारण गुप्तजी का प्रभाव अधिक था । क्रमशः आलोचक के रूप में द्विवेदीजी की प्रतिष्ठा बढ़ती चली गयी । १९०३ में वे 'सरस्वती' के सम्पादक नियुक्त हुए और शीघ्र ही 'सरस्वती' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका बन गयी । यह भी उल्लेखनीय है कि द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ रचना भेजने के लिए गुप्तजी से कभी अनुरोध नहीं किया यद्यपि वे अन्य बड़े लेखकों से आग्रहपूर्वक लेख मँगवाते रहे । द्विवेदीजी के सम्पादन-काल के पहले से ही गुप्तजी 'सरस्वती' पर छींटाकशी करते रहे, द्विवेदीजी के सम्पादक होने के बाद भी वह जारी रही, बल्कि उसमें कुछ तेजी ही आयी । इसीलिए द्विवेदीजी ने अपने दूसरे लेख में लिखा था—"जिस काया में घुसकर हमारे शूर समालोचक बाण वर्षा कर रहे हैं, उसकी शुरू ही से 'सरस्वती' पर नेक नज़र रही है । आक्रमण-पर-आक्रमण उस पर होते आये हैं । पर हमने कभी उनकी तरफ ध्यान देने की ज़रूरत नहीं समझी । नहीं मालूम क्यों, कुछ लोगों की आँख में 'सरस्वती'

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ७२१-२२ ।
२. वही, पृ० ७२२ ।

१. बा० मु० स्मा० ग्रन्थ, पृ० १२६ ।
२. वही, पृ० १२७ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काँटे-सी चुभती है।"[1] यही नहीं उन्होंने गुप्तजी पर 'ईर्षा-द्वेष से जलने' और 'परोत्कर्षासहिष्णु' होने का आरोप भी लगाया। गुप्तजी इससे बहुत मर्माहत हुए और उन्होंने 'हिन्दी में आलोचना' शीर्षक से छह लेख लिखकर अपनी सफाई दी और द्विवेदीजी से विनय की कि इस बहस में वह अपने मुकाबिल को ईर्षा-द्वेष के इल्ज़ामों से रहित करें, चाहे उसे अल्पज्ञ समझते रहें।[2] किन्तु इस लम्बी सफाई के बावजूद यह मानना कठिन है कि उनमें ईर्षा और स्पर्धा की भावना नहीं थी। 'भारतमित्र' की तुलना में 'सरस्वती' बहुत सजधज के साथ, अच्छे कागज़ पर अच्छी तरह मुद्रित होकर प्रकाशित होती थी। मासिक पत्र होने के कारण उसमें अधिक स्थायी महत्त्व की सामग्री जाती थी और हिन्दी जगत् पर उसका गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ता था। इसी द्वन्द्व के समय ही गुप्तजी ने अपने मित्र उर्दू 'ज़माना' के सम्पादक बाबू दयानारायण निगम को एक पत्र में लिखा था—"मेरे जी में हिन्दी का एक माहवार रिसाला निकालने की समाई हुई है, जिसकी बड़ी ज़रूरत है। हिन्दी में सिर्फ एक 'सरस्वती' है, जो ऊपर से परी बनी हुई है, मगर अन्दर से···।"[3] सम्पादकों ने इस पत्र का इतना ही अंश छापा है, किन्तु इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस वाक्य का शेषांश कैसा रहा होगा। भीतर की बात तो यह थी किन्तु अपनी सफाई में गुप्तजी ने लिखा था—"सरस्वती का हमारे यहाँ बड़ा आदर है।···एक चिकने कागज़ की उत्तम टाइप की बढ़िया तस्वीरोंवाली ठीक समय पर निकलने वाली हिन्दी मासिक पत्रिका किस हिन्दी प्रेमी की आँखों में काँटे-सी खटकेगी? बेहतर हो कि चुभती का हम वह अर्थ लें जो शहरवालों के रोज़मर्रह में आता है। शहरवाले अपनी बहुत पसन्द की प्यारी चीज़ को चुभती हुई कहते हैं।"[4] गुप्तजी की चुलबुली शैली की दाद देनी पड़ती है कि इस सफाई में भी वे एक गहरी चोट कर गये हैं, 'सरस्वती' के अन्य गुणों की प्रशंसा करते हुए उसमें प्रकाशित सामग्री की चर्चा भी न करना वैसा ही है जैसे किसी विद्वान की प्रशंसा उसकी विद्वत्ता के लिए न कर उसके ठाठ-बाट के लिए करना। द्विवेदीजी को नीचा दिखाने की, उनका मान-

१. वाग्विलास, पृ० १३२-३३।
२. गुप्त निबन्धावली, पृ० ५०५।
३. बा० गु० स्मा० ग्रन्थ, पृ० २०६।
४. गुप्त निबन्धावली, पृ० ५११-१२।

मर्दन करने की भावना 'भाषा की अनस्थिरता' आदि लेखमाला में अत्यन्त स्पष्ट है, शाब्दिक सफाई का पर्दा डालने की लाख चेष्टा करने पर भी उसे ढाँका नहीं जा सकता।

दूसरी तरफ द्विवेदीजी का अहंकार भी कुछ कम न था। लाला सीताराम पत्तनलाल, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० माधवप्रसाद मिश्र और स्वयं बाबू बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं और कार्य-पद्धति की उनकी आलोचना रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक थी। उनमें दूसरों की अज्ञता और अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन का भाव झलकता ही नहीं उबलता रहता था। बाद में उन्होंने अपने को बहुत हद तक संयत कर लिया था। इस संयम के पीछे 'भाषा की अनस्थिरता' द्वन्द्व का अनुभव भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। १६२८ ई० में वाग्विलास की भूमिका में विवादी लेखन की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था—"आत्माभिमान, परद्वेष मद, मत्सर आदि भी विकार हैं। उनके वशीभूत होकर मनुष्य कभी-कभी सकारण और कभी-कभी अकारण भी दूसरों पर आक्रमण कर बैठता है, उन्हें अपदस्थ करने की चेष्टा करता है और उनकी कुत्सा करके अपने प्रेरक विकारों का विजृम्भण करने लगता है। यह बात वह वाणी द्वारा, लेख द्वारा तथा और तरह से भी करता है।"[1] यह पूरी भूमिका केवल द्विवेदीजी के ही नहीं समस्त विवादी लेखन के मनोविज्ञान को समझने में बहुत सहायक है। विवादी लेखों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होनेवालों को वृद्ध एवं अनुभवी द्विवेदीजी की यह स्वीकारोक्ति स्मरण रखनी चाहिए—"यदि आलोचक को मनुष्य स्वभाव का यथेष्ट ज्ञान होता और यदि वह सहिष्णुता से काम लेता जैसा कि उसे चाहिए था तो इन लेखों के लिखे जाने की नौबत ही न आती।"[2] आत्मकथा शीर्षक अपने लेख में द्विवेदीजी ने और भी साफ शब्दों में स्वीकारा है—"इस अहंकार नामक शत्रु का शिकार मैं चिरकाल तक हो चुका हूँ। यह उसी की कृपा का फल था जो कभी मैंने किसी सभा की खबर ली, कभी किसी लाला या बाबू पर वचन रूपी शर-सन्धान किया, कभी किसी ग्रन्थकार या ग्रन्थ-प्रकाशक पर अपना रौब जमाया।"[3] द्विवेदीजी के साहित्यिक अभियानों से सामान्य परिचय रखनेवाले भी यह आसानी से समझ सकते हैं कि उस सन्दर्भ में

१. वाग्विलास, पृ० ५।
२. वही, पृ० ८।
३. संचयन, पृ० ३२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभा, लाला और बाबू का अर्थ है काशी नागरी प्रचारिणी सभा, लाला सीताराम तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त ।

किन्तु वृद्ध गुरुजनों के पश्चात्ताप से उमंग और साहस से भरे महात्त्वाकांक्षी तरुण विशेष कुछ सीखते हैं, इतिहास इसकी गवाही नहीं देता । फलतः साहित्यिक द्वन्द्व समय-समय पर ज़ोर-शोर से छिड़ता ही रहता है और छिड़ता ही रहेगा । यह ठीक है कि उससे धूल बहुत उड़ती है, किन्तु यह भी ठीक है कि अतिरंजना और एकांगिता के बावजूद उससे विचार्य विषय के विविध पक्ष भी सामने आते हैं और लोगों को चटखारा लेने का आनन्द भी मिलता है । साहित्यिक प्रगति के लिए वैचारिक द्वन्द्व तो अनिवार्य ही हैं । द्वन्द्व की प्रकृति ही ऐसी है कि उसे वैयक्तिक आक्षेपों से मुक्त रखना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है । ज्ञानियों की चेतना को भी जो महामाया बलपूर्वक द्वन्द्व-मोह में प्रवृत्त कर देती है, उससे निस्तार पाकर निर्द्वन्द्व हो जाना किसी विरले भावयोगी के लिए ही सम्भव है, लेकिन तब तो वह सृष्टि की स्थिति से परे चला जाता है । सर्जना के लिए द्वन्द्व अनिवार्य है अतः साहित्यिक द्वन्द्व को कोसना बेकार है, हाँ उसके स्तर को ऊँचा उठाते रहने की चेष्टा अवश्य होती रहनी चाहिए ।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्वेतवाद के अँधेरे में नीग्रो चेतना

जॉन एल० कूपर

अमेरिका सामाजिक समस्याओं से घिरा मुल्क है। इन समस्याओं में श्वेत और अश्वेत के बीच की समस्या अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। हालाँकि इस समस्या को राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि अनेक परिप्रेक्ष्यों के आधार पर देखा जा सकता है, किन्तु तथ्य यह है कि श्वेत और अश्वेत के बीच फर्क का प्रमाण दोनों वर्गों के भीतर वर्णभेद के अन्तर और भिन्नताएँ हैं। ऐसी बात नहीं कि कोई अपनी उस सामाजिक-आर्थिक पद्धति की उपेक्षा कर सकता है जो अंध-हठधर्मिता और पक्षपात तथा ऐसे ही अन्य तत्त्वों को दो वर्गों के बीच जारी कर परिपोषित तथा स्थिर करती है बल्कि ये व्यवस्थाएँ तो मनुष्य के मस्तिष्क की ही उपज हैं। इस कटुता को जो अपनी क्रियात्मकता में विरासत से प्राप्त है, यदि उसके मूल प्रारूप और उद्देश्य के आधारों पर देखा जाय तो यह हमें बहुत पीछे उन व्यक्तियों के विचारों की ओर ले जाती है जो अपनी इस निर्मिति में बेहद सक्रिय थे।

श्वेत और अश्वेत के बीच स्थित समस्या का एक समाजशास्त्री कैसे अध्ययन करे—वह इसे निश्चित ही आर्थिक, राजनैतिक और शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही देखेगा। परन्तु क्या ऐसा प्रयास समस्या के मूल और उसके मूलभूत कारणों को आलोकित कर सकता है ? सम्भवतः केवल ऐसी स्थिति में ही जब वह काफी चतुर द्रष्टा हो। पर मेरे विचार से इस समस्या का अध्ययन किसी दी गई संस्था के परिप्रेक्ष्य से नहीं किया जाना चाहिए, इसे मानवीय, आत्मिक और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए, जो इस सामाजिक यथार्थ में अस्तित्ववान है। और अगर कोई अश्वेत को, उसकी स्थापित व्यवस्था और खासतौर से श्वेत लोगों के खिलाफ नफरत और गुस्से के प्रदर्शित रूप को समझने का प्रयास करता है तो उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह पूरी समस्या को 'मानवीय दृष्टि' का आधार लेकर अध्ययन करे। ऐसा माना गया है कि समाज मनुष्य की निर्मिति रहे हैं तथा उनका विकास मनुष्य की परिकल्पनाओं के मुताबिक होता आया है, ठीक वैसे ही जाति, वंशगत वर्ण-घृणा, पक्षपात, अपमान आदि भी उसी परिकल्पना की परिणतियाँ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति जन्मने के बाद वंशगत तेजस्विता और अनिवार्यता के अनुरूप सामाजिक बनता है। सामाजिक होने की प्रक्रिया में यह वंशगत कारक बहिर्व्यक्त हो जाता है। इस तरह के अनेक व्यक्तियों से बाहर अभिव्यक्ति पाये अनेक कारक समूहीकृत हो जाते हैं। यही समूहीकरण एक सामाजिक सत्य या सामाजिक यथार्थ बन जाता है। हालाँकि एक व्यक्ति अपनी निजी सामाजिक चेतना के यथार्थ को ही समाज में व्यवहृत करता है। समाजों के इसी सामूहिक सक्रिय प्रदाय द्वारा ही सामाजिक यथार्थ का रूप व्यक्तियों के समूह को शक्तिशाली नियमित शक्ति और यहाँ तक कि बाहरी दुनिया को भीषण रूप से भयभीत करने की क्षमता से सम्पन्न कर उस समाज में विरोध की क्षमता पैदा करता है। एक व्यक्ति समाज में अपने जिस यथार्थ को हस्तान्तरित करता है वह समाज में प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित हो जाता है। इसीलिए एक व्यक्ति को वह प्रत्यक्ष उपस्थिति फिर से अपने विचार-जगत् से गुज़ारनी पड़ती है, लेकिन उस रूप में नहीं जिस रूप में एक व्यक्ति की हैसियत से उसने अपना निजी यथार्थ समाज में मिलाया था बल्कि उस 'सामूहिक चेतना' के रूप में उसे अन्तःस्थ करना होता है जैसे वह कोई सामाजिक क्रिया-व्यवहार हो। व्यक्तिगत यथार्थों का यह समूहीकृत रूप (चाहे व्यक्ति इसे नापसन्द ही क्यों न करता हो) व्यक्ति के निजी मौलिक यथार्थ से ज्यादा सच बन जाता है। पीटर एल० बर्गर ने कहा भी है कि हम तब तक किसी तथ्य को सामाजिक नहीं कहेंगे जब तक कि वह प्रत्यक्ष उपस्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न हो और जब तक वह व्यक्तियों को विवश न कर दे कि यह प्रत्यक्ष यथार्थ है।

निजी सत्यों का समूहीकरण ही सब लोगों के लिए सामाजिक यथार्थ बनता है। इसलिए भी कि मनुष्य अव्यवस्था में व्यवस्था खोजता है और एक प्रत्यक्ष समाज सामाजिक यथार्थ के रूप में मनुष्य को बसने के लिए व्यवस्थित दुनिया प्रदान करता है। परन्तु आज के समाजों की प्रक्रिया में, उनके कार्यकारी रूपों में व्यक्ति का समग्र यथार्थ सामूहिक सामाजिक सत्य को पुष्ट करने वाला होना अनिवार्य है।

जिन जटिल समाजों में आज हम रहते हैं उनमें एक व्यक्ति हमेशा अपने को सामाजिक व्यवस्था का आश्रित पाता है जो उसे बुनियादी सच्चाइयों से परिचित करा सके। किन्तु इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि वह यह खोजता है कि समाज उसे सार्थकता और उद्देश्य की चेतना भी दे। समाजों का यह जटिल रूप मानव-जीवन की समग्रता को छूता ज़रूर है। निजी और सामाजिक ज़रूरतों का जहाँ तक मामला है, समाज में कोई व्यक्तिगत और सार्वजनिक विभाजन नहीं है। उनमें एकता है। वह हर रास्ता, जिसे व्यक्ति परम्परागत ढंग से देखता है, जिसके द्वारा वह अपनी स्थिति का अन्दाज़ा लगाता है, सामाजिक सच्चाइयों के रूप में ढल जाता है। इसलिए जब समाज एक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत सच्चाइयों के ऊपर सामाजिक यथार्थ को स्वीकार करने के लिए विवश करता है तो व्यक्ति समाज को ऐसे प्रारूप के रूप में भी स्वीकार कर लेता है जिसमें वह अपने-आपसे साक्षात कर सकता है या अपनी निजी स्थिति से परिचित हो सकता है।

अमरीका में काला आदमी भी इसी तरह के सामाजिक यथार्थ से घिरा हुआ है जो उसे विवश करता है कि वह अपने को न पहचाने और स्वीकृत सामाजिक यथार्थ में अपने को किन्हीं कारणों से जान-बूझकर उपेक्षित और अदृश्य समझे। राल्फ एलिसन ने इस संदर्भ में कहा है—"मैं एक न दिखने वाला इन्सान हूँ। नहीं मैं उन प्रेतों की तरह नहीं हूँ जिनकी प्रेत-छायाएँ एडगर एलन पो के पीछे थीं और न मैं हालीवुड सिनेजगत का 'एक्टोप्लाज्म' हूँ। मैं अस्तित्व के तमाम सारयुक्त, मांस-मज्जा-द्रव्य-चर्मयुक्त इन्सान हूँ और मेरे बारे में कहा जा सकता है कि मेरा मस्तिष्क भी है। मैं दृश्य हूँ, समझा जा सकने वाला हूँ, सिर्फ इस मायने में कि लोग मुझे देखकर अस्वीकार कर सकें। आपने सरकस में शरीरहीन सिर देखे होंगे, ठीक ऐसे ही मुझे लगता है जैसे मैं कठोर, खंडित शीशों के दर्पणों से घिरा हुआ हूँ। जब वे मेरे पास आते हैं तो वे केवल मेरा परिवेश, अपनी परिकल्पनाओं के टुकड़ों से निर्मित प्रभाव देखते हैं। सिवा मेरे वे सब-कुछ देखते हैं, हर चीज़।

ठीक है कि काले लोग मांस-मज्जा द्रव्ययुक्त, अस्तित्व-सारयुक्त प्राणी हैं, किन्तु सामाजिक यथार्थ में आत्म-बोध और अस्तित्व केवल आदमी की शारीरिक उपस्थिति और निजी सोचने की प्रक्रिया से निर्धारित नहीं होते। इसका निर्धारण उन लक्ष्यों, व्यवस्था के उन मूल्यों के द्वारा होता है जो एक खास सामाजिक-यथार्थ के संदर्भ के अपने ही ढंग के आदर्श से जुड़े हैं। अमेरिका में मनुष्य और मनुष्यता की कल्पना से मतलब श्वेत चमड़ी का आदमी है। हर काम के लिए, ज़रूरत के संदर्भ में वह श्वेत संसार है—ऐसा श्वेत संसार कि जो काले वर्ण के अस्तित्व से रहित है।

सामाजिक यथार्थ कौन-सी अपेक्षाएँ रखता है, इसके विपरीत वह मानव-जाति जो अमेरिका में रहती है, उस मानवीय बिम्ब के अनुसार अमेरिका में काले लोग हैं—वे काले लोग जो मनुष्य हैं, जो यथार्थ रूपाकृति धारण किए हुए हैं। अतः ये काले लोग उस समग्र बिम्ब से अलग कैसे किये जा सकते हैं, आखिर यह सामाजिक यथार्थ समाज की सारी व्यक्तिगत (निजी) सच्चाइयों की सामूहिक निर्मिति है। परन्तु यह जानने के लिए कि ऐसी अवधारणाएँ कैसे सम्भव होती हैं हमें अपने मस्तिष्क में ग्रहण करना होगा कि मानव-चेतना इन्द्रियेतर प्रक्रिया है।

काले आदमी में सामाजिक होने की क्षमताएं ठोस रूप में विद्यमान हैं। श्वेत की तरह उसे भी सामाजिक विधान में अपना निजी सामाजिक दाम लगाना है। यह एक सहधर्मी प्रकृति है। और क्योंकि यह उसके स्वभाव का एक ऐसा अंग है जिस पर उसका अपना कोई नियन्त्रण नहीं, यह एक ऐसी चीज़ है जो उसे अवश्य करनी चाहिए। यह व्यक्ति के वंशगत अवचेतन के विकास का एक पक्ष है। जब समाज व्यक्ति के निजी यथार्थ को अपने में समाविष्ट कर लेता है, जो नितान्त निजी होता है, तब वह उसे सामूहिक यथार्थ अंश के रूप में विस्तृत कर लेता है। और उस एकीकृत रूप को व्यक्ति इकाई पर थोप देता है। काला आदमी भी अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निजी चेतना में सहज सामाजिक नहीं बन पाता बल्कि उल्टे वह इस अनुभव के लिए बाध्य हो जाता है कि वह एक विशेष निजी चेतना का अंग है। एक आदमी सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया का आत्म-विश्लेषण तथा आत्मबोध के लिए एक ज़रूरत समझता है, समाज उसे यह अहसास देता है कि उसका विकास होगा। वह मानसिक रूप से प्रौढ़त्व प्राप्त करेगा। वह इसके विपरीत समाज की इस भूमिका को अपनी शक्ति भर अस्वीकार करेगा क्योंकि उसे लगता है कि समाज एक सही विकास से उसे अवरुद्ध कर रहा है। जैसा हम कह चुके हैं समाज एक व्यक्ति को अपना यथार्थ स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है, काले आदमी के मामले में एक दूसरी बात उभरती है, उसे वह स्वीकार नामंज़ूर करना चाहिए, जिसे वह इसलिए स्वीकार करता है कि उसके सामने कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

गोरे आदमी की दुनिया में काले आदमी को अपने आत्म-बोध की रूपाकृति को बदलना होगा और वह बदलाव भी प्रतीकात्मक बदलाव होगा—काले और गोरे आदमियों की इन्हीं संज्ञाओं के भीतर विरासत में प्राप्त ऐसा प्रतीकधर्मी गुण है जो एक गुणधर्मी विरेचन उत्पन्न कर सकता है। मूल-रूप से काले और गोरे आदमी का विचार मात्र प्रतीकात्मक है। मानवता की इकाई के नाते सब मनुष्य समान गोत्र के हैं। गोरे और काले जैसी संज्ञाएँ मात्र वे सुविधाएँ हैं जिनसे मनुष्य निजी जागरूकता से उठकर अपनी व्यक्तिगत सच्चाइयों को सामाजिक यथार्थ में प्रसारित करता है। वर्ण एक व्यक्तिगत पहचान है, रंगग्राही आँखें उस निजता को व्यक्ति तक सीमित कर देती हैं। वर्णान्धता तो चिकित्सा का विषय है। किन्तु इसी के साथ सवाल यह उठता है कि काले-गोरे वर्णों की पहचान अगर व्यक्तिगत है तो फिर काले और गोरे रंगों की आम स्वीकृति क्यों है। लोगों द्वारा यह मंज़ूर किया जाना कि यह गोरा है, यह काला है, मतलब ही यह रखता है कि काले और गोरे अमरीकी समाज की एक दृश्य सच्चाई है। उदाहरण के लिए अमरीकी झण्डे में लाल, सफेद और नीले तीन रंग हैं, लेकिन अमेरिका में किसी भी आदमी को दो मूल गोरे और कोले रंगों को उनके विशेष संदर्भों में, दूसरे अर्थों के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। मानसिकता और सामाजिकता दो ऐसे बिन्दु हैं जो एक व्यक्ति को अमरीकी सामाजिक पद्धति में भागीदार बनाते हैं।

एक समाज में चेतना के रूपाकार और सामाजिक व्यवस्था इस तरह से निर्मित होते हैं कि वह व्यक्ति को, मनुष्यता का प्रतिनिधित्व करने वाली उस आदर्श व्यवस्था में भागीदार बनने और स्वीकार करने के लिए अनुप्रेरित करती है। अमरीका में आदर्श समाज गौरांग वर्ग है। काला आदमी अपने-आपको प्रतीकात्मक ढंग से उस समाज से जोड़ सकता है, यथार्थ में वह 'गौरांग वर्ग' के मनुष्य की व्यवस्था है। तथ्य यह है कि गोरे आदमी के दावे का समर्थन करने वाला एक समाज है जबकि काले आदमी के अपने अस्तित्व के लिए सिर्फ व्यक्तिगत दावे हैं। मार्क्सवादी विश्लेषण के मुताबिक हम एक पूर्ण भौतिकवादी समाज को स्वीकृति दे सकते हैं, तमाम समाजों को बेशक नहीं, जो व्यक्ति से व्यक्तिगत यथार्थ की जगह सामूहिक यथार्थ स्वीकार करने का आग्रह करता है। यह बात उस समाज में रहने वाले मनुष्य की मानवीय जागरूकता निर्धारित करती है। इस सिलसिले में काला आदमी अपनी मानवीय दृष्टि को अस्वीकार करने की जागरूकता स्वीकार कर रहा है, जबकि चेतकर उसे वह अस्वीकार करना चाहिए जो उसकी जागरूकता को अस्वीकार करता है क्योंकि उसके पास न तो कोई मनोचेतना है और न सामाजिक व्यवस्था की समाजीकृत कोई प्रक्रिया जो उसे स्वीकार करने की छूट दे। खासतौर से ऐसे समाज में जहाँ आत्मबोध के सभी रास्ते समाज में केन्द्रित माने जाते हैं और व्यक्तिगत तथा सामाजिक ज़रूरतों में विभेद नहीं होता, वहाँ गोरे समाज के बीच काला आदमी अदेखा रह जाता है क्योंकि उसके पास अपनी निजी अस्मिता की पहचान का मूल्यों और गन्तव्यों के पारिभाषिक वृत्त का कोई रास्ता उस व्यवस्था में नहीं होता, जबकि तथ्य है कि मनुष्य के रूपाकार में एक निजता हर समय विद्यमान होती है। और इसी तथ्य के मुताबिक काले आदमी को भी अपनी समग्र क्षमताओं का अपने स्वभावानुसार प्रदर्शन करना चाहिए क्योंकि वे काले आदमी को दूसरी तरह से अपने को व्यक्त करने का मौका नहीं देंगे। नीग्रो की वर्ण-चेतना को उस समाज की बाहरी रूपरेखा से अलग अपने को पूर्ण रूप से बदलना है जिसमें वह खुद को जोड़ता है क्योंकि उस समाज ने उसके और गोरे आदमी के यथार्थ को समूहीकृत कर डाला है। काले आदमी द्वारा सामाजिक विधान से निषेध का तर्क उसके काले वर्ण पर निर्भर करता है, व्यक्ति के वंशानुक्रम प्रभावों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सक्रियता का मतलब है अपने काले वर्ण को अस्वीकार करना। चाहे यह एक व्यक्ति-विशेष (काले आदमी) की चेतना दुर्घटना की नहीं है, परन्तु ऐसा लगता है कि काला आदमी अपनी निजता के निर्माण में है और अपने आत्मबोध के प्रभाव को शक्तिशाली बना रहा है। परन्तु ऐसा मान लेना कि काला आदमी अपनी निजता को शक्तिशाली बना रहा है केवल कल्पित सुरक्षा है जिसे असफल होना ही है क्योंकि यह निजता सिर्फ बेमानी अपील है, जो आगे चलकर एक व्यक्ति के निजी अहंकार को क्षीण करने में सहायक होती है।

राल्फ ऐलिसन की घोषणा कि वह 'अदेखा' है, स्पष्ट करती है कि वह 'अदेखा' इसलिए है कि गोरे लोग उसे अस्वीकार करते हैं। परन्तु जब कोई व्यक्ति ज्यादा संवेदनशील होता है वह अपने को जानने में सक्षम होता है, उस युगचेतना से युक्त होकर जो उसकी पहचान की चेतना है। हमारे वर्तमान समाज में ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यही है कि एक व्यक्ति निर्वैयक्तिक होकर समाज को देखे और अपनी निजता का कोई परिणाम खोजे जो एक 'खुशफहम यन्त्रमानव' बनाने से बचाए। चाहे निजता का लघुतम परिणाम ही क्यों न हो, चाहे वह निजी स्वप्नों में क्यों न आता हो, ज़रूरी है। आखिर स्वप्न भी सर्जन की भूमिका निभाते हैं। मैं तो यहाँ यह सवाल करूँगा कि क्या काले आदमी को स्वप्न लेने की सीमित फुरसत और आज़ादी के बारे में पता भी है? 'निजता' के बोध के अभाव में कोई आदमी सिर्फ बेमतलब सपने देख सकता है। जहाँ तक मेरा अपना अनुभव है, मैं कहना चाहूँगा कि ज्यादातर काले लोगों के सपने बेमतलब हैं। ज्यादा-से-ज्यादा उनके सपने 'श्वेत होने' के हैं अर्थात् वे उनके अपने 'आत्मबोध' के सपने नहीं हैं बल्कि उस 'प्रतीक' के सपने हैं जिसका लक्षण और जिसके मूल्य 'श्वेतवाद' का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जब कोई सर्जनशीलता के संदर्भों से जोड़कर बात करता है तो वह निश्चित रूप से सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में अपना तर्क देता है। सौन्दर्य-चिन्तन सदैव सर्जनशील व्यक्ति के लिए एक अनुप्रेरण के रूप में काम करता है। अपने ही अर्थों में यह एक पुरस्कर्ता अनुप्रेरक है। सौंदर्यशास्त्र क्योंकि मूलतः व्यक्तिवादी है, वह हर आदमी (मानव) को यथार्थ को ग्रहण करने की निश्चित धारकता देता है। यथार्थ की यह धारणा सौंदर्यशास्त्रीय धारकता है। और यही धारकता आदमी को सृष्टि की समग्रता की चेतना की निजता देती है, जो छोटे अनुभव-क्षेत्रों से सामाजिक परिवेश के अनुभवों तक संचरित होती है। देखना यह है कि सामाजिक यथार्थ के सन्दर्भ में इस सौन्दर्यशास्त्रपरक धारणा का काले आदमी के लिए क्या अर्थ है? इसका मतलब है कि काले आदमी की सामाजिक परिवेश द्वारा निर्धारित ऐन्द्रिय चेतना संभवतः एक खंडित पूर्णता है। यानी जो वह सुनता है वह असली आवाज़ की आवाज़ नहीं है, जो वह देखता है वह बिम्ब का असली बिम्ब नहीं है। इस तरह उसकी बिम्ब-ग्रहण-क्षमता तब ज्यादा विरूप और खंडित मालूम पड़ती है जब गोरी दुनिया के प्रतीकों से और सामाजिक सच्चाई के मूल्यों का उसे सामना करना पड़ता है।

अनुभव या धारणा की यह विरूपता ही काले आदमी को उस विद्यमान सामाजिक यथार्थ से परे कर देती है। ज्यादा दुःखदायी स्थिति यह है कि काला आदमी सामाजिक यथार्थ के 'वस्तुरूप' को आसानी से स्वीकार कर लेता है। यह विचार कि काले आदमी का जीवन गोरे आदमी की जातिवादी सक्रियता से मुश्किल बन गया है 'श्वेताश्वेत' की समस्या का सत्व या सार या केन्द्र नहीं है। सिर्फ इतना ही कि अश्वेत का अस्तित्व एक सामाजिक यथार्थ है, इतनी घातक सच्चाई है कि उसके मुकाबले में जातिवादी आक्रामकता उतनी घातक नहीं है।

सामाजिक सच्चाई को अस्वीकार कर अपने लिए एक किस्म की आत्म-पराजय की दुनिया बनाना अपनी खातिर राक्षसी दुनिया बनाना है। काले आदमी के व्यक्तित्व में संक्रमणकालीन द्वन्द्व की स्थिति बनाये रखने वाली शक्तियाँ इस दुनिया का उपयोग करती हैं। काले आदमी का व्यवहार उसे 'न्यूरोटिक' के नज़दीक ले आता है क्योंकि काला आदमी अपनी 'निजता' की खोज में निरन्तर भाग रहा है, वह अपनी उपस्थिति का ही भक्षण कर रहा है। जब भी काला आदमी विरोध प्रकट करता है वह अकेला पड़ जाता है। 'अकेलापन' उसकी नियति बन जाती है। काले आदमी को हीन बनाने वाली इस प्रक्रिया में अपनी असुरक्षा से सुरक्षा की ओर का आग्रह तथा बलात् आत्म-ग्लानि से नैराश्य की ओर जाना जैसी स्थितियाँ हैं।

काले आदमी की हीन भावना सामान्य भावना नहीं है। गोरी दुनिया में अपने अस्तित्व की रक्षा से लेकर आत्म-पराजय की भावना तक में काले आदमी को अपनी शारीरिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगति तक के लिए कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। शरीर की प्रगति की चेतना एक निषेधात्मक क्रिया है। वह अन्य पुरुष जैसी चेतना है। चाहे काला शरीर निश्चित वातावरण की अनिश्चितताओं से घिरा हुआ है। उसमें यह बोध कि वह भी श्वेत दुनिया का हिस्सा है, जागता नहीं है। वह गोरे आदमी पर बोझ नहीं बनना चाहता और वह यह सोचता है कि यह गोरे आदमी की दुनिया है —वह क्यों इसके बीच में आये। अगर मूल्य के रूप में स्थित श्वेतवाद विलुप्त हो जाय तो काले आदमी की वर्ण-चेतना का आग्रह भी खत्म हो जायेगा, ये दोनों विरोधी होने की वजह से ही कहीं अन्दर जुड़े हुए हैं। काले आदमी का कालापन केवल इसलिए स्पष्ट है क्योंकि वह गोरी दुनिया में रहता है। पर यह भी सच है कि श्वेतवाद का महत्त्व उसके चारों तरफ घिरे कालेपन से है।

काला आदमी इस गोरे, भौतिक संसार के ठीक बीच में स्थित है। बीच में स्थित ज़रूर है लेकिन एक भटकते हुए पिण्ड की तरह वह अपनी ही चेतना के भटकाव में भटकता हुआ पिण्ड है। अपना एक भयानक बिम्ब बनाता हुआ, वह नीग्रो रूपाकृति को धीरे-धीरे बन्द करता हुआ इसी प्रक्रिया में अपना आत्मबोध क्षीण करता जा रहा है। अन्तिम रूप से यही कहा जा सकता है कि इन प्रक्रियाओं द्वारा वह एक ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति पैदा कर रहा है जो काले रूपाकार और बाहरी दुनिया की सरहदें साफ-साफ कर देती है।

यौन और यौनाचार एक ऐसा माध्यम है जिसमें आदमी अपने-आपको पहचानता है। दो व्यक्तियों के बीच सबसे ज्यादा आत्मीयता यौन-समागम के अवसर पर होती है। अपनी निजी-से-निजी पद्धति में यौन अगर कोई रूपाकृति ग्रहण करता है तो वह कलात्मक ही नहीं सृजनात्मक भी हो सकती है। दूसरे शब्दों में यौन-समागम के परिणामस्वरूप जो सौन्दर्यवृत्ति जागती है वह किसी भी व्यक्ति की निजी कलात्मक उपलब्धि कही जा सकती है। माना जाता है कि हर सृजनात्मक क्रिया किसी-न-किसी तरह की आत्म-स्वीकृति और आत्मबोध की प्रक्रिया के साथ जुड़ी होती है। काले आदमी के सिलसिले में सौंदर्यवृत्ति और यौन-सम्बन्धों की निजता से उपलब्ध सृजन-दृष्टि बहुत ही मजेदार तथ्य प्रस्तुत करती है। काले वर्ण की वजह से काला आदमी आत्म-पराजय की भावना से पीड़ित है परन्तु इतने पर भी यौनाचार द्वारा उसके 'आत्मबोध' की आवश्यकता है। अपने को पहचानना एक ज़रूरी क्रिया ही नहीं है, आदमी के अस्तित्व के लिए भी वह ज़रूरी है। यौन-सम्बन्धों के बारे में भी काले आदमी की विचारणा इस बात यानी अपनी पहचान से जुड़ी हुई है। दूसरे आदमी के साथ सम्भोग का मतलब 'श्वेतवाद' को भोगना है। श्वेतवाद का बिम्ब ही सामाजिक यथार्थ में प्रतिनिधित्व पाने वाली मानवता है। और इस विचारणा का साफ-साफ मतलब है एक काले आदमी को 'गोरी' औरत की चाह। चाहे औरतें गोरी हों या काली परन्तु अपनी चाह की परितृप्ति के लिए इस यौनावेग का लक्ष्य 'गोरी' औरत है। आप इसे बेशक एक परिकल्पना कह सकते हैं किन्तु एक काले आदमी द्वारा 'गोरी' औरत के साथ यौन-सम्बन्धों की चाह सचमुच में, अपने ही तरीके से, गोरी दुनिया से जुड़ना और गोरा बनना है। मनुष्य की चेतना के गठन में यौन-सन्तति-सृजन के अतिरिक्त एक ऐसा मूल्य है जिसके द्वारा वह सौंदर्यात्मक वृत्ति की प्रतिक्रिया का बोध पाता है। क्योंकि काला आदमी यह सोचता है कि मनुष्यों की दुनिया में उसकी 'ऐसी स्थिति' गोरे आदमी द्वारा निर्मित है अर्थात् जैसा वह है वैसा 'गठन' गोरी व्यवस्था द्वारा बनाया गया है, इसलिए काला आदमी गोरी औरत के गर्भाशय में प्रवेश करने की आकांक्षा लिए हुए है, जिससे वह एक नया समीकरण प्रस्तुत कर सके, श्वेतवाद के साथ मिला-जुला एक वर्ण-समीकरण।

हमारा अमरीकी समाज पूंजीवादी समाज है। यह एक ऐसा समाज है जिसका उद्देश्य मुनाफा कमाना है—वह मुनाफा जो नागरिकों द्वारा खरीदी चीज़ों से मिलता है। उस मुनाफे के लिए वह विज्ञापन द्वारा व्यक्तियों को खरीदार बनाता है। यह क्रिया एक समाज की सामाजिक अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है। इतने ज्यादा उत्पादकों का ग्राहकों को खींचने का यह क्रम, डालर कमाने की कोशिश है जिसमें 'यौन' एक महत्त्वपूर्ण भूमिका 'आकर्षक विज्ञापक' बनने के रूप में अदा करता है। चाहे उत्पादक कुछ भी हो, पुरुष खरीदार को आकर्षित करने के लिए सदैव कोई सुन्दरी 'गोरी औरत' उस विज्ञापन में होगी। फिल्मों, पत्रिकाओं में, हर जगह, गोरी औरत का बिम्ब यौन-सौंदर्य का बिम्ब है। काले आदमी की चेतना में हर दिशा से आया यह बिम्ब अपनी जगह बनाता है। वह इस सौंदर्य-बिम्ब की उपेक्षा नहीं कर सकता, तब तक जब तक वह किसी किस्म के उन्मादी रोग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रस्त न हो। हालाँकि शताब्दियों तक गोरी औरत द्वारा घेरी सुन्दरता की ज़मीन के बीच अब काली औरत ने भी जगह बनानी शुरू की है, किन्तु इसमें आश्चर्य नहीं कि काले आदमी के लिए अब भी सब तरह की परितृप्ति, यौन के सौंदर्यपक्ष के सभी कोणों के लिए गोरी औरत ही वह साधन है जिससे वह पूर्ण परितृप्ति प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें भी आश्चर्य करने की कोई बात नहीं कि काला आदमी नये वर्ण-समीकरण के लिए 'गोरी औरत' के साथ सम्भोग की आकांक्षा लिए हुए है। साधारण-सी बात यह है कि जिसे जानना ज़रूरी है कि गोरी औरत सिर्फ गोरे बच्चे को गर्भ में धारण करने वाली औरत नहीं है, बल्कि तर्क-सिद्ध बात यह है कि काला आदमी उस गर्भाशय में प्रवेश कर पुनर्जन्म की चाहना लिए हुए है।

परन्तु सच्चाई यह है कि जो काला आदमी गोरी औरत का सहवास पा भी लेता है, वह ज्यादा स्पष्टता से अपने 'कालेपन' की सच्चाई खोल देता है। हो सकता है यह बात केवल सामान्यीकरण हो। कुछ ऐसे काले लोग भी होंगे जो गोरी औरत के सहवास से पुनर्जन्म की इच्छा पर विजय पा लेते हैं, पर मैं कहना चाहूँगा कि ऐसे लोग बहुत कम हैं। धीरे-धीरे हर वर्ण के बीच से ऐसे लोग कम हो जाएँगे क्योंकि उनका व्यक्तित्व परिवेशगत सामाजिक यथार्थ से हमेशा अलग इकाई के रूप में स्थित होता है।

अधिकांश काले लोगों के लिए गोरी औरत का सहवास और पुनर्जन्म की वह धारणा (जैसा कि प्रतीकात्मक ढंग से मानी जाती है) नामुमकिन है, काले आदमी की यह कुंठा गुस्से में बदल जाती है और इस आत्मपीड़ा का गुस्सा आदमी की अन्तरंग अपहचान का परिणाम बनकर दूसरी दिशाओं में रूप पाता है। वह अपने 'कालेपन' को सब बातों के लिए बाधक ही नहीं दोषी भी पाता है और उस बाधा के सही अपराधी को नहीं पकड़ पाता। वह अपने ही द्वारा निर्मित उन राक्षसों से घिर जाता है जिनसे वह मुक्ति पाना चाहता है। काले आदमी की नियति चिन्ताग्रस्त, असंतुलन-भ्रष्ट चेतना की उपलब्धि है, जिसके लिए वह अभिशप्त है।

आत्मपराजय का भूत दूसरी भूत छायाओं को जन्म देता है। वह पूरी नीग्रो-चेतना पर असर डालता है। 'श्वेत-वाद के साथ सम्भोगरत' कामना में अगर सिर्फ यौनावेग हो तो काले आदमी के लिए अपने उस 'गुस्से' यानी यौन-तृप्ति की क्रिया काली औरत की तरफ मोड़ने में ज्यादा आसानी है। किन्तु वह उस प्रतीकात्मक पुनर्जन्म, अपनी आत्म-पराजय से मुक्ति पाने और अपने कालेपन को यथार्थ की स्वीकृति दिलाने में सहायक नहीं हो सकता।

अमरीकी समाजशास्त्री ग्रिअर और काब्स ने 'ब्लैक रेज' नामक अपनी पुस्तक में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि काले आदमी के गुस्से को शान्त करने का काम काले वर्ण की माँ करती है। माँ का प्रयत्न अपने बच्चे की रक्षा होता है, वह उसे जीवित रहने की शिक्षा देती है, वह गोरी दुनिया की खुशामद और दासता सिखाती है। वह माँ काले आदमी को मनुष्यता के मुताबिक आदमी बने रहने से कम बनकर रहना सिखाती है। इसका लक्ष्य सिर्फ अपने बच्चे को ज़िन्दा रखना होता है। इस बात में किसी तरह का अपमान नहीं है क्योंकि अमेरिका का इतिहास इस बात का गवाह है कि काली दुनिया में (अमरीका के काले लोगों में) माँ के डर का तर्क पूरी तरह प्रविष्ट है।

काले आदमी द्वारा माँ की उपेक्षा अभी अवचेतन में जमी है। वह सोचता है कि माँ भी कहीं-न-कहीं श्वेतवाद को जमाने वाली शक्ति है, वह ऐसी शक्ति है जो उसके कालेपन को उस पर थोपती है। क्योंकि माँ की इस भूमिका से वह धीरे-धीरे परिचित होता है, वह धीरे-धीरे काली औरत को माँ की विशेषताओं से जोड़ देता है। यही कारण है कि आत्म-घृणा को काला आदमी काली औरत के प्रति अपने व्यवहारों में हस्तान्तरित कर देता है।

हमारे समाज में एक किस्म की आत्मीयता का अभाव है। गोरे और काले बच्चों में, इस आत्मीयता से वंचित होने के कारण वह सामाजिक भावना नहीं जागती। वह अपनी ही व्यक्तिगत पर-निर्भरता का शिकार होता है। इन्हीं कारणों से अमरीकी आदमी आत्मीयता और आवेग के मामलों में कच्चा है। वह अपने हितों के विपरीत भी क्रियाशील हो सकता है। काले बच्चों को ज़रूरत अपने 'व्यक्ति' के विकास की है। जब उन्हें विकास के मौके अपने पारिवारिक परिवेश के प्यार और विश्वास से नहीं मिलते तो वे एक तरह से पंगु हो जाते हैं। वे 'आत्मबोध' का सामान्य रूप भी नहीं जानते।···अगर काले बच्चे को परिवेश की अनुकूलता और अपने संरक्षकों का उचित प्यार और मार्ग-निर्देशन मिले तो वे अपनी 'निजता' से परिचित हो सकते हैं। उस वक्त से भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले जब वे अपने और पराये का बोध कर सकें। परन्तु पहले तो बच्चे के संरक्षक ही अपने 'आत्म-बोध' से परिचित नहीं होते, वे अपनी 'निजता' को व्यक्तिगत ढंग से जानने की कोशिशों में लगे होते हैं। बच्चा भी धीरे-धीरे अपने पितृ-स्वभाव का अनुकरण करने लगता है। सामाजिक सच्चाई को जाने बिना संरक्षकों की संकेतात्मक स्वीकृति मिल जाने पर बच्चा भी उसी 'वर्ण-भेद' की क्रूरता से परिचित हो जाता है और अपने बचाव और अस्तित्व के लिए उन्हीं पुराने नुस्खों का अनुकरण आरम्भ कर देता है। बच्चा समाज में अपनी उपस्थिति इन्हीं व्यतीत लक्षणों के रूप में देने के लिए बाध्य हो जाता है। उसके लिए अपनी 'वर्ण-क्षमताओं' को सीमित मान लेना ही तटस्थ यथार्थ को 'निजता' की चेतना में रूपान्तरित करना बन जाता है। अगर आप काले आदमी से उसकी 'वर्ण-चेतना' का पक्ष निकाल दें तो आप उससे वह तरीका छीन लेते हैं जिससे समाज उसे खुद को स्पष्ट करने की अनुमति देता है।

अमरीका में काला आदमी भयातंक में जीने वाला प्राणी है। वह मनोविभ्रम की अन्तहीन स्थिति में रहता है। मोटे तौर से कहा जा सकता है कि वह उस हर चीज़ से डरता है जो उससे बाहर है तथा उस हर चीज़ से नफरत करता है जो उसके अन्दर है, जो कालेपन की प्रतीकधर्मी है। निरन्तर भयातंक के बीच रहने से उसकी चेतना भयातंक की चेतना है। बाहरी दुनिया उसके लिए तप है। काले आदमी के जाने के लिए कोई जगह बाकी नहीं, इस पर भी उसका ऐसे सामाजिक यथार्थ के सामने जीना पीड़ादायक है। उसे ऐसे जीना होगा, क्योंकि आदमी को एक समाज से जुड़ा होना होता है, उसका हिस्सा बनकर सामाजिक बनना होता है। इतिहास इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि उसे अपने सामाजिक अस्तित्व के सह-अस्तित्व को स्वीकृति देनी होती है। एक बलशाली आदमी के तरीके से उसे अपनी सामाजिक प्रक्रियाओं से उस तटस्थता का प्रदर्शन करना होता है जो आत्म-पराजित व्यक्तित्व बनाती है। उसे गोरे आदमी के बिम्ब से परे उसी सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक चेतना के ढाँचों में अपने को व्यक्त करना होता है। कहना न होगा कि समस्या यही है कि काले आदमी को ऐसी सामाजिक व्यवस्था में अपनी 'निजी चेतना' को दूसरी दिशाओं की तरफ मोड़ना होगा।

काले आदमी की चेतना, एक सच्चे मार्क्सवादी लहजे में—सामाजिक यथार्थ द्वारा निर्धारित है। यह समाज-व्यवस्था, अभी अपनी निर्मिति में है, वर्ण-भेद पैदा करती है तथा गोरे आदमी की कल्पना से एक दीवार खड़ी करती है तथा काले आदमी पर वर्ण-चेतना थोपती है, क्योंकि वह शारीरिक रूप से आदमी की द्वन्द्वात्मक स्थिति का रूप है। कालापन व्यक्तियों पर थोप दिया जाता है। ये वे काले लोग हैं, जो गुलाम थे। ये वे लोग हैं जिनके कोई दावे नहीं हैं, साधारण लोग हैं। आज काले राष्ट्रवाद का जन्म 'नीग्रो-चेतना' के रूप में फैल रहा है जो गोरे आदमी के समाज का विरोधी है। इसीलिए यह नारा फैल रहा है कि 'काला-खूबसूरत' है। और उसे अपने वर्ग की अर्थनीति पर नियन्त्रण करना चाहिए। एक भौतिकवादी समाज में, मार्क्स के मुताबिक नागरिक रहते हैं व उनकी चेतना उस व्यवस्था के भौतिक उत्पादन द्वारा निर्धारित होती है—लोग अपने-आपको पहचानने की प्रक्रिया में जाग रहे हैं, उनकी मानवीय चेतना उत्पादन के साथ अपनी पहचान भी कर रही है। अमेरिका एक 'उपभोक्ता' देश भी है, जीवन इस व्यवस्था के 'पदार्थ' की स्थिति में शुरू और खत्म होता है। काले लोगों की ज़िन्दगी भी शुरू होती है और खत्म हो जाती है। काले लोगों की चेतना के अनेक पहलू हैं। इस निबन्ध में हमारा लक्ष्य 'चेतना' के उन पहलुओं को छूना रहा है जिनके मनमाने अर्थ लिए गए हैं। तर्कहीनता और विवेकहीनता द्वारा कभी भी तथ्यात्मक सच्चाई का दर्शन नहीं किया जा सकता। काले आदमी देश के मूल प्रवाह से जुड़े हुए हैं किन्तु जितने हैं वे किसी भी तरह पूरे नहीं हैं। मनुष्यता की दुर्दशा के कारण अमेरिका धीरे-धीरे डूब रहा है, आज़ादी और सच्चाई से दूर डूब रहा है, उसका यह डूबना ही काले आदमी की समस्या को जटिल बना रहा है। चाहे काला और गोरा मनुष्य की अपनी परिकल्पनाएँ हैं, यह सच है कि कालेपन से जिस तरह (काले आदमी की चेतना ने) काले आदमी को दास बनाया है, श्वेत भी गोरे आदमी को दास बनायेगा। ये दोनों न केवल समस्याओं बल्कि परिणामों के घेरे में बँधे वर्ग हैं, दोनों में से बिना किसी एक के आज़ाद हुए दूसरा आज़ाद नहीं हो सकता।

अनुवादक : गंगाप्रसाद विमल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोलिश कवि ज़्विग्निएव की पाँच कविताएँ

अनुवाद : गिरिधर राठी

□ दो बूँद

जब जंगल जल रहे हों तब गुलाबों पर रोने की फ़ुरसत कहां—स्लोवात्स्की

जंगलों में आग लगी थी
लेकिन उन्होंने
गुलदस्तों की तरह
अपनी गर्दनें हाथों से लपेट लीं

लोग दौड़ पड़े खंदकों की ओर—
उसने कहा उसकी बीवी के बाल ऐसे हैं
जिनकी गहराइयों में छुपा जा सकता है

एक कम्बल में ढँके हुए
उन्होंने फुसफुसाये बेहया शब्द
प्यार करने वालों का भजन

जब स्थिति बहुत बिगड़ गयी
वे एक-दूसरे की आँखों में कूद गये
और उन्हें ज़ोर से भींच लिया

इतने ज़ोर से कि जब लपटें बरौनियाँ छूने लगीं
तब भी उन्हें अहसास नहीं हुआ

अंत तक वे बहादुर रहे
अंत तक वे वफ़ादार रहे
अंत तक वे एक-जैसे रहे
चेहरे के कगार पर अटकीं
दो बूँदों की तरह

□ चीज़ें

बेजान चीज़ें हमेशा ही सही होती हैं और, दुर्भाग्य से, उन पर कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता। मैंने कभी भी किसी कुर्सी को पैर बदलते या बिस्तर को पिछली टाँगों पर खड़े होते नहीं देखा। और मेज़ें, जब वे थक जाती हैं तब भी, अपने घुटने मोड़ने की हिमाकत नहीं कर सकतीं। मुझे शक है कि चीज़ें उपदेश देने की नीयत से, हमें अपनी चंचलता पर निरंतर झिड़कने के लिए ऐसा करती हैं।

□ काठ का पाँसा

काठ के पाँसे का वर्णन सिर्फ़ बाहर से हो सकता है। इसीलिए हम अभिशप्त हैं इसके सार से हमेशा-हमेशा अनभिज्ञ रहने के लिए। यदि तेज़ी से दो टुकड़ों में इसे काट दें, तब भी तुरंत ही इसका अंतस् एक दीवार बन जाता है और बिजली की तेज़ी से एक रहस्य चमड़ी में रूपांतरित हो जाता है।

इस कारण पत्थर की गेंद, लोहे की छड़, काठ के घन के मनोविज्ञान की नींव रखना, असंभव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

□ मुर्ग़ी

मुर्ग़ी इसका सबसे अच्छा दृष्टांत है कि लगातार आदमियों के साथ रहने का फल क्या होता है। वह पक्षियों का फुर्तीलापन और लोच बिलकुल खो चुकी है। उसकी पूँछ उसके उभरे हुए चूतड़ पर ऐसे तनी होती है जैसे फूहड़ रुचि वाला कोई बड़ा-सा टोप। हर्षातिरेक के उसके विरल क्षण, जब वह एक टाँग पर खड़ी हो जाती है और अपनी झिल्लीदार पलकों वाली आँखें मटकाती है, निहायत ही उबकाऊ होते हैं। और तिस पर, एक अकथ्य रूप से हास्यास्पाद चीज़—सफ़ेद, धब्बेदार अंडे—पर, गाने की वह पैरोडी, वे गला-फाड़ प्रार्थना-गीत !

मुर्ग़ी कुछेक कवियों की याद दिलाती है।

□ सम्राट्

बहुत पहले की बात है। एक सम्राट् था। उसकी आँखें पीली-पीली और जबड़ा ख़ूँखार था। वह मुसाहिबों और सिपाहियों से भरे एक महल में रहता था। अकेला। रात को वह उठ-बैठता और चीखने लगता। कोई भी उसे प्यार नहीं करता था। उसे सबसे ज्यादा पसन्द था शिकार और आतंक। लेकिन वह बच्चों और फूलों के साथ तसवीरें खिंचाता था। जब वह मरा, तो किसी को भी हिम्मत नहीं हुई कि उसके चित्र हटा दे। देखिये, शायद अभी भी आपके घर उसका मुखौटा पड़ा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

ख़त्म नहीं होती हरी दूब

विष्णु खरे

यह हिन्दी कविता का दुर्भाग्य ही रहा है कि इसमें लगातार ढर्रे से अलग लिखते आ रहे कवियों की ऊपरी प्रवृत्तियों को ही ग्रहण कर उन्हें एक सुविधाजनक लेबल लगाकर अलग कर दिया जाता रहा। पिछले कुछ वर्षों में यह साज़िश शमशेरबहादुर सिंह के साथ 'कवियों का कवि' विशेषण जोड़कर की गई, और इसके बाद 'हल्के-फुल्केपन' का लेबल लगाकर भवानीप्रसाद मिश्र की कविता से छुट्टी पाने की कोशिश हुई। इधर एक ऐसा ही सुनियोजित कार्यक्रम मुक्तिबोध को भी साहित्यिक लिम्बो में भेज देने का बनाया जा रहा प्रतीत होता है।

भवानीप्रसाद मिश्र (न केवल अपनी कविता में बल्कि) आयु में भी एक प्रौढ़ कवि हैं और उन्होंने हिन्दी कविता के कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। किन्तु प्रारम्भ से ही उनकी अपनी शैली रही है जिसने बहुत धीरे-धीरे हिन्दी कविता को कहीं-न-कहीं प्रभावित अवश्य किया है। वे सरल शब्दों तथा सरल शिल्प के कवि रहे हैं—यह भी कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में शिल्प ढूँढ़ना उतना ही कठिन है जितना बोलचाल की भाषा में—यद्यपि उनमें बोलचाल की भाषा में कोई दोष मौजूद नहीं है। 'अँधेरी कविताएँ'[1] के पूर्वगामी दो संग्रहों में भवानीप्रसाद मिश्र की वही तस्वीर नज़र आती थी जो उनके आलोचकों ने उन्हें बख्शी थी और जिसके आदी उनके पाठक हो चुके थे—एक भले आदमी की जो मध्यम मार्ग पर चलता है, जो पाठकों की समझ पर कतई दबाव नहीं डालता, जो रोज़मर्रा की कविताएँ लिखता है, जिसके पास कोई फ़ैशनेबल दर्शन नहीं है और जिसकी पंक्तियाँ काव्य-प्रवृत्ति, आन्दोलन, स्कूल, सत्य अथवा सिद्धांत को उजागर करने के लिए उद्धृत नहीं की जा सकतीं। सहयोगी कवि खुश थे, एक ऐसा भी कवि है जो उनका प्रतियोगी नहीं है, आलोचक उनकी कविताओं को देखकर राहत की साँस लेते थे, और पाठक जिसे 'जी हाँ हुज़ूर मैं गीत बेचता हूँ' ठीक-ठीक समझ में आता था, कम-से-कम एक कवि को समझ पाने के गर्व से पुलकित होता था।

१९६८ में उनका दूसरा संग्रह 'चकित है दुःख' प्रकाशित हुआ था जिसने यदि उनकी 'भवानी भाई' वाली इमेज को कमोबेश गहरा ही बनाया था। किन्तु. यदि 'हाइ-इसाइट' या सहारा लेने दिया जाय, उस संग्रह की कुछ कविताओं में निस्संदेह कुछ ऐसा था जो उनकी कविताओं में आमतौर पर नहीं पाया जाता था—'कई बार / लगता है / बहुत लम्बी खिंच रही है / जीवन की शाम···चाहता हूँ इसलिए / कि अब न जिए / कुछ भी मेरा / न शरीर / न शरीर से किए हुए काम / मेरा तमाम / डूब जाए अपार लहराते हुए किसी सागर में' (लगता है···चाहता हूँ) 'अभी मैं लगभग एक विदूषक हूँ / किन्तु यह नाटक चुके / तो कौन जाने मेरा मन / हँसने-हँसाने पर न रुके' (इसके बाद) 'पहाड़ के ढलान पर / किसी ने मुझे धक्का दे दिया / और मेरी ज़िन्दगी ही बदल गई / मेरी टाँग टूट गई / और अब मैं लँगड़ाकर चलने लगा हूँ / अभिव्यक्ति अब / थोड़ी कोशिश से हुआ करेगी' (अभिव्यक्ति) 'मन में / अँधेरे का / एक धब्बा था / जो / फैलता चला गया / और सब अँधेरा है' (अँधेरे का एक धब्बा) 'जैसे आज / जब शाम को / नक्कारे पर चोट पड़ी / तो न जाने कितनी गहराई में पड़ा हुआ दर्द / जैसे तड़पकर / उठ खड़ा हुआ' (जैसे आज) 'मज़ा आएगा / जब कमज़ोर और अकेला एक आदमी / गायेगा गीत / निराशा का गली-गली में / गूँथकर अँधेरे की कली-कली में / बुझती हुई चिनगारी की किरनें! / और भी मज़ा आएगा / जब ताकतवर लोग बगलें झाँकेंगे / जब एक अँधेरा खाएगा /

१. 'अँधेरी कविताएँ', भवानीप्रसाद मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, मूल्य ५ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे सवेरा झांकेंगे' (समाधि से लौटकर)।

निस्संदेह 'अँधेरी कविताएँ' पढ़ते हुए भवानीप्रसाद मिश्र की वह तस्वीर, जिसके हम अभ्यस्त थे, धुँधली पड़ती है और एक दूसरी ही शख़्सियत धीरे-धीरे उसकी जगह लेती है। 'अँधेरी कविताएँ' का कवि जनगणमनरंजन करने वाला विदूषक नहीं है– या कहा जा सकता है कि विदूषक अवश्य है किन्तु चेहरे का बहुरंगा ग्रीन-पेन्ट अब धुल गया है, घंटियों वाली तुर्रेदार टोपी कहीं गिर चुकी है और कानों तक फटी मुस्कराहट के पुछ जाने के बाद बरसों से हँसते-हँसाते चेहरे पर खिंची रेखाएँ अब गहरी दिखाई पड़ रही हैं। भवानीप्रसाद मिश्र जानते हैं कि एक अरसे तक एक प्रत्याशित भूमिका निभाने के बाद उसे बदलना एक जान-बूझकर मोल लिया जा रहा जोखिम है, किन्तु वे यह भी बख़ूबी जानते हैं कि यदि इस समय न बदला गया तो शायद देर हो चुकी होगी—'शब्दों में कहना है / और कहना है अभी / शुरू किए देता हूँ / तमाम जोखिमें ली हैं / एक और जोखिम लेता हूँ।'

प्रश्न उठ सकता है कि कौनसी जोखिम ? आखिर किस तरह की कविताएँ हैं ये जिन्हें लिखना कवि एक जोखिम समझ रहा है ? एक कवि जब उस मुहावरे से हटकर लिखना प्रारंभ करता है जिसके अभ्यस्त उसके पाठक तथा आलोचक हो चुके हैं तो वह उन्हें उलझन में डालता है क्योंकि अब तक जो सुविधा उन्हें उपलब्ध थी वह उनसे छिनी जा रही प्रतीत होती है और वे यह देखकर नाराज़ होते हैं कि कवि 'बिहेव' नहीं कर रहा है। अपने सुरक्षित श्रोतावर्ग को अपनी कविता में हुए किसी मूलभूत परिवर्तन के लिए तत्पर करना एक फ़िफ्टी-फ़िफ्टी जोखिम है। ख़ैर, यदि कवि ओजस्वी है तो वह अपने श्रोतावर्ग से गुस्ताखियाँ कर सकता है और उनकी रुचियों को परिष्कृत-परिवर्तित भी कर सकता है। किन्तु समसामयिक हिन्दी कविता में भवानीप्रसाद मिश्र की पिछली और प्रस्तुत कविताएँ एक और जोखिम उठाती हैं। पिछले कुछ वर्षों के एक साथ समाज, राजनीति तथा नकार का लक्ष्य बनी हुई हिन्दी कविता भवानीप्रसाद मिश्र सरीखे कवियों से दूर ही रही है। शब्दस्फीति, अभिव्यक्ति का आत्महंता अराजकतावाद, नारेबाज़ी, विद्रोहबाज़ी तथा आन्दोलनबाज़ी के इस स्वर्णिम युग में, जहाँ अपने साप्ताहिक में अपने तथा अपनों के प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथों को वर्ष के सर्वोत्तम ग्रंथ घोषित करवाना कवियों तथा कवि-आलोचकों का काव्य-धर्म बन गया हो, अपने निजी दुःख की नितान्त ईमानदार कविताएँ वग़ैर आँखें नटेरे और मुँह पर फेचकुर लाए लिखना एक जोखिम नहीं तो और क्या है। शब्दों के जंगल में, जिसे हिन्दी कविता कहा जाता है, इतनी सरल अभिव्यक्ति एक खतरा ही है—'जो कह सकता हूँ इन दिनों / उसमें न गाने का कुछ है / न मुसकाने का / खाली शामों में / उसे पढ़ा भर जा सकता है / उलझन भरी दृष्टि / उसके बाद गड़ायी जा सकती है / अँधेरापन समेटते हुए / आसमान पर' (शरीर और फसलें, कविता और फूल)।

घोषित रूप से 'अँधेरी कविताएँ' बहुत ही गहरे निथरे हुए दुःख की तथा जीवन के अन्त से साक्षात्कार की कविताएँ हैं, किन्तु भवानीप्रसाद मिश्र ने यह दुःख कुछ इस तरह आत्मसात् किया है कि उसका जो भी अंश कविताओं तक पहुँचता है, वह एक आत्ममुग्ध की रुग्ण चीख नहीं बन पाता, उसमें शिशिर की रात सुदूर बजते हुए किसी अनाम तन्तुवाद्य का संगीत है जो हमारे शरीर पर भय के काँटे नहीं उभारता, एक अकथ उदासी का मौन प्रदान करता है। उसमें कहीं भी घोर निराशा, अतिरंजित भय अथवा मृत्यु-प्रेम नहीं है। इन कठिन क्षणों में भी भवानीप्रसाद मिश्र उस वस्तु को नहीं भूले हैं—जिसने 'मुझे शब्द दिए हैं / और समुन्दर जिससे / लहर लेता है / क्या चीज़ है यह / जिसे छूकर हवा इठलाती है / और पौधा जिसे पाकर फूल देता है / क्या चीज़ है यह / अदम्य और कोमल और कठोर' (बेचारी चेतना)।

दुःख तथा अन्त को स्वीकारती कविताओं की साहित्य में कभी कमी नहीं रही और उनमें से अधिकांश शूरवीरता से परिपूर्ण हैं या छद्म स्वीकारवाद-स्वागतवाद से ? यह शूरवीरता और दर्शन अमावस की रात बस्ती के बाहर संदिग्ध पुल के नीचे से गुज़रने पर बजायी जाने वाली सीटी के बहुत निकट होता है। दुःख का अहसास भवानीप्रसाद मिश्र में भी है किन्तु उसमें न तो दैन्य है न पलायन—एक बहुत साफ़ तथा स्निग्ध स्वीकृति है—'गुलदस्ता / मत रखो मेरे / सिरहाने / कि एक छोटा फूल / दे दो हाथ में / ज़्यादातर तो इसलिए / कि अब बहुत है / एक फूल भी / बल्कि फूल की पंखुरी / और थोड़ा इसलिए / कि बहुत है अब / गुलस्ता मेरे लिए' (गुलदस्ता)। बहादुरी के समीप ये पंक्तियाँ पहुँचती प्रतीत होती हैं—'अवाक् देखने की / देखते रहने की घड़ियाँ / मगर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब आ गई हैं / तब वह भी बताएँगे करके / लगभग चुप्प गाएँगे / भर देंगे हम शोर से ऊपर सूनापन / दूना मन कर देंगे हम / सिर पर टूटती तकलीफ़ों का / ऐसे / करते ठीक गाने के दिनों का / जैसे गाकर मुक्त कंठ से' (चुप्पी गाएँगे), किन्तु इनके पीछे जो विवशता है तथा विदूषकत्व का पुट है वह इन्हें त्रासद तथा व्यंग्यपूर्ण बनाता है।

भवानीप्रसाद मिश्र की इन कविताओं सरीखी कविताओं में खतरा यह होता है कि कवि जब इन्हें शुद्ध भावनाओं के रूप में सर्वप्रथम अनुभव करता है (और यदि वह एक कमज़ोर कवि तथा कमज़ोर इन्सान होता है तो) वह इनकी करुणा में स्वयं इतना डूब जाता है कि कवि-कर्म के दूसरे तकाज़ों को भूल कच्ची भावुकता को ही कविता के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में हास्यास्पद पतन को प्राप्त होता है। वह सोचता है कि उसे 'विचलित' करने वाले ये भाव निस्सन्देह कविता होंगे ('आह से उपजा होगा गान' इत्यादि) और वह पाठक को भी 'द्रवित' करेंगे। यहीं पर 'द मैन हू सफ़र्स' तथा 'द मैन हू क्रिएट्स' का अन्तर स्पष्ट होता है। कवि, यदि वह वास्तव में कवि है तो, जब अपने 'दुःख' पर कविता लिख रहा होता है तब वह दुःख से उतना ही दूर या पास होता है जितना एक जागरूक कारीगर अपने कच्चे माल के। यह सुख की बात है कि भवानीप्रसाद मिश्र का दुःख 'सन्निपात' अथवा 'समाधि' शैली का नहीं है, यदि उनका व्यक्ति लगातार उसे भोग रहा है तो उनका कवि उसे अभिव्यक्त करने की समस्याओं से निपट रहा है—'पुरानी आदिम/चिनगारी की तरह/फिंकना चाहिए/अर्थ पुराने से पुराने शब्दों में से/नये सन्दर्भों में···सन्दर्भ पुराने हो सकते हैं/नये हो सकते हैं/यह संयोग है/कि मन मेरा/आज एक नया सन्दर्भ है/मगर फिंकना तो चाहिए/पुराने ही शब्दों से/नये इस सन्दर्भ की चिनगारी।'

यह भी द्रष्टव्य है कि यद्यपि संग्रह में पचपन कविताएँ हैं और किसी में भी शुद्ध आह्लाद नहीं है, किन्तु दुःख का आभूषणीकरण भी अनुपस्थित है। कवि को मालूम है कि दुःख कोई अभूतपूर्व चीज़ नहीं है और न ही अकेले उन्हीं को यह प्राप्त हुई है। यही अहसास शायद उनकी व्यथा को इतना विरल, व्यक्तिमुक्त तथा काव्य-स्वीकार्य बना सका है—'सोचता हूँ/मगर विस्तार में नहीं जाता मैं/इस सोच के/क्योंकि सचमुच जितना हुआ है/उससे अधिक होता रहा है/जब से हुई है दुनिया/तब से।' गुरु-गम्भीर शब्दों से बचने की आदत भवानीप्रसाद मिश्र को आज की कविता के अधिकांश दोषों से बचा ले गई है, इसलिए मृत्यु को इन सीधे शब्दों में स्वीकारते हुए—'घड़ी राख होने की आए/बुरा इसमें कुछ नहीं है/बुरा यह है/कि मन राख होने से घबराये/मैं खुश हूँ कि वह नहीं हो रहा है।' वे शाब्दिक दार्शनिकता से मुक्त होकर कह सके हैं—'याने अब मैं/न कोई क्षण पाना चाहता हूँ/न खोना/पाने और खोने की प्रक्रिया से/उदासीन हो चुका हूँ मैं/और बचे हुए क्षणों में/अगर वे बचे ही हैं/इतना ही चाहता हूँ/कि कोई पकड़ न पाए/कि यह आदमी/वक्त काट रहा है!'

एक रचनाधर्मी कृती अपनी रचनाओं में ही जीवित रहता है और उन्हीं में मरता है—'अबाध ठीक बात/कही जा सकती है/केवल अबाध ठीक कविता में/वही कहने के लिए/ज़िन्दगी जीता रहा/और वही कहने के लिए/अब चाहता हूँ/नयी एक ज़िन्दगी / नया एक देह। कविताएँ ही कवि का पलायन होती हैं और शक्ति-स्रोत भी। जहाँ कवि कविता में मरता है, वहाँ कविता में ही उसका पुनरारोहण भी होता है—'मगर ये सब/अर्थात् विकल्प ये सारे/सातवाँ मौसम/शरीर का स्वास्थ्य/अथवा नया देह धारण/सम्भव दिखते हैं/केवल कविता में/कविता में सब-कुछ सम्भव है। जीवन की कविता में अदम्य आस्था रखते हुए, दुःखों से जूझते तथा मृत्यु की आँखों में देखते हुए भवानीप्रसाद मिश्र जानते हैं कि मृत्यु कभी नहीं होती :

खत्म नहीं होता पेड़ों का हरहराना
मरकर मैं क्या करूँगा

खाली गुफा के सामने
मरना होगा तो हरी दूब पर
मरूँगा हरे झाड़ की छाया के नीचे

डायरी के पन्नों पर तब तक
सिर्फ़ तारीख नहीं
रहेगी

कविता की धारा बहेगी
अभी और कुछ दिनों
कुछ पहरों कुछ पलों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुसे हुए शब्दों का एक विराट् मलबा

विष्णु खरे

यदि कहा जाए कि हिन्दी का प्रत्येक अध्यापक साहित्यकार होता है—वह भले ही 'शाला' पत्रिका स्तर का हो या 'धर्मयुग' स्तर का—तो इसे व्यंग्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह एक तथ्य है। मुझे नहीं मालूम कि अमरीका और इंग्लैंड में अंग्रेज़ी के सारे अध्यापक साहित्यकार होते हैं या नहीं (भारतीय अंग्रेज़ी प्राध्यापक तो नहीं होते—जो कि शायद उनकी विवशता ज़्यादा है, चुनाव कम) किन्तु देखा यह गया है कि हिन्दी का प्राध्यापक साहित्य लिखने को एम० ए० के आठ लिखित पर्चों के बाद निरन्तर चलने वाला एक नवाँ पर्चा मानता है। सम्भव है कि हिन्दी के आदि-युग में हिन्दी पाठ्यक्रम में अभिवृद्धि करने हेतु तत्कालीन आचार्यों ने इस प्रवृत्ति को न केवल आविष्कृत किया हो बल्कि प्रोत्साहित भी किया हो, किन्तु अब जबकि हिन्दी में साहित्यकार होने के लिए उस भाषा में पढ़ाना तो क्या, उसे ठीक से जानना भी अनिवार्य न रह गया हो, अधिकांश अध्यापकीय साहित्य-सृजन को यदि ग़ैर-ज़रूरी न भी माना जाए तो कम-से-कम उसे एक संयम देने की इच्छा प्रकट करना अनुचित न होगा।

साहित्य-सृजन सरीखे पुनीत कार्य-क्षेत्र से मैं किसी को भी बहिष्कृत नहीं करना चाहता, मैं सिर्फ़ गलत किस्म के प्राध्यापकों को ही (वे किसी भी भाषा के क्यों न हों) साहित्य-रचना से वंचित देखना चाहता हूँ। सही किस्म की परिभाषा चूंकि कठिन है, अतएव मैं गलत को ही बखानूंगा। गलत किस्म का प्राध्यापक डॉक्टरेट को उन्नति-अस्त्र के रूप में ग्रहण करता है, प्राध्यापकीय पांडित्य प्रदर्शित करने के लिए दो-एक निहायत पाठ्य-पुस्तकनुमा ग्रंथ रचता है, तत्पश्चात् साहित्य की किसी भी विधा में किसी भी कीमत पर 'अमर' होने के लिए (आवश्यक नहीं कि इसी क्रम में) कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रेडियो, टेलीविज़न, फ़ीचर, अनुवाद आदि करता है। इतने पर भी सन्तुष्ट न होकर वह इन विधाओं की गहराई में जाता है—कविता में 'नयी कविता', 'नवगीत', 'अकविता' एक साथ लिखता है, उपन्यास में 'सामाजिक', 'आंचलिक' तथा 'अस्तित्ववादी' उपन्यास लिखता है और कहानी में एक राकेश-कमलेश्वर-भारती स्कूल, दूसरी निर्मल वर्मा स्कूल, तीसरी श्रीकान्त वर्मा स्कूल तथा चौथी भल्ला-कालिया-बख्शी स्कूल की लिखता है। आलोचक, पहले ही कहा जा चुका है, वह होता ही है। आखिर इतिहास अब बचकर कहाँ जाएगा?

स्पष्ट है कि इतने वैविध्य के तक़ाज़ों का असर (यदि वे वास्तविक हों तो) रचनाकार के मस्तिष्क के लिए घातक हो सकता है। किन्तु हर्ष का विषय है कि ऐसे हर कलात्मक संकट का एक हल मौजूद होता है। साहित्य के इतिहास में अमर होने के तक़ाज़ों के दबाव में लिख रहा व्यक्ति कपड़ों को आत्मा समझ तुरन्त ध्वनियों, शब्दों तथा मुहावरों की ओर दौड़ता है। हिन्दी कविता के पिछले पाँच-छः वर्षों में ही कवियों, कविताओं और कविता-पत्रिकाओं की जो बाढ़ आई है उसका अर्थ यह कतई नहीं है कि भारत एकाएक काव्यमय देश हो गया है। एक खास तरह का पोज़, एक विशिष्ट शब्द-भण्डार और कविता लिखने की वेगवती इच्छा—कविता का इससे ज़्यादा आसान नुस्खा और क्या हो सकता था? आधुनिक हिन्दी कविता की एक अदृश्य फ्रेज़-बुक तैयार होती चली गई; शब्दों का एक ऐसा कुआँ प्राप्त हो गया कि जिसके हाथ डोर और बाल्टी लगी वह कविताएँ उलीचने लगा। रामदरश मिश्र की कविताओं[1] में, जो तीन खण्डों में विभक्त हैं, यह भरसक कोशिश की गई है कि आज की कविताओं में प्रयुक्त शब्दों से कोई भी छूट न जाए :

'और 'मैं' के नीचे कुचला हुआ 'मैं'/तड़पता रहता है भीड़ में खोए किसी एकान्त के लिए/जिसे वह अपने को दे दे।'

'मैं तड़फड़ाता, अपने को नोंचता/भागता हूँ/तो एक ऊँची दीवार से टकरा जाता हूँ···और लावारिस कुत्ते की तरह/किसी पहिए से कुचलकर मर जाता हूँ'।

'क्रॉस पर टँगी हैं/सत्य, अहिंसा और न्याय की ऋचाएँ··· कुरसियों पर, तख्तों पर/मुरदे बिछे हैं···मुरदों के हाथों में सड़ते/नोटों के कफ़न से ढँके/न्याय की दुर्गन्ध टकराती है··· भगवान खड़ा किया जाता है/और हर बार उसे मार दिया जाता है···रात भर/भगवान अपनी लाशें बटोरता है।'

'हम सब भीड़ में समाज-समाज चिल्लाते हुए घूमते हैं और अकेले में/अपने से पूछते हैं—/समाज?/कहाँ है समाज?'

इन पंक्तियों में इन शब्दों से, उनके विन्यास से, मुहावरे

१. 'पक गई है धूप', रामदरश मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, मूल्य ५ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से तथा विचारों की परिणति से हिन्दी का पाठक इतना अधिक परिचित हो चुका है कि पूरी कविता में सिर्फ़ पाँच-छः शब्दों पर दृष्टिपात करके ही वह उनका रुझान समझ सकता है। ये समस्त कविताएँ कई कवियों द्वारा पिछले कई वर्षों से कही जा रही चीज़ों से न तो कथ्य में भिन्न हैं और न शैली में। ये निहायत परिचित प्रतिक्रियाओं की निहायत परिचित कविताएँ हैं और किसी क्लिशे-प्रेमी पाठक को भले ही आन्दोलित कर सकें, हिन्दी के उस जागरूक श्रोता-वर्ग को संतुष्ट नहीं कर पाएँगी जो इस अभ्यस्त करतब से ऊब चुका है और कुछ नया देखना-सुनना चाहता है।

संग्रह का दूसरा खंड, स्वयं कवि के शब्दों में, गीतात्मक संवेदनाओं की कविता का है और पहला ही 'गीत' हमें चेतावनी दे देता है कि हम उसमें क्या पाने वाले हैं—

मत जाना मीत कहीं और
आज फागुनी हवाओं में बहके हैं बौर

तीसरे गीत की प्रत्येक पंक्ति एक क्लिशे है और 'अरी री' 'मरी री' वाली अत्यंत हास्यास्पद अनुभूति की एक फूहड़ कविता का निर्माण करती है—

चिटक उठी धूप, प्रिय
टूट गयी सीढ़ी
ताल में गिरी मैं
जल में तिरी मैं
अंग-अंग जल हुआ
रही न कहीं की री !

लोग आधुनिक कविता की दुरूहता की बात करते नहीं अघाते, किन्तु मैं पूछना चाहता हूँ कि 'टूट गयी सीढ़ी' तथा 'रही न कहीं की री' इस 'गीत' को किस तर्क से अर्थ प्रदान करते हैं ? साफ़ है कि यह और इस तरह के समस्त 'गीत' शब्दों के चटखारे लेकर लिखे गए हैं, जिनके पीछे मिठास पैदा करने के नाम पर शक्कर परोसने की वमनोत्तेजक कोशिश है। एक अन्य कविता में इसी तरह की अर्थहीन, घिसी-पिटी गीतात्मकता है—'कैसा-कैसा लगता है आज / जैसे चौरस्ते पर भरा-भरा घड़ा / कोई फोड़ गया हो।' मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि मैं मतिमंद हूँ यदि कोई यह समझाने को राज़ी हो जाए कि 'कैसा-कैसा लगना' किस तरह 'चौरस्ते पर किसी के घड़ा फोड़ने' से उत्पन्न भावना के समतुल्य है।

गीतात्मकता पैदा करने के सारे फार्मूले (जिन्हें गिनाना निस्सार है) रामदरश मिश्र की कविताओं में मौजूद हैं, किन्तु कदाचित् सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण है शब्दों को जोड़ों में प्रस्तुत करने की छायावादी हरकत। परिणामतः इस संग्रह के गीत 'चलते-चलते', 'पोर-पोर', 'भरी-भरी', 'छोटी-छोटी', 'पीले-पीले', 'कैसा-कैसा', 'भरा-भरा', 'फूली-फूली', 'पीली-पीली', 'कहाँ-कहाँ', 'रात-रात', 'आ-आ', 'लिपट-लिपट', 'अंग-अंग', 'हँसते-हँसते', 'साथ-साथ', 'समा-समा', 'खींच-खींच', 'रिस-रिस', 'तंग-तंग', 'उठ-उठ', 'टकरा-टकरा', 'धुला-धुला', 'दूर-दूर', 'रंग-रंग', 'रह-रह', 'लिख-लिख', 'छन-छन', 'बह-बह', 'लौट-लौट', 'उलीच-उलीच', 'जाता-जाता', 'आती-आती', 'फूल-फूल', 'दिशा-दिशा', 'पाँती-पाँती', 'अक्षर-अक्षर', 'कली-कली', 'हवा-हवा', 'फफ्फ-फफ्फ' आदि पर टिके हुए हैं।

संग्रह का तीसरा खंड हिन्दी कविता के नवीनतम स्टंट—लम्बी कविताओं—का है। मुक्तिबोध सरीखे कवि के लिए लम्बी कविता एक अनिवार्यता होती थी, किन्तु 'अँधेरे में' के बॉक्स-ऑफ़िस हिट होते ही हिन्दी कवियों में छिपा हुआ सफलतागामी बम्बइया इस सोने के अंडे देनेवाली बत्तख के पीछे छुरी लेकर दौड़ने लगा, परिणामतः लम्बी कविता की यह विधा दिल्ली में जगह-जगह लगे हुए 'मेरा प्रयोग कीजिए' मार्का कूड़ेदानियों में बदल गई। यदि आपके मस्तिष्क में कुछ ऐसे अनुभव हैं जिन्हें ऑर्गेनाइज़ कर अर्थवान काव्य-सृजन आपके लिए कठिन हो तो नाटक + वियतनाम + सिनेमा + शिश्न + टेलीविज़न + बीजगणित + पंचांग + जन्मकुंडली + योनि + सन्निपात शैली में सिर्फ़ एक लम्बी कविता लिखना ही पर्याप्त होगा। आज कवि-कर्म इतना आसान इसलिए भी है कि पाठकों को भी कविता के फार्मूले रट गए हैं और पतन, क्रूरता तथा सड़ाँध की एक सतही शब्द-लाघवता उन्हें कविता के बहुत भीतर जाने से रोकती है। चूँकि दौर एक विशेष तरह की प्रगल्भ कविता का है जिसके प्रमुख लक्षण मशीन-युग की भर्त्सना, तथाकथित 'पाश्चात्य' सभ्यता की निन्दा, वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक स्थिति का घृणामय आकलन वगैरह हैं, रामदरश मिश्र की कविताओं में 'सड़क चरमराकर चीख उठती है', 'एक लावारिस लाश पड़ी है / जिसकी अगल-बगल से। सफ़ेद संस्कृति की धाराएँ बह जाती हैं कतराकर', 'टेरेलिन पहने कुछ जवान बाबू', 'मेनहोल में एक बच्चे की लाश', 'पेशेवर धर्मनेता / गीता और रामायण की पंक्तियों को / पान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीक की तरह थूकते हुए', 'कोई गांधी उन्हें रोकता है / तो उसे गोली मार दी जाती है', 'मरी हुई मछलियाँ, सड़े अण्डे, छिपकलियाँ, मक्खियाँ', 'चीखती चिमनियाँ / टूटता हुआ आकाश / झोंपड़ियों को निगलती हुई रातें /···दीवारों पर चिपके पोस्टर कलाओं के', 'ईसा, गौतम, गांधी की प्रतिमाओं की छाया' आदि ठसाठस भरे हुए हैं, भले ही इनमें सम्बन्ध केवल कलाबाजियों से ही क्यों न स्थापित किया गया हो।

रामदरश मिश्र की ये लम्बी कविताएँ, उनकी अन्य कविताओं के समान, तथा दूसरे कई कवियों की अधिकांश ऐसी कविताओं के समान, एटीट्यूडिनाइज़िंग से विस्फारित एक रूमानी पोज़ से अधिक कुछ भी नहीं हैं। शाब्दिक पराक्रम तथा एक प्रच्छन्न पवित्रता प्रत्येक पंक्ति में मिलेगी — स्वयं के विषय में कवि कुछ भी नहीं कहेगा, किन्तु इन पंक्तियों से परावर्तित हो एक आत्माभिषेकी उजियाला बार-बार उस पर छा जाएगा। ऐसी कविताओं के सृजन के बाद वह अपना रथ पृथ्वी से कुछ ऊपर चलता हुआ अनुभव करता है। इन कविताओं में कहीं भी यथार्थ को स्वीकार्य कविता बनाने की चिन्ता नहीं है, सब-कुछ ज्यों-का-त्यों दे दिया जाता है, फलतः शब्दों के रूमानी घटाटोप से साक्षात्कार होता है—

तुम्हारी बाढ़ों ने
खेतों में फैले पसीने के फूलों को निगला है
बखारों या गोदामों में बन्द राशियों को नहीं
तिजोरियों और बैंकों में बन्द जड़ सिक्कों को नहीं

और एक गन्दा काला नेता
अपने मशक जैसे मोटे पेट में भरी
गन्दी गैस निकालता रहता है
अपने घिनौने बदबूदार जबड़े से
आग धधकती है
तो वह एक खादी का मुखौटा पहन लेता है

संग्रह की दो लम्बी कविताएँ—'गाड़ी जा रही है' तथा 'फिर वही लोग' रामदरश मिश्र के समस्त प्रलोभनों और पराभवों को उजागर करती हैं। पहली कविता भारत-पाकिस्तान युद्ध से प्रेरित है और उसकी प्रारम्भिक पंक्तियों में बमवर्षा के बाद का यह 'मार्मिक' चित्रण है :

एक गाँव अपने हरे-भरे दामन में झुलस गया है
मंदिरों, गिरजाघरों में झुकी प्रार्थनाएँ
मस्जिदों में सोई हुई अजान की ध्वनियाँ
ज़बह कर दी गई हैं

तत्पश्चात् देश की भौतिक-आध्यात्मिक शक्ति का यह 'अभिभूत' कर देने वाला चित्रण :

हमारी सीमाओं की फ़ौज के पीछे
एक लम्बी फ़ौज खड़ी है—
तरह-तरह के हथियार लिए
गांधी, गौतम, राम और कृष्ण के
भरे-बादल से उठे हुए हाथ

इसके बाद हमारी बहादुर सेना की विजय-प्राप्ति का वर्णन तथा साम्राज्यवादी षड्यन्त्रकारियों के साथ चीन की साठगाँठ होने का निर्मम पर्दाफाश है और अन्त में, चूंकि रूमानी कवि का सर्वाधिक प्रिय स्वप्न कुछ भी न करते हुए जो हो रहा है उसका सक्रियतम अंग बनना होता है, ये पंक्तियाँ अप्रत्याशित नहीं हैं :

हमारी गोलियाँ शत्रु के उन्माद पर टूट रही हैं
अँधेरे की घाटियों से गुज़रती गाड़ी का यात्री मैं
आह, मैं
लगातार गोलियाँ बन छूट रहा हूँ।

'फिर वही लोग' इसी तरह की शाब्दिक वीरता, शाब्दिक भावुकता तथा शाब्दिक निरर्थकता से ओतप्रोत एक दुखदायी कविता है। इसकी पंक्तियों में वही सूचीपत्र-नुमा क्रमबद्ध भारतीय पापाचार, अत्याचार, कथनी-करनी भेद, 'भारत दुर्दशा देखी न जाई' आदि का अम्बार लगा हुआ है जिस पर लिखकर हर हिन्दी कवि अपने उत्तरदायित्व से 'इन्सटैन्ट' मुक्ति प्राप्त कर लेता है, इन तथा ऐसी पंक्तियों में कहीं भी स्वयं के अन्दर दूर तक झाँकने की, विरोधाभासों की सही पकड़ की, समूचे मानव-अस्तित्व की हास्यास्पदता तथा त्रासदी की तथा कवि-कर्म की सार्थक-निरर्थकता के अहसास की कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी है। रामदरश मिश्र तथा इन जैसे कवियों का उद्देश्य शब्दों से एक 'प्रभाव' पैदा करना होता है 'अर्थ' नहीं। वे अधिक-से-अधिक शब्दों में अधिक-से-अधिक उपलब्धियाँ चाहते हैं, और शब्दों से अमरत्व चाहते हैं, शब्दों में नहीं। कहना न होगा कि ऐसे प्रत्येक अवसरवादी के हाथों शब्द अपने सारे अर्थ खोकर कबाड़खाना बन जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शेक्सपियर बरक्स बच्चन

विष्णु खरे

हैमलेट के बारे में कुछ भी कहना किसी पिटे हुए जुमले को दुहराना होगा। यह शायद एकमात्र नाटक है जिसने सदियों से मानव-मन पर इतना गहरा प्रभाव डाला है, बीसियों विवादों को जन्म दिया है, जिसकी भर्त्सना भी खुलकर हुई ('मोस्ट सर्टेनली एन आर्टिस्टिक फेल्योर'—टी० एस० इलियट) और प्रशंसा में लाखों शब्द लिखे गए हैं। हैमलेट के 'संकट' में प्रत्येक युग के संशयग्रस्त संवेदनशील व्यक्तियों ने अपना 'संकट' पहचाना है और यद्यपि अपने लम्बे स्वगत कथनों से उसकी भूमिका निभाना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कष्टकर अवश्य है—चारित्रिक पेचीदगियाँ अलग—पिछले तीन सौ से भी अधिक वर्षों से विश्व के श्रेष्ठतम अभिनेताओं की महत्त्वाकांक्षा हैमलेट का अभिनय कर अमर होने की रही है।

संसार की किसी भी भाषा में हैमलेट का अनुवाद[1] हो यह आश्चर्य का विषय नहीं, अभिनन्दनीय होना चाहिए क्योंकि यह अंग्रेज़ी की नहीं, समूची मानव-जाति को विरासत में मिली एक अद्भुत वस्तु है, उसी तरह जिस तरह महाभारत तथा इलियड हैं। बच्चन हिन्दी के सुप्रसिद्ध गीतकार ही नहीं, अंग्रेज़ी की डॉक्टरेट लिये हुए हैं और वह भी कैम्ब्रिज से, अतएव एकबारगी तो पाठक यही सोचकर उल्लसित हो सकता है कि यदि यह हिन्दी अनुवाद मणिकांचन संयोग सरीखी अभूतपूर्व वस्तु न होगा तो दिलचस्प और आकर्षक तो होगा ही।

यह अनुवाद मुखपृष्ठ से ही दिलचस्प है। जिल्द से इसका अन्दाज़ नहीं लग पाता है कि यह शेक्सपियर के नाटक का अनुवाद है—लगता है बच्चन का कोई नया कविता-संग्रह है जिसका नाम 'हैमलेट' है। हाँ, अन्दर अवश्य शेक्सपियर का नाम है। प्रारम्भ में अमिताभ बच्चन का एक फोटो है जिसमें वे कसियो की भूमिका में दिखाये गए हैं जो समर्पण से स्पष्ट है। 'प्रवेशिका' में शेक्सपियर तथा हैमलेट पर कुछ चर्चा के पहले बच्चन का एक अत्यन्त रोचक संस्मरण भी है कि किस तरह उन्होंने तेजीजी को फुसलाकर यह अनुवाद पूरा किया।

'प्रवेशिका' में अनुवादक ने 'सामान्य' पाठकों के अलावा ऐसे पाठकों की भी कल्पना की है जिन्होंने 'हैमलेट' को अंग्रेज़ी में पढ़ा-समझा होगा और शायद वे इस अनुवाद को मूल से मिलाकर भी देखना चाहेंगे। अब इसे एक संयोग ही कह लीजिए कि इन पंक्तियों के लेखक ने न केवल उसे मूल अंग्रेज़ी में पढ़ा-पढ़ाया भी है (इस बात में जाना बेकार है कि उसे स्वयं कितना समझ आया और दूसरों को क्या पल्ले पड़ा) इसलिए उसने जब इस अनुवाद को उठाया तो हृदय में उत्सुकता अवश्य थी कि देखें हैमलेट के अनुवाद में उपस्थित होने वाली समस्याओं का बच्चन ने किस तरह मुकाबला किया है। किन्तु 'प्रवेशिका' में पृष्ठ १३ पर अनुवादक ने शेक्सपियर के जिस 'दोष' को खोज निकाला है उसकी मौलिकता से मैं चकित रह गया। बच्चन कहते हैं, "अन्तिम दृश्य में हैमलेट की माँ अपने पुत्र को मोटा कहती है (He's fat); हैमलेट के मोटे होने की कल्पना मैं नहीं कर सकता! बहुत बार अंग्रेज़ी रंगमंच पर भी मैंने दुबला-पतला हैमलेट ही देखा है। कहते हैं, शेक्सपियर के समय में जो अभिनेता हैमलेट की भूमिका अदा किया करता था वह मोटा था, इसीलिए शेक्सपियर ने उसकी माँ के मुख से उसे मोटा कहला दिया। शेक्सपियर ने रंगमंच की सीमाओं का ध्यान रखकर बहुत-से ऐसे काम किए हैं। मैंने उसे 'दुर्बल' कर दिया है। "मुझे नहीं मालूम कि बच्चन ने अनुवाद के लिए कौन-सा संस्करण इस्तेमाल किया है, किन्तु यदि वे जॉन डोवर विल्सन का संपादित हैमलेट सामने रखते तो स्पष्ट हो जाता कि इस 'फ़ैट' का अर्थ 'मोटा' नहीं बल्कि 'स्वीटी' यानी 'पसीना-पसीना' होता है, जिस अर्थ को रानी का अगला वाक्य "Here, Hamlet, take my napkin, rub thy brows" पुष्ट करता है। शेक्सपियर ने इसी अर्थ में इस शब्द को एक अन्य नाटक में भी प्रयुक्त किया है। मैं चाहूँगा कि बच्चन डोवर विल्सन की पुस्तक 'ह्वाट हैपन्स इन हैमलेट' तथा उन्हीं का सम्पादित वह महाविद्यालय-संस्करण देख जाएँ जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्र इस्तेमाल करते हैं। मज़े की बात यह है कि हैमलेट के पहले अनुवादक अमृतराय अपने संस्करण में 'फ़ैट' का अनुवाद 'मोटा' कर गए हैं और उनके अनुवाद को तो किसी विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष से प्रमाण-पत्र भी प्राप्त हो चुका है।

१. 'हैमलेट,' अनुवादक : बच्चन, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, पाँच रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रारम्भिक सदमे के बाद मेरा शेक्सपियर-श्रद्धालु मन किंचित् सतर्क हुआ और उसने वही करने की सलाह दी जिसकी बच्चन को न्यूनतम आशंका थी—पंक्ति-पंक्ति मिलान —विचित्र बातें सामने आईं। होरेशियो हैमलेट के मृत पिता के विषय में कहता है—

So frowned he once, when in an angry parle
He smote the sledded Polacks on the ice.

जिसका अनुवाद बच्चन ने किया है :

इसी तरह से उनके तेवर तने हुए थे
जब जोशीली बातचीत के बीच उन्होंने
अपना घन-सा भारी फरसा बर्फ़ीली
धरती के ऊपर चला दिया था

प्रश्न उठता है 'किसके साथ जोशीली बातचीत में?' और धरती के ऊपर फरसा चलाने से क्या फायदा? मूल में Sledded Polacks को बच्चन न जाने क्यों सम्पादित कर गए।

लेयरटीज़ से राजा कहता है :

'You told us of some suit, what is't Laertes ?'

जिसका अनुवाद

'तुमने किसी काम पर जाने की हमसे कुछ
चर्चा की थी। लायरटीज़, काम वह क्या है?'

किया गया है जबकि 'सूट' का अर्थ राजा के सम्मुख प्रस्तुत की जाने वाली 'प्रार्थना' या 'दरखास्त' से है।

जब होरेशियो तथा मार्सेल्स हैमलेट को उसके पिता की प्रेतात्मा दिखाई देने की घटना बतलाते हैं तो वह कहता है :

Then saw you not his face.

जिस पर होरेशियो उत्तर देता है :

O yes, my lord, he wore his beaver up.

जिसका अनुवाद होना चाहिए था, 'हाँ, श्रीमन्, उनके चेहरे पर से झिलम उठी हुई थी' अर्थात् चेहरा दीख रहा था, किन्तु बच्चन इससे विपरीत 'झिलम पड़ी थी' अनुवाद करते हैं। उधर अगले संवादों में आँखें, चेहरे का रंग, भाव आदि का वर्णन है।

जब हैमलेट होरेशियो से प्रेतात्मा की दाढ़ी के विषय में पूछता है तो होरेशियो उसके लिए 'A sable silvered' का प्रयोग करता है किन्तु 'काव्यात्मकता' लाने के प्रयास में बच्चन उसका अनुवाद 'जैसे काली रात चाँदनी में लगती है' करते हैं जो हास्यास्पद है। स्पष्ट है कि यदि काली रात है तो चाँदनी न होगी, यह तो यही कहना हुआ 'जैसा दिन रात में लगता है'।

प्रेतात्मा से हैमलेट के साक्षात्कार के दरम्यान प्रेतात्मा उससे कहती है 'Revenge his foul and most unnatural murder' जिसका अनुवाद 'छल से उसकी भद्दी हत्या का बदला ले'—शब्दों के गलत क्रम से अनर्थ पैदा करता है। तीसरे अंक में ओफ़ेलिया के साथ बातचीत में हैमलेट कहता है 'We are all arrant knaves' जिसका अनुवाद बच्चन ने 'हम ग़ज़ब के बुद्धू हैं' किया है, होना चाहिए 'हम पहले दरजे के बदमाश हैं।' इसी अंक में आगे हैमलेट ओफ़ेलिया के पैरों के पास लेट जाता है और वह कहती है 'You are merry, my Lord' जिसमें एक हल्की-सी भर्त्सना भी है किन्तु बच्चन उसे एक प्रश्न-रूप में अनूदित कर गए हैं— 'प्रसन्न तो हैं आप, श्रीमन्?' इसी संवाद में हैमलेट कहता है 'What should a man do but be merry, for look you how cheerfully my mother looks, and my father died within's two hours' जिसके अन्तिम अंश का अनुवाद बच्चन ने अपनी शेक्सपियर को सुधारने वाली नेकनीयत से 'और मेरे पिता को मरे दो ही महीने अभी हुए हैं' किया है। वे यह पहचानना भूल गए कि शेक्सपियर यह दिखलाना चाहता था कि हैमलेट के हृदय पर वह हत्या अपनी समस्त भयावहता तथा घृण्यता में इस तरह अंकित है जैसे दो घंटे पहले ही हुई हो।

चौथे अंक के तीसरे दृश्य में एक दिलचस्प वाक़या है। हैमलेट इंग्लैंड की ओर प्रस्थान कर रहा है और उसके समक्ष केवल राजा है। दोनों के बीच संवाद इस तरह हैं—

Hamlet : Farewell, dear mother.
King : Thy loving father, Hamlet.
Hamlet : My mother-father and mother is man and wife, man and wife is one flesh, and so my mother.

इन पंक्तियों में हैमलेट के 'एंटिक डिस्पोज़ीशन' से उपजी शरारत है। हैमलेट झुकता है राजा के सामने किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता है 'अच्छा माँ, विदा'। इस पर राजा कुछ भौचक्का-सा होकर उसे ठीक करता है '(मैं तो) तुम्हारा चाहने वाला पिता (हूँ), हैमलेट'। तब हैमलेट व्याख्या करता है '(आप) मेरी मा (हुए क्योंकि—पिता और मा पति-पत्नी होते हैं, और (चूँकि) पति और पत्नी एक ही शरीर (माने गए हैं), इसलिए (आपको) मा (समझकर विदा लेता हूँ)।' बच्चन इस खिलवाड़ को शायद ठीक-ठीक देख नहीं पाए और उनका अनुवाद इस तरह है—

हैमलेट : विदा माँ !

राजा : तुम पिता के कितने आज्ञाकारी बेटे हो, हैमलेट !

हैमलेट : माता का। पिता और माता नर और नारी हैं न ? और नारी और नर अर्धनारीश्वर हैं—एक शरीर—इसलिए माता का।

कुछ ऐसी ही गड़बड़ चौथे अंक के पाँचवें दृश्य में है। पिता की मृत्यु के बाद ओफेलिया विक्षिप्त हो चुकी है और जब उसका भाई लेयरटीज़ उसे देखता है तो शोकविह्वल हो कहता है—

"O heavens, is't possible a young maid's wits
Should be as mortal as an old man's life ?
Nature is fine in love, and where it is fine,
It sends some precious instance of itself
After the thing it loves."

अन्तिम तीन पंक्तियों का अनुवाद यूँ है—

"प्रेम प्रकृति का वरद हस्त है। जो इसके नीचे रहता है
उसके ऊपर वह बहुमूल्य विभव-वैभव की
वर्षा करता।"

आश्चर्य है कि बच्चन पर यह स्पष्ट नहीं हुआ कि उनकी इन अनूदित पंक्तियों का पूर्वगामी पंक्तियों से दूर का भी संबंध नहीं है। सही अनुवाद इस प्रकार होगा—'माता-पिता के प्रति सन्तान का प्रेम अत्यन्त कोमल होता है और वह अपनी बहुमूल्यतम सम्पत्ति (मानसिक संतुलन) का भी बलिदान अपने दिवंगत माता-पिता के प्रति स्नेह-प्रमाण के रूप में कर देता है।'

कब्रिस्तान दृश्य में लेयरटीज़-हैमलेट विवाद के समय रानी कहती है—'For love of God, forbear him' जिसका अनुवाद 'तुम्हीं करो बर्दाश्त, भला भगवान करेगा' हुआ है जबकि होना चाहिए था 'भगवान के लिए, उससे बचो !' इसी तरह मूल में जहाँ भी 'marry' का प्रयोग हुआ है, अनुवाद में बच्चन ने 'मरियम साखी' प्रयुक्त किया है। यद्यपि यह सच है कि 'marry' की उपज 'By Mary' से ही हुई है, किन्तु उसका अर्थ 'Indeed ! forsooth !' होता है जो एक विस्मयादिबोधक अव्यय है और शपथ से उसका कोई संबंध नहीं है।

अनुवाद की इन तथा इस तरह की असंगतियों को उपेक्षित शायद किया भी जा सकता था, यदि अनुवादक शेक्सपियर की नाटकीयता, भाषा-गरिमा, रवानी तथा प्रभविष्णुता को अक्षुण्ण रखता। वह स्वयं पहचानता है कि शेक्सपियर की ब्लैंक वर्स एक चमत्कार से कम नहीं है। भाषा का जितना चुस्त, सघन और तनावपूर्ण प्रयोग शेक्सपियर में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है, केवल शॉ ही कभी-कभी उसके आसपास पहुँचते प्रतीत होते हैं। गद्य-संवादों को छोड़कर बच्चन ने समूचे अनुवाद में रोला छन्द का प्रयोग किया है और इस दुर्भाग्यपूर्ण प्रयोग से शेक्सपियर की समस्त गरिमा, औदात्य तथा नाटकीयता की हत्या हुई है। नाटक के वे वाक्य, जो उसे न पढ़े हुए लोगों को भी अपनी अर्थवत्ता की वजह से कण्ठस्थ हैं, रोले के रोलर के नीचे आकर एकदम सपाट हो गए हैं। मार्सेलस का वाक्य 'Something is rotten in the state of Denmark' बच्चन के यहाँ 'निश्चय ही डेनमार्क राज्य में कुछ गड़बड़ है' बनकर अपना सारा हॉरर तथा पूर्वाभास खो बैठा है। 'There are more things in heaven and earth, Horatio than are dreamt of in your philosophy'—'ओ होरेशियो, सुनो हमारे दर्शन की कल्पना जहाँ तक पहुँच सकी है, धरा-गगन में उससे आगे बहुत पड़ा' में अनूदित होता है। शोचनीय छन्द के प्रयोग से कई स्थलों पर बच्चन को वाक्यों के अन्त में 'है' से हाथ धोने पड़े और वे वाक्य जब पढ़ने में इतने विचित्र लगते हैं तब मंच की कल्पना तो त्रासद हो उठती है। प्रेतात्मा का हृदय-विदारक आर्त्तनाद 'O, horrible ! O, horrible ! most horrible !' 'बड़ी वेदना, बड़ा शोक है, महा शोक है' में परिणत हो उच्छ्वासपूर्ण उत्तरछायावादी भावुकता की गति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्राप्त होता है तथा अमर्ष एवं घृणा से संपृक्त 'O villain, villain, smiling, dam'ned villain' 'ओ खल 'खलखल' हँसनेवाले हत्यारे खल' की शब्दक्रीड़ा में पतित हो जाता है।

अनुवाद में नाटकीय दृश्यों को फूहड़ कैसे बनाया जा सकता है, बच्चन का यह अनुवाद इसकी पाठ्य-पुस्तक बन सकता है। फ्रांस से लौटकर आया लेयरटीज़ अपने पिता की हत्या के प्रतिकार का संकल्प ले क़रीब-क़रीब एक विद्रोह का नेतृत्व करता हुआ किले में दाखिल होता है। उसके और राजा के संवाद यूं हैं—

Laertes...Where is my father ?
King... Dead.
Queen... But not by him.

जिनका अनुवाद बच्चन के छन्द में :

लायरटीज़...पिता कहाँ ?
राजा... मर गए।
रानी... नहीं राजा ने मारा।

हुआ है जिसमें नाटकीयता तो दम तोड़ ही चुकी है, बोनस की तौर पर बेयॉस भी है।

हैमलेट की मृत्यु पर होरेशियो के यह दो वाक्य असीम प्रेम तथा करुणा में डूबे हुए हैं :

"Now cracks a noble heart. Good night,
Sweet prince
And flights of angels sing thee to thy rest."

जिनका अनुवाद आकाशवाणी शैली में इस तरह किया गया है :

"एक महान पुरुष इस दुनिया से जाता है।
प्यारे राजकुमार, उदार, विदा देता हूँ
स्वर्गदूत लोरी गाएँ, तू सुख से सोए।"

विस्तार-भय से अन्य उदाहरण देना सम्भव नहीं है, किन्तु 'हैमलेट' में कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं हैमलेट की सोलिलोकीज़, उसके लम्बे स्वगत-कथन जिसमें उसके हृदय की कशमकश तथा उसके जीवन की त्रासदी उद्घाटित हुई है और एक सजग अनुवादक से यह आशा की जाती थी कि वह उनके पर्याप्त प्रभावशाली अनुवाद देगा, किन्तु बच्चन के अनुवाद इस तरह हैं :

"To be, or not to be, that is the question
Whether 'tis nobler in the mind to suffer
The slings and arrows of outrageous fortune,
Or to take arms against a sea of troubles,
And by opposing, end them. To die, to sleep—
No more, and by a sleep to say we end
The heart-ache, and the thousand natural shocks
The flesh is heir to; 'tis a consummation
Devoutly to be wished to die to sleep !"

"अब जीना है या मरना है, तय करना है !
शाबासी किसमें है, क़िस्मत के तीरों के
आघातों को भीतर-भीतर सहते जाना,
या संकट के तूफ़ानों से लोहा लेना
औ' विरोध करके समाप्त उनको कर देना,
औ' समाप्त खुद भी हो जाना ?—
मर जाना,— सो जाना,—औ' फिर कभी न जगना !
औ' सोकर मानो यह कहना, सब सिर-दर्दों,
और सैकड़ों मुसीबतों से, जो मानव के
सिर पर टूटा करतीं, हमने छुट्टी पा ली"

"O all you host of heaven ! O earth ! what else ?
And shall I couple hell ? O fie ! Hold, hold, my heart,
And you, my sinews, grow not instant cold,
But bear me stiffly up...Remember thee ?
Ay thou poor ghost whiles memory holds a seat
In this distracted globe."

"ओ, तुम सातों स्वर्ग ! ओ, धरा !—और किसे मैं
साथ पुकारूँ ? अन्ध नरक को ? छी-छी ! छी-छी !
मेरी छाती पत्थर कर दो; देह शिराओ,
क्षण-भर को भी ढीली मत हो, तनी रहो तुम,
तना मुझे भी रक्खो !—कैसे तुझे भुला दूँ ?
ओ दुखियारी रूह, याद जब तक न छोड़कर
जाती इस बिगड़े दिमाग को, कैसे भूल
तुझे सकता हूँ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने काव्य-नाटकों के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए इलियट ने कहीं कहा है कि काव्य-नाटक में सबसे बड़ा खतरा यह है कि हम कहीं 'नाटक' का आनन्द उठाने की बजाय उनकी 'कविता' का रस न लेने लगें। काव्य-नाटकों की 'कविता' उनके 'नाटक' की सेविका होनी चाहिए। शेक्सपियर की कविता इसीलिए सफल है कि वह नाटक को और नाटकीयता और तनाव प्रदान करती है, उनके आड़े नहीं आती। जहाँ से बच्चन के छन्द का प्रयोग प्रारम्भ होता है, वहीं से नाटक का अधःपतन भी शुरू होता है। यदि कभी इस अनुवाद का मंचन हुआ तब बच्चन को भलीभाँति ज्ञात हो जाएगा कि उनकी कविता ही नाटक की असफलता में सर्वाधिक योगदान देगी।

नाटक के तकनीकी पक्ष की ओर भी दृष्टिपात किया जा सकता है। पहले ही संकेत दिया जा चुका है कि बाज़ार में 'हैमलेट' के अच्छे विदेशी संस्करण दुर्लभ नहीं हैं और यदि अनुवाद मंचन की दृष्टि से किया जा रहा था तो अच्छा होता कि मंच-निर्देश आदि का पूरा खयाल रखा जाता। दुर्भाग्यवश कई स्थलों पर मंच-निर्देश नहीं दिए गए हैं और यदि कोई अच्छा मूल संस्करण न देखा जाय तो सामान्य पाठक के मस्तिष्क में भ्रान्तियाँ पैदा हो सकती हैं। यहाँ कोई भी उदाहरण देना सम्भव नहीं है क्योंकि मंच-निर्देशों की अपनी पेचीदगियाँ होती हैं और उनकी तर्क-संगति सिद्ध करने हेतु लम्बे विवरण की आवश्यकता होगी।

कुल मिलाकर बच्चन का अनुवादक-रूप अत्यन्त निराशाजनक है, और यदि कोई अन्य नाटककार होता, या शेक्सपियर का ही कोई दूसरा नाटक होता तो ऐसे प्रदर्शन को उपेक्षित भी किया जा सकता था, किन्तु इस अनुवाद के जरिए विश्व-साहित्य की एक अत्यन्त शक्तिवान रचना से उसका सारा आवेग खींच लिया गया है और उसे एक पालतू तथा शाकाहारी क़िस्म का 'डिरामा' बना दिया गया है। हैमलेट सरीखे नाटक का अनुवाद करने के लिए बौद्धिक तथा कलात्मक संवेदना तथा जीवन-दर्शन की दरकार है वह शायद बच्चन में नहीं है—उनमें हैमलेट की रूमानियत हो सकती है किन्तु हैमलेट का 'सेन्स ऑफ़ हॉरर' तो निस्संदेह नहीं है। फलस्वरूप बच्चन का हैमलेट अनुवाद के लिए अनुवाद होकर रह गया है। शेक्सपियर की त्रासदियों के बुरे अभिनयों को देखकर मुझे ऐसा लगता रहा है कि अन्तिम दृश्य में जो मृत शरीर मंच पर होता है, वह नायक का नहीं, शेक्सपियर का होता है। बच्चन के इस अनुवाद को खत्म करते हुए वह विचित्र-सी बात फिर दिमाग में लगातार आ रही है।

●

उत्कर्ष और पराजय के बीच

विष्णु खरे

हिन्दी कहानी के पाठक अब कहानी की घटनाहीनता तथा स्थितिग्रस्तता के एकदम आदी हो गए हैं; इसीलिए यद्यपि 'स्थितियों' के तक़ाज़े ने हिन्दी कहानी को पिता-पुत्र संघर्ष से लेकर पशु-मैथुन तक की दिलचस्प और रोमांचक विविधता प्रदान की, सामान्य पाठक अब नित नये चमत्कार की एकरसता से कुछ परेशान हो उठे तो आश्चर्य नहीं, भारतीय संदर्भ में कहानीकार को स्थितियों के लिए मोटे तौर पर तीन स्रोत प्राप्त हैं—परिवार, दफ्तर और लड़की। इन तीनों को अलग-अलग या साथ लेकर 'मैं', 'वह' और कभी-कभी तुम का आश्रय लेकर स्थितियों को किसी इस तरह उजागर करने का यत्न किया जाता है कि वे सारगर्भित ढंग से मानव-व्यापारों पर कुछ नया कहें। भारतीय समाज में चूँकि स्थितियों के थीमेटिक वैविध्य की गुंजाइश बहुत कम है—घूम-फिरकर बात एकाध दर्जन थीम्स पर आकर टिक जाती है—इसलिए कहानीकार को अपना शिल्प विशेष रूप से परिमार्जित करना पड़ा है ताकि मिलती-जुलती स्थितियों के परिचित निष्कर्षों पर लिखी गई कहानियाँ कुछ न सही तो शिल्प के स्तर पर ही उसे एक विशिष्ट व्यक्तित्व में, इसलिए कम-से-कम हिन्दी कहानियाँ पढ़ते समय यह बात मुझे सही लगी कि एक स्थिति ऐसी आ गई है जब कहानीकार चाहता है कि पाठक केवल उसकी शैली का ही आनन्द उठाएँ—कथ्य तो पहचाना होता ही है। इसी में कहीं अधिकांश हिन्दी कहानियों का आत्मकथात्मक होने का कारण छिपा हुआ है।

किस्सागोई तथा 'कलात्मक' कहानी के बीच भेद-दृष्टि की जड़ें भी शायद इसी भूमि में हैं। यह भी मान लिया गया कि किस्सागोई-वाली कहानियों से यदि कोई थीम या सत्य

१. संवाद : श्रीकान्त वर्मा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, मूल्य चार रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभारता है तो वह अकलात्मक है, किन्तु यदि 'कलात्मक' कहानियों से यदि कोई ऐसी चीज़ उभरती भी नहीं है तो उनका यही गुण उनके 'साहित्यिक' होने का सच्चा लक्षण है। 'कलात्मक' कहानी में अपने बिखराव के लिए 'तनाव', 'डर', 'टूटन' 'निर्वासन' आदि का कभी सच्चा और कभी झूठा आश्रय लेना पड़ा और धीरे-धीरे अपनी-अपनी सचाई में एकदम सही ये शब्द रूढ़ि बनने लगे। सॉफ़ोक्लीज़, शेक्सपियर, दास्तोएव्स्की ने ग़लती से उन सदियों में जन्म लिया था जिनमें डस्ट जैकेट का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए वे कभी अपनी थीम्स को नहीं जान सके और अपनी अनभिज्ञता में डूबे हुए लिखते रहे। आज का साहित्यकार ऐसा कोई जोखिम नहीं उठाना चाहता, ब्लर्ब से लेकर विज्ञापन तक वही लिखता है ताकि उसका महत्त्व कहीं ग़लत न समझ लिया जाए। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि प्रत्येक कहानीकार अपनी कहानी की थीम को पहले ही सोच लेता है—यह शायद ग़लत भी नहीं है—मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपने कच्चे माल के महत्त्वपूर्ण होने की संभावना के प्रति वह इतना जागरूक रहता है कि उसकी यह जागरूकता भले ही उसे एक कलात्मकता देती हो, एक सीमा के बाद वह उसे इतना अधिक सुनियोजित, सुचिन्तित बना देती है कि स्थितियों की असलियत पर सन्देह होने लगता है। वह इन स्थितियों में इतना डूबकर लिखता है कि लगता है लिखते हुए ही वह इनके महत्त्वपूर्ण होने का सुख भोग रहा है।

जब यह होने लगता है, और हिन्दी कहानी में इधर यह बहुत चल गया है, तो एक चिन्ताजनक निष्कर्ष यह भी प्राप्त होता है कि तथाकथित ईमानदारी, अकेलेपन, अजनबीपन, घुटन और टूटन के बाद कहानियों का 'मैं' या 'वह' या कोई और एक उद्धारातीत पीड़ावादी एस्थीट है जो स्थितियों के स्थितियाँ होने का मज़ा ले रहा है और उनकी नुमाइश कर रहा है। इन कहानियों में कहीं भी बहुत बड़ी घृणा, बहुत बड़ा व्यंग्य, बहुत बड़ा पाप, बहुत गहरा अकेलापन, बहुत दूरगामी शत्रुता, बहुत अविचल पूर्वग्रह नहीं पाए जाते, इन सबका आभास देता हुआ, अथवा इनकी अनुपस्थिति या एक रूमानी धुँधलका ज़रूर होता और एक अनिर्वचनीय दर्द इस तरह की कहानी के बाद उभरता है। शायद ऐसी ही परिस्थिति की वजह से हिन्दी कहानी का स्वभाव 'टफ़' नहीं हो पाया है और उसके पास हेमिंग्वे का कोई नक्काल तक नहीं है।

आज की हिन्दी कहानी को पढ़कर स्थितियों की निरर्थक मामूलियत तथा आदमी की मेरुदंडहीनता का आत्मदयाभरा चित्र ही सामने आता है। मैं साहित्य से किसी भी 'कार्यक्रम' या 'उम्मीद' की माँग नहीं करता, किन्तु श्रीकान्त वर्मा की पहली कहानी का आधार कोई ऐसी अनाम वस्तु है जिसे 'प्रसाद' चाहता है, 'वह' उसे नहीं चाहता। प्रसाद 'उस' का मित्र था, अब अफ़सर है। 'उस' के विरुद्ध दफ़्तर के दूसरे लोग प्रसाद को यह कहकर भड़का रहे हैं कि 'वह' भी उसकी आकांक्षा रखता है। 'वह' प्रसाद को एक होटल में खाने पर निमंत्रित करता है, बातचीत होती है, दोनों ओर से कुछ सफ़ाई पेश की जाती है, दोनों अपनी-अपनी स्थिति से कुछ नीचे आते हैं किन्तु दूसरे दिन दफ्तर में प्रसाद के कमरे में दाखिल होने पर 'उसे' यह लगता है कि प्रसाद उसे अपने सरीखा और अपना आदमी समझ रहा है और 'वह' निश्चय करता है कि इसके बाद प्रसाद के कमरे में अकेला नहीं जाएगा।

वह क्या वस्तु है जिसे एक अफ़सर चाहता है किन्तु अपने मातहत को प्रतियोगी समझ रहा है? यदि 'वह' प्रतियोगी नहीं है तो प्रसाद के बहकाए जाने से इतना चिन्तित क्यों है? क्या इसीलिए कि कॉन्फ़िडेन्शियल रिपोर्ट में खराब रिमार्क आ जाएँगे? और यदि 'वह' प्रसाद का इस दरजे का मातहत है तो प्रसाद को यदि संदेह भी हो, चिन्ता क्यों होनी चाहिए? पूरी कहानी में 'उस' की हरकतें किसी व्यक्ति द्वारा भविष्य में होने वाले काल्पनिक अपराध के लिए अंदेशे की ज़मानत लेने की तरह हैं। मैं यह मानता हूँ कि आमने-सामने बात करना अच्छा होता है, किन्तु अपने बेदाग़ होने के विषय में 'उस' ने प्रसाद से होटल में इतना पैसा तथा ज़मीर खर्च करके कहा, वह शायद एक पढ़ा-लिखा आदमी एक सतर्कतापूर्ण पत्र में ज्यादा फलदायी ढंग से कह सकता था—आखिर दोनों एक-दूसरे को पहले से जानते थे और व्यक्तिगत पत्र तो अफ़सर को भी लिखा जा सकता है। हो सकता है कि मेरे ये सारे प्रश्न 'नाइव' प्रतीत हों किन्तु सही कहानी मैं उसी को मान सकता हूँ जिसके प्रत्येक विकास-चरण की अनिवार्यता में मेरा विश्वास हो। 'संवाद' जितना समाधान नहीं देती उतनी शंकाएँ उठाती है। यह ऐसी कहानी है जिसे एक विश्वसनीय आधार की ज़रूरत है। असामान्य स्थितियों की असामान्यता तभी स्वीकार की जा सकती है जबकि उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य हल समाप्त हो गए हों। यदि ऐसा न हुआ हो, उनकी अभिव्यक्ति में थोड़ा मेलोड्रामा देखा जा सकता है।

'क़ैद', 'लड़की', 'खेल का मैदान' तथा 'बॉस' में भी स्थितियों तथा उनके कलागत एक्सप्लॉइटेशन के बीच यही अन्तर मौजूद है। इसमें सर्वाधिक शैलीग्रस्त कहानी शायद 'क़ैद' है जिसमें एक पार्क में एक व्यक्ति की मखौल-सी उड़ाती उपस्थिति 'मैं' को (इसी क्रम में) खिझाती है, आत्मदया में डुबोती है और उसी व्यक्ति के प्रति करुण बनाती है। इस कहानी का उस रहस्य-पुरुष के विषय में यह वक्तव्य "यह आदमी बड़ा घाघ है। यह इसी तरह लोगों को देखता है, झेंपता है, तौलता है और खुद कठघरे से बाहर खड़ा हुआ, सबकी व्यर्थता पर मुस्कराता है" शायद उसे श्रीकान्त वर्मा की कविताओं के 'दूसरे' व्यक्ति के समीप लाए, किन्तु इस कहानी में यह उपस्थिति इतनी ठोस तथा वास्तविक है कि इसे मोटे तौर पर भी कोई 'प्रतीक' अथवा 'मैं' का ही विस्तार मानना मुश्किल है। कुल मिलाकर यह रचना न तो कहानीहीनता की अतर्क्यता में फ़िट बैठती है और न कहानीपन की शर्तें निबाहती है।

'खेल का मैदान' एक 'लड़के' और 'लड़की' की कहानी है जो घास के मैदान में एक शाम या रात का प्रारम्भिक भाग गुजारते हैं—लम्बी प्रणयकेलि के बाद कहानी का चरण विन्दु सहसा उपस्थित होता है: "लड़के ने अनुभव किया कि उसके मुँह से प्याज की गंध आ रही है। लड़की के मुँह से निकलकर बदबू जैसे उसके मुँह में समा गई, उसने अपनी गरदन घुमाई और मुँह दूसरी ओर कर लिया···अंधेरे में घूरते हुए उसे लगा कि वह लड़की के शरीर से छिपकली की तरह चिपका हुआ है और लड़की है भी दीवार की तरह चिकनी और ठंडी।" यह अनुभव उसे एकदम विरक्त करता है और वह उठ जाता है किन्तु कुछ दूर जाकर 'एक भय' उसमें समाने लगता है और यह निश्चय कर कि इस बार उस पर चुम्बनों की बौछार कर देगा वह वापस आता है। किन्तु 'लड़की' अब वहाँ नहीं है। यह किसी भी तरह बहुत बड़े मोह भंग की कहानी नहीं है और इस एकाएक विरक्ति के लिए कोई भी औचित्यपूर्ण पार्श्वभूमि खड़ी नहीं की गई है। कहानी का प्रारम्भिक तीन चौथाई हिस्सा एक पहचानी स्थिति को पहचानी भाषा में व्यक्त करता है और जिस तरह का मोड़ उसे कहानीकार ने दिया है वह किसी भी त्रासद या व्यंग्यपूर्ण अर्थ को जन्म नहीं देता, उसमें पुनः केवल एक मेलोड्रामा के आसार नज़र आते हैं। श्रीकान्त वर्मा की इस तरह की कहानियाँ किसी एक स्टेज पर पहुँचकर प्रच्छन्न आश्चर्य की तरकीब का प्रयोग भी कर लेती हैं किन्तु इससे ओ हेनरी सरीखे बदनाम परिणाम भी नहीं निकलते।

स्पष्ट है कि श्रीकान्त वर्मा की इस तरह की कहानियाँ सफल नहीं हो सकी हैं। मैं यह नहीं कहता कि जिस तरह की कहानियाँ वे इन स्थितियों के जरिए लिखना चाहते थे वह लिखी ही नहीं जा सकती थीं। मुझे लगता है कि ऐसी कहानियों में श्रीकान्त अपनी सामग्री तथा अपने कलागत इरादों के बीच सही सन्तुलन तथा तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाए जिससे हुआ यह कि कई बार उन्हें अपने इरादों पर ज्यादा वज़न डालना पड़ा और कभी अपनी सामग्री पर। उनके पास शैली भी है और शब्द भी हैं (यद्यपि शैली भी निर्लिप्तता के बावजूद कहीं-कहीं वे असंयमित हो जाते हैं) किन्तु केवल शैली और शब्दों का 'आनन्द' गलत क़िस्म की कहानियों में ही उठाया जा सकता है और मुझे पूरा विश्वास है कि वे उस तरह की कहानियाँ लिखने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। शब्दातिरेक की वजह से 'बॉस' बहुत कर्णकटु हो गई है, और 'संकर' अत्यन्त नीरस—जो इस संग्रह की एकमात्र अपठनीय कहानी है।

खुशी इस बात की है कि आजकल जबकि अधिकांश चालू कहानीकारों से एक भी अच्छी कहानी हासिल करना मुश्किल होता जा रहा है, श्रीकान्त वर्मा के इस संग्रह में कम-से-कम चार कहानियाँ ऐसी हैं जिन्हें पढ़ा जा सकता है, जो दूसरी कहानियों से निर्मित उनकी भ्रामक इमेज को निर्बल करती हैं और जो, इससे भी आगे, वास्तव में मानवीय स्थिति में एक अन्तर्दृष्टि देती हैं। 'घर', 'मिचली', 'अरथी', तथा 'रिपोर्ट' से यह स्पष्ट है कि सही सामग्री पर अपनी शैली की चुस्ती तथा संवादों के स्वाभाविक पैनेपन का इस्तेमाल करके श्रीकान्त औसत हिन्दुस्तानी आदमी की नैतिक कमज़ोरी, संवेदनशील व्यक्ति की त्रासदी, तथा सीधे यथार्थ को किस खूबी से चित्रित कर सकते हैं। 'घर' को कहानी के अलावा एक यथार्थवादी लिरिक तक कहा जा सकता है। 'घर' वहाँ होता है जहाँ एक स्त्री और पुरुष होते हों तथा दोनों तरह की भूख शान्त होती हो। उसे 'घर' कहकर कहानीकार जहाँ 'घर' के हमारे मानसिक चित्र पर व्यंग्य कर रहा है, वहाँ सम्बन्धों के उस बेलौसपन पर भी ध्यान केन्द्रित कर रहा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे बचते हुए हम तमाम संभ्रान्त लोग अपने-अपने घरों में परस्पर धोखादेही की छत के नीचे सुरक्षित हैं। 'मिचली' को मैं इसलिए एक महत्त्वपूर्ण कहानी मानता हूँ कि यह हम सब भारतीयों की कहानी है जो बिस्तरों, दफ्तरों या बसों में सब-कुछ बदल देने का संकल्प करते हैं किन्तु मुकाबले के क्षण में अपने सारे गुस्से को उसी तरह सौंपकर चले आते हैं जिस तरह 'वह' "देखिए, मेरी वजह से आपको कोई असुविधा तो नहीं होती?" कहकर चला आता है, यद्यपि 'उस' का जी फिर भी मिचला रहा होता है, इसबार शायद खुद पर ज्यादा। 'अरथी' में हॉरर तथा हास्यास्पदता, आदमी के मौलिक कमीनेपन तथा झूठ के बूमरैंगनुमा लौटने का खासा चित्रण है। भारतीय स्थितियों पर हल्के-फुल्के ढंग से लिखने के लिए रूथ प्रवेर झाबवाला पश्चिम में काफ़ी प्रसिद्धि अर्जित कर रही हैं, किन्तु उनमें किस चीज़ की कमी है यह श्रीकान्त वर्मा की इन कहानियों को पढ़कर ही जाना जा सकता है।

'रिपोर्ट' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी कही जा सकती है और हिन्दी कहानियों में उल्लेख्य भी। शहर में पुलिस एक भीड़ पर गोली चलाती है। अशोक, जो एक रिपोर्टर है और घटनास्थल पर ही था, मानता है कि पुलिस को वास्तव में मजबूर होकर गोली चलानी पड़ी थी—वाक़ई भीड़ ने आगज़नी और लूटमार शुरू कर दी थी। लेकिन वह कौन-सी चीज़ है जो इन तथ्यों को झूठा सिद्ध करती है—वह अपने अखबार के लिए चश्मदीद रिपोर्ट क्यों नहीं लिख पाता है?

"प्रकाश ने एक बार फिर अपने को बटोरकर उसका नाम पूछा। उसने पाया कि वह जवाब देने की कोशिश कर रहा है, मगर उसके मुँह से बोल नहीं फूट रहे हैं। उसका बायाँ हाथ उसके पेट पर है, जहाँ से खून बह रहा है और दायाँ हाथ छलनी होकर झूल गया है। उसने अपनी आँखें मूँद ली थीं।"

अबकी बार प्रकाश ने उससे पूछा, "आपको कुछ चाहिए?" प्रकाश ने देखा कि उसने अपनी आँखें खोल ली थीं और उसेदेख रहा था। फिर उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

प्रकाश के पैर काँप रहे थे। उसने अपनी पैंसिल जेब में रख ली थी। उसका जी घबराने लगा था। फिर उसने देखा कि वह आदमी अपनी इच्छा शक्ति इकट्ठी कर उसकी ओर देखता हुआ कुछ बुदबुदाने लगा था। वह एक ही शब्द कह पा रहा था, "बब्बू"।

"आपका नाम बब्बू है?" प्रकाश ने बेवकूफ़ की तरह सवाल किया। उसे लगा उसके सवाल पर, वह आदमी जो मर रहा था, मुस्करा रहा है।

"बब्बू!" उसने फिर कहा। इस बार उसने अपना हाथ अपने पेट पर से हटा एक अँगुली से इशारा करने की कोशिश की। उसकी आँखों से आँसू लगातार बहने लगे थे।"

प्रकाश अपने डेस्क पर पहुँचकर बार-बार गोली बार की रिपोर्ट लिखने की कोशिश करता है किन्तु अपने लिखे हुए को फाड़कर निकल जाता है। वह समझ नहीं पाता कि तमाम तथ्यों के बावजूद उसकी रिपोर्ट में ऐसा क्या नहीं है जिससे वह अवास्तविक लग रही है।

श्रीकान्त की इस कहानी में मरते हुए व्यक्ति की विसंगत त्रासदी तो है ही, ऐसी समस्त त्रासदियों के गवाह कई प्रकाशों की वह मूक पराजय भी है जिनकी रिपोर्ट तमाम ब्यौरे के बावजूद भी अधूरी लगती है। मुझे लगता है कि इस कहानी में रचना की एक मौलिक समस्या भी उठायी गई है। लेखक, कवि और विचारक से अक्सर कहा जाता है कि वह 'देश की' अथवा 'वर्तमान' स्थिति पर कुछ लिखे। यदि वह इसे स्वीकार भी करता है तो यही पाता है कि सब-कुछ लिख जाने, कह जाने के बाद भी कुछ छूट गया है। इसलिए फिर वह यह काम समाचार सेवाओं पर ही छोड़ देता है। इस कहानी का यह इन्टरप्रिटेशन इसे कई स्तरों पर रोमांचकारी बनाता है।

इन कहानियों में श्रीकान्त वर्मा अपनी सारी शक्ति के साथ उपस्थित हैं क्योंकि इनका संसार उनका ओढ़ा हुआ संसार नहीं है। यह स्थितियाँ उन्होंने अन्तरंगता से पहचानी हैं और उनकी प्रतिभा अपने सुखद वैविध्य में इनमें अभिव्यक्ति पा सकी है। संग्रह की अन्य कहानियों में 'इन्टैलैक्ट' की सायास उपस्थिति उन्हें कहानियाँ बनने से रोकती है। फिलहाल यही कहा जा सकता है कि संग्रह की इन्हीं चार कहानियों से यह आश्वासन प्राप्त होता है कि श्रीकान्त वर्मा की ख्याति संदिग्ध नहीं है। सही कलाकार अपने उत्थान और पतन से बख़ूबी परिचित होता है और यह तो कोई कह नहीं सकता कि श्रीकान्त वर्मा 'क' तरह की कहानियाँ लिखें और 'ख' तरह की नहीं। हाँ, इतना संकेत अवश्य किया जा सकता है कि वे अपनी प्रतिभा की सही अभिव्यक्ति को पहचानें तथा उसके एवं अपने पाठकों के साथ इतने ख़तरनाक अनुपात में अन्याय न करें। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

●

हिन्दी के पाठकों के लाभ के लिए 'राजकमल प्रकाशन' अपने त्रैमासिक पत्र 'आलोचना' से संपृक्त एक नयी योजना का तुरन्त शुभारम्भ कर रहा है।

यह योजना है—'आलोचना पुस्तक-परिवार'।

पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ इस योजना के उद्देश्य और सदस्य बनने के नियम आदि प्रकाशित कर रहे हैं। —सं०

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग व्यक्तिगत खरीदार (इंडिविजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक-परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर पुस्तकालयों को प्राप्य होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक-परिवार

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन भी मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जाएगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रतिमास या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी ख़ास रक़म की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें ख़रीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

—यहाँ से काटिये—

सदस्यता फार्म

मैं आलोचना पुस्तक-परिवार का/की सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। फार्म तथा सिक्योरिटी डिपॉज़िट रूप में ३.०० रुपये की राशि भेजी जा रही है। मैं अपने प्रथम आर्डर की अग्रिम राशि के साथ ३.०० रुपये की यह राशि भेज दूंगा/दूंगी। मेरा नाम व पता सदस्य-योजना में अंकित कर लें तथा मेरी सदस्य संख्या सूचित करें।

मैं आश्वासन देता/देती हूँ कि वी० पी० पी० से पुस्तकें मँगाने पर वी० पी० पी० निश्चित रूप से छुड़ा ली जायेगी।

दिनांक..................

हस्ताक्षर......................

पूरा पता......................

....

पोस्ट.........................

(अनावश्यक अंश को काट दें।) निकटतम रेलवे स्टेशन..........................

—यहाँ से काटिये—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

आगामी अंक में

- 'कविता में विचारशीलता का ह्रास' पर अशोक वाजपेयी का निबन्ध तथा उस पर 'संवाद' जिसमें श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, मलयज, कमलेश, प्रयाग शुक्ल, राजीव सक्सेना तथा कुछ अन्य कवि भाग ले रहे हैं।

- **निबंध** : 'बिंब-प्रक्रिया'—रामस्वरूप चतुर्वेदी

  'भाषा और सर्जनात्मकता'—रमेशचन्द्र शाह

  'परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति'—यशदेव शल्य

  'एबसर्डिटी : संप्रत्ययात्मक विश्लेषण'—देवकीनन्दन द्विवेदी

- मेंडेल्स्टाम की कविताओं का कमलेश-कृत अनुवाद।

- **पुस्तक समीक्षा** : तीन अपाहिज (विपिनकुमार अग्रवाल), दो अकालगढ़ (बलवंत सिंह), हिन्दी उपन्यास कोश (गोपाल राय), आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण (रमेश कुंतल मेघ) तथा अन्य पुस्तकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R. N. 724...

हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक
आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी

की

लोकप्रिय पुस्तकें अब
नयी सज्जा में उपलब्ध

बाणभट्ट की आत्मकथा

• हिन्दी-साहित्य की भूमिका

हिन्दी साहित्य का परिचय कराने वाली बेजोड़ पुस्तक। संस्कृत, पाली, अपभ्रंश और प्राकृत के साहित्य की चर्चा से परिपुष्ट। वैदिक, जैन, बौद्ध-साहित्यों के परिचय से संयुक्त।

• कल्पलता

द्विवेदीजी के ये निबन्ध शुष्क नहीं हैं। कल्पलता के निबन्ध विद्वानों और सामान्य पाठकों, दोनों को ही रुचिकर प्रतीत हुए हैं। नया संस्करण।

• बाणभट्ट की आत्मकथा

'आत्मकथा' शैली में लिखा गया द्विवेदी जी का यह उपन्यास हिन्दी-साहित्य को एक अविस्मरणीय देन है। श्री हर्षदेव और बाणभट्ट के ग्रन्थ इस कथा के प्रधान उपजीव्य हैं। फिर भी शैली और चिन्तन की मौलिकता ने इस 'कथा' को बेजोड़ बना दिया है।

• कालिदास की लालित्य योजना

कालिदास की लालित्य-योजना में उस महाकवि के सभी ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर आचार्यवर ने कालिदास की साहित्य-गरिमा को उजागर किया है। कालिदास के कृतित्व पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक।

आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का
सम्पूर्ण साहित्य हम से मंगाइये।

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती [illegible] लि०,
८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

त्रैमासिक

११

सम्पादक : नामवर सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

संपादकीय १

अब वक्त आ गया है
अशोक वाजपेयी ७

संवाद
विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा

'सम्पूर्ण साहित्य' के भाव का विकास
रामस्वरूप चतुर्वेदी ९

शिक्षण के उद्देश्य में परिवर्तन
देवेन्द्रनाथ शर्मा १३

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता
विश्वनाथ त्रिपाठी १७

कविता के अध्यापन की रूढ़ियाँ
परमानन्द श्रीवास्तव २१

परिप्रेक्ष्य का विस्तार
रमेशकुंतल मेघ २५

पिता के लिए एक कविता
मंगलेश डबराल ४३

गुरुनानक देव
हजारीप्रसाद द्विवेदी ४५

गुरुनानक देव : एक समसामयिक मूल्यांकन
अतर सिंह ५५

बाजार में
रमेशचन्द्र शाह ५८

मुद्राओं की भाषा तथा विद्रोह की व्यावसायिकता
विजयमोहन सिंह ५९

मार्क्सवाद और समकालीन बूर्ज्वा विचारधाराएँ (१)
सुरेन्द्र चौधरी ६३

साहित्यिक द्वन्द्व : गुप्त-द्विवेदी संघर्ष के संदर्भ में
विष्णुकान्त शास्त्री ७२

श्वेतवाद के अँधेरे में नीग्रो चेतना
जॉन एल० कूपर ८०

पोलिश कवि दिवग्निएव की पाँच कविताएँ
अनुवाद : गिरिधर राठी ८७

• मूल्यांकन : विष्णु खरे

ख़त्म नहीं होती हरी दूब ८९

चुसे हुए शब्दों का एक विराट् मलबा ९२

शेक्सपियर बरक्स बच्चन ९५

उत्कर्ष और पराजय के बीच ९९

वर्ष १८ : नवांक ११, (पूर्णांक ४८) अक्तूबर-दिसम्बर १९६९, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी• ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/ ५०५ दिनांक ६-६-६९ के अनुसार ... के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
CHECKED 1973
Initial

आलोचना

अक्तूबर-दिसम्बर '६९

संपादकीय

यदि विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली साहित्य-शिक्षा से सचमुच असंतोष है और उसे बदलना है तो आज की समाज-व्यवस्था में विश्वविद्यालयों की वास्तविक भूमिका को ध्यान में रखना ज़रूरी है, क्योंकि साहित्य-शिक्षा की समस्याएँ शुद्ध शैक्षणिक या साहित्यिक नहीं हैं। आज़ादी के बाद भारत के नये शासक-वर्ग ने परम्परागत विश्वविद्यालयों का विकास तथा नये विश्वविद्यालयों का निर्माण शुद्ध विद्यानुराग के कारण नहीं, बल्कि अपने वर्गीय हितों की रक्षा और विस्तार के लिए किया है। आकस्मिक नहीं कि भारत जैसे पिछड़े देश में साक्षरता से ज्यादा ध्यान ऊँची शिक्षा पर दिया गया। निश्चय ही साक्षरों की संख्या में वृद्धि शासक-वर्ग के लिए खतरा है जबकि विशेषज्ञों की सेना उसके लिए सहायक साबित हो सकती है। राज्यों में नये-नये विश्वविद्यालय खोलने के लिए क्षेत्रों का जिस प्रकार चुनाव किया गया उससे शासकों की नीयत के बारे में किसी भ्रम की गुंजाइश नहीं रह जाती। निस्सन्देह समय-समय पर विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता का नारा भी लगाया गया लेकिन 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के हाथों अर्थतंत्र की बाग-डोर देकर। यहाँ तक कि उपकुलपतियों की नियुक्ति भी सरकार ने अपने हाथ में ले ली। पुलिस ने जब-तब विश्वविद्यालयों में घुसकर साबित कर दिया कि ये विद्या के पवित्र मन्दिर (या मस्जिद, गुरुद्वारा और गिरजा) ही नहीं, बल्कि एक सामान्य सामाजिक संस्थान हैं।

इस नये शासक-वर्ग के हाथों विश्वविद्यालय के ढाँचे में कितना बुनियादी परिवर्तन हुआ, इसे समझने के लिए शान्तिनिकेतन और काशी विद्यापीठ के उदाहरण काफी हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आश्रम शान्तिनिकेतन का विश्वभारती विश्वविद्यालय में रूपान्तरण और शिवप्रसाद गुप्त के काशी विद्यापीठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विश्वविद्यालय के रूप में उन्नयन वर्तमान शासक-वर्ग के चरित्र और शक्ति में परिवर्तन के ज्वलन्त रूप हैं। इन दो शिक्षा-संस्थाओं को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीपति वर्ग शिक्षा के संसार में प्रवेश करके किसी संस्था को किस प्रकार आधुनिक बनाता है और आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया में किस प्रकार सारी सामन्ती जीवन-पद्धति, कार्य-पद्धति, यहाँ तक कि सम्पूर्ण व्यवस्था के स्थान पर पूंजीवादी प्रणाली छा जाती है। इन संस्थाओं को देखकर 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के ये उदात्त शब्द सहसा साकार हो उठते हैं: "पूंजीपति वर्ग ने, जहाँ पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहाँ सभी सामंती, पितृसत्तात्मक और 'काव्यात्मक' सम्बन्धों का अन्त कर दिया। उसने मनुष्य को अपने 'स्वाभाविक बड़ों' के साथ बाँध रखने वाले नाना प्रकार के सामन्ती सम्बन्धों को निर्ममता से तोड़ डाला; और नग्न स्वार्थ के, 'नक़द पैसे-कौड़ी' के हृदय-शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध बाकी नहीं रहने दिया। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनन्दातिरेक को, वीरोचित उत्साह और कूपमंडूकतापूर्ण भावुकता को उसने आना-पाई के स्वार्थी हिसाब-किताब के बर्फीले पानी में डुबा दिया है। मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को उसने विनिमय-मूल्य बना दिया है।...जिन पेशों के सम्बन्ध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सबका प्रभा-मण्डल पूंजीपति वर्ग ने छीन लिया। वकील, डॉक्टर, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक सभी को उसने अपना वेतन-भोगी मज़दूर बना लिया है।...उत्पादन-प्रणाली में निरन्तर परिवर्तन, सभी सामाजिक अवस्थाओं में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अनिश्चयता और हलचल—ये चीज़ें पूंजीवादी युग को पहले के सभी युगों से अलग करती हैं। सभी स्थिर और जड़ीभूत सम्बन्ध, जिनके साथ प्राचीन और पूज्य पूर्वाग्रहों तथा मतों की एक पूरी श्रृंखला होती है, मिटा दिये जाते हैं, और सभी नये बनने वाले सम्बन्ध जड़ीभूत होने के पहले ही पुराने पड़ जाते हैं। जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है, जो कुछ भी पावन है वह भ्रष्ट हो जाता है, और आखिरकार मनुष्य संजीदा नज़र से जीवन की वास्तविक हालतों को, मानव-मानव के आपसी सम्बन्धों को देखने के लिए मजबूर हो जाता है।" पावन वस्तु कैसे भ्रष्ट होती है इसका उदाहरण है स्वयं विद्या; मानवीय सम्बन्ध किस प्रकार 'नक़द पैसे-कौड़ी' के हृदय-शून्य व्यवहार में बदल जाते हैं इसका उदाहरण है गुरु-शिष्य सम्बन्ध; पेशे से श्रद्धा का प्रभामण्डल किस तरह छिन जाता है इसका मूर्तिमान प्रतीक है स्वयं शिक्षक और निरन्तर क्रान्तिकारी परिवर्तन का उदाहरण उपकुलपतियों के रोज़-रोज़ परिवर्तन से बढ़कर और क्या होगा? जिस प्रकार एक जीवन्त सामूहिक शिक्षा-परिवार विश्वविद्यालय नाम की अमूर्त इकाई में बदल गया उसे देखकर क्या यह समझने में कोई कठिनाई रह जाती है कि पूंजीपति वर्ग के स्पर्श मात्र से जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है।

यदि आज सभी विश्वविद्यालयों के तंत्र में नौकरशाही, शिक्षा-पद्धति में यांत्रिकता, छात्र-छात्र तथा छात्र-शिक्षक सम्बन्ध में नितान्त निर्वैयक्तिकता आदि प्रवृत्तियों का बोलबाला दिखाई पड़ता है तो यह दैव का कोई अबूझ अभिशाप नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
बल्कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का सामान्य नियम है जो कल-कारखानों से लेकर बाबुओं के दफ्तरों से होता हुआ शिक्षा-संस्थाओं तक अबाध फैल चला है। विभागीकरण भी इसी तंत्र की कार्य-कुशलता का एक नुस्खा है जिसके कारण सरकारी दफ्तर ही विभागों में नहीं बँटे बल्कि विश्वविद्यालयीय ज्ञान भी अलग-अलग विभाग के रूप में विभक्त हो गया, यहाँ तक कि हर विभाग दूसरे को अपना शत्रु समझता है। ऐसे अलगाव के वातावरण में यदि साहित्य भी अपने-आपसे अलग हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। जब साहित्य स्वयं विभिन्न प्रश्न-पत्रों में विभक्त होगा तो जाहिर है कि प्रश्नपत्र ही पढ़ाए जाएँगे, साहित्य नहीं। इसीलिए कहते हैं कि विश्वविद्यालय में आकर साहित्य साहित्य न रहकर एक विश्वविद्यालयी **विषय** बन गया और अन्य विद्याओं से अलग होकर एक **विभाग** भर रह गया। दूसरों से अलगाव की अनिवार्य परिणति है अपने-आपसे अलगाव—अपने धर्म से अलगाव। इसलिए शिक्षा की दुनिया में साहित्य का स्वधर्म से अपसरण कुछ शिक्षकों की अयोग्यता का परिणाम नहीं बल्कि विश्वविद्यालयीय तंत्र में पूंजीवाद के प्रवेश की देन है। पुराणों की भाषा में कहें तो यह ऐसा राक्षस-राज है जिसमें आग जलना छोड़ देती है, हवा बहना छोड़ देती है, पानी शीतलता छोड़ देता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपना धर्म छोड़ देती है। जब लोग पाठ्यक्रम में नये साहित्य के न होने की शिकायत करते हैं तो भूल जाते हैं कि पुराना साहित्य वहाँ होकर भी नहीं है। और विकास की जो गति है उसमें जल्द ही वह दिन आने वाला है जब पुराना साहित्य सचमुच न रहेगा—न पढ़ने वाले मिलेंगे और न शायद पढ़ाने वाले। इस तरह अपनी परम्परा से एकदम कट जाना भी अलगाव का ही एक रूप है।

विश्वविद्यालयीय शिक्षा में साहित्य के साहित्य न रह जाने के लिए आज की जिस जटिल परीक्षा-प्रणाली को दोषी ठहराया जाता है वह भी इस पूंजीवादी व्यवस्था का अपना इजाफा है। परीक्षा-प्रणाली का इस हद तक निर्वैयक्तिक, रहस्यपूर्ण और भाग्याधीन बन जाना पूंजीवादी व्यवस्था के नियमों का ही शैक्षणिक अनुवाद है। सट्टा बाजार में अपनी तकदीर आजमाने वाला पूंजीपति वर्ग किसी विद्यार्थी को भाग्य के अधीन बाँधे बिना कैसे रह सकता है? संख्या और मात्रा की भाषा समझने वाली समाज-व्यवस्था योग्यता की जाँच के लिए एक निर्वैयक्तिक प्रणाली पर भरोसा करने के सिवा और कर ही क्या सकती है? ऐसी व्यावसायिक परीक्षा-प्रणाली में यदि नोट-कुंजियों की व्यावसायिकता भी घुस जाय तो क्या आश्चर्य! अनिश्चय, अविश्वास और होड़ पर कायम पूंजीवादी तन्त्र का बाज़ार यदि शिक्षा की दुनिया में भी इन्हीं मूल्यों का प्रचलन कर दे तो इसे उसकी स्वधर्म-परायणता ही समझना चाहिए।

यदि इन तमाम बातों में भारतीय विश्वविद्यालय और अधिक भ्रष्ट दिखाई देते हैं तो इसलिए कि अपने देश का पूंजीवाद भी यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का नायक क्लासिकी पूंजीवाद नहीं बल्कि कुंठित और अवरुद्ध पूंजीवाद है जो आज भी अनेक सामन्ती विकृतियों का शिकार है। इस विकार की अभिशप्त छाया हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांस्कृतिक जीवन को ग्रसे हुए है जिसे विश्लेषण के पैने औज़ारों के अभाव में 'भ्रष्टाचार' का एक गोलमोल नाम दे दिया गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि राजसत्ता पर आज सबसे ज्यादा प्रभाव इसी पूंजीपति वर्ग का है, जिसमें एक हद तक पुराने सामन्ती तत्त्वों का भी साझा है। इस वर्ग ने जिस प्रकार राजसत्ता पर अधिकार जमाने की कोशिश की है, उसी प्रकार शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में भी इसकी महत्त्वाकांक्षाएँ प्रबल हैं। स्वभावतः इस प्रयास का न्यूनतम कार्यक्रम है यथास्थिति को किसी तरह बनाए रखना और किसी भी क्रान्तिकारी परिवर्तन को भरसक रोकना। यह सोचने का कोई कारण नहीं कि यह वर्ग साहित्य की शक्ति से अपरिचित है। संस्थाएँ व्यक्तियों से ज्यादा कारगर होती हैं, इसलिए विश्वविद्यालय जैसी विशाल संस्था के द्वारा साहित्य को इस प्रयोजन के लिए इस्तेमाल करना सहज-स्वाभाविक है। जैसा कि इस 'संवाद' में एक लेखक ने सप्रमाण दिखलाया है, स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी-विभाग जहाँ लोक-वादी, वैज्ञानिक, आधुनिक और प्रगतिशील रहे हैं, स्वतन्त्रता के बाद विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों की दृष्टि संकुचित और विचार दकियानूसी हुए हैं। इसीलिए विश्वविद्यालयों में आज भरसक हिन्दी साहित्य की विद्रोही और जनवादी परम्परा को नजरअन्दाज किया जाता है। निस्सन्देह इसके लिए पाठ्यक्रम में कोई लिखित नियम और कानून नहीं है और न ऊपर से कोई स्पष्ट आदेश ही है। किन्तु जो शिक्षक पदोन्नति चाहता है वह साहित्य के अर्थ-सोपानों को भले ही न पहचाने, उन्नति के चक्करदार सोपानों को भलीभाँति जानता है, और कहना न होगा कि यह प्रलोभन ही उसे शासक वर्ग के साथ बाँध देता है। यदि यह सच है कि 'हित-अनहित पसु पच्छिउ जाना' तो साहित्य का शिक्षक ही अपने हितों से अनजान कैसे हो सकता है? ये हित स्वभावतः यथास्थिति से जुड़े हैं, इसलिए वह क्यों न ऐसी बातों से बचे जो यथास्थिति के विरुद्ध जाती हैं। इसलिए यदि हिन्दी साहित्य की आग विश्वविद्यालयों में आकर पानी भी नहीं, बल्कि धुआँ हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। यहाँ चारण काव्य तो सहज-उपयोगी है ही, भक्ति-काव्य भी 'प्राकृत जन गुण गाना' बन जाता है।

निश्चय ही ऐसे बहुत से शिक्षक हैं, जो बड़ी दृढ़ता से शिक्षक-सुलभ तटस्थता और शुद्ध साहित्य की मर्यादा का निर्वाह करते हैं। उन्हें पता नहीं कि यह तटस्थता और शुद्ध साहित्यिकता भी आत्म-निर्वासन का ही एक रूप है जिसमें साहित्य अपने सामाजिक सन्दर्भ से कटा हुआ अमरबेलि मालूम होता है। साहित्य का यह शुद्ध शिक्षण परोक्षतः यथास्थिति को ही मजबूत करता है। जिस छात्र को साहित्य अपने जीवन के लिए अप्रासंगिक लगे वह साहित्य से ही विमुख न होगा बल्कि यदि वह केवल साहित्यजीवी है तो समाज से भी विमुख ही रहेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी ही व्यापक उदासीनता पर यथास्थिति कायम रहती है।

आकस्मिक नहीं कि भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग सबसे ज्यादा दकियानूस और प्रतिक्रियावादी विचारों के गढ़ हैं। कारण हिन्दी की विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति। एक तो हिन्दी प्रदेश में प्रतिक्रियावादी राजनीतिक शक्तियों का गहरा प्रभाव और दूसरी ओर कांग्रेस के दक्षिणपंथी पक्ष और जनसंघ जैसे राजनीतिक दलों का हिन्दी के हितैषी के रूप में सामने आना—विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों का हित अनिवार्यतः ऐसे राजनीतिक तत्त्वों से जुड़ गया जो हिन्दी के हित के नाम पर एक बड़े सांस्कृतिक संस्थान को अपने प्रतिगामी विचारों के समर्थन में खींचना चाहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संसर्ग का गहरा प्रभाव हिन्दी साहित्य की शिक्षा पर पड़ा। हिन्दी के एक प्रोफेसर ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि हिन्दी का औसत छात्र एम० ए० पास करने के बाद 'भारतीय संस्कृति' के नाम पर मध्यकालीनता को विरासत में पाकर बाहर निकलता है। पाठ्यक्रम में नये साहित्य का विरोध भी इसीलिए हिन्दी में इतना है कि हिन्दी विभाग अपने छात्रों को शुद्ध 'भारतीयता' ही विरासत में देना चाहते हैं जो प्राचीन साहित्य में बड़ी आसानी से दिखाई जा सकती है।

हिन्दी विभागों की प्रतिगामिता की एक अभिव्यक्ति है असहमति का सर्वथा दमन। यथास्थितिवाद और अधिनायकवाद का पहला मंत्र है पूर्ण सहमति। यह मंत्र हिन्दी विभागों में अध्यक्ष से लेकर समस्त छात्रों तक के बीच के आपसी सम्बन्ध का विधायक नियम है। यही नहीं बल्कि एक हिन्दी विभाग का अध्यक्ष दूसरे हिन्दी विभागों से भी इसी प्रकार की सहमति की अपेक्षा रखता है। इस वातावरण में विचारों का विरोध भी व्यक्तिगत विरोध मालूम होता है। ज़ाहिर है कि ऐसी स्थिति में विचारों का विकास होना असम्भव है। इसीलिए इतने अधिक विश्वविद्यालय खुलने तथा शिक्षकों एवं छात्रों की संख्या में ऐसी अभूतपूर्व वृद्धि होने के बावजूद विश्वविद्यालयों में हिन्दी आलोचना का कोई उल्लेख्य विकास न हो सका। विश्वविद्यालय में पढ़ाते हुए भी साहित्य के किसी शिक्षक ने हिन्दी आलोचना में यदि उल्लेख्य योग दिया है तो विश्वविद्यालय की सीमा के बावजूद! सांस्थानिक दृष्टि से हिन्दी आलोचना के विकास में विश्वविद्यालय के स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी विभागों का कोई योगदान नहीं है क्योंकि सांस्थानिक रूप में वे ऐसा वातावरण दे सकने योग्य ही नहीं रहे। इसीलिए विश्वविद्यालयों में कुछ-एक समर्थ आचार्यों के रहते हुए भी उनके विचारों की कोई चिन्तन-परम्परा न बन सकी। यह विडम्बना नहीं तो क्या है कि जिस विश्वविद्यालय को रामचन्द्र शुक्ल जैसा आचार्य प्राप्त हुआ वह पिछले तीस वर्षों में शुक्लजी के विचारों के विकास का कोई ठोस प्रमाण न दे सका। विकास होता भी कैसे जब हिन्दी विभाग को अपनी विशिष्ट चिन्तन-परम्परा का न तो कोई अहसास हो न बोध! इसके अतिरिक्त गुरु की चिन्तन-परम्परा का विकास उत्तरदायित्वपूर्ण असहमति का साहसी शिष्य ही कर सकता है, सतत सहमति का भीरु सेवक नहीं और स्थिति यह है कि अब के आचार्य सेवक चाहते हैं, शिष्य नहीं। इस वातावरण में जहाँ कोई कुमारिल ही नहीं वहाँ कोई प्रभाकर क्या होगा?

इस अंध सहमतिपरक आग्रह का प्रभाव हिन्दी विभागों के अखिल भारतीय ढाँचे पर इस हद तक पड़ा है कि कम-से-कम आगामी बीस-पच्चीस वर्षों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए विश्वविद्यालय में किसी प्रकार के स्वाधीन चिन्तन की सम्भावना नहीं दिखाई देती। इस अखिल भारतीय ढांचे को ही हिन्दी विभागों के कुछ आचार्य 'हिन्दी विभाग' कहते हैं और इस विभाग पर अपनी अधिनायकशाही कायम रखने के लिए उसे एक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र साम्राज्य के रूप में संजोए रखना चाहते हैं। इस प्रकार यह शैक्षिक ढांचा जिस प्रतिगामी तन्त्र की उपज है उसी के अनुरूप छोटे पैमाने पर एक भयावनी दुनिया है—काफ़्का के 'दुर्ग' की तरह या मुक्तिबोध की 'चम्बल घाटी' की तरह; आधार उसका भले ही खोखला हो। भविष्य की यह कल्पना निस्सन्देह भयावह है।

वर्तमान स्थिति में कुल मिलाकर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों की देन यह है कि औसत छात्र एक ओर नितान्त 'साहित्यिक' हिन्दी लिखना सीखता है तो दूसरी ओर श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थों से घृणा करना। इस योग्यता के साथ वह या तो कहीं शिक्षक होने के लिए अभिशप्त है या फिर किसी दफ्तर में अनुवादक। विश्वविद्यालय से जो 'साहित्यिक भाषा' और जो 'साहित्यिक रुचि' लेकर वह बाहर निकलता है उनसे तो वह लेखक होने से रहा। आकस्मिक नहीं कि हिन्दी के अधिकांश साहित्यकार—जिनमें रचनाकार और आलोचक शामिल हैं—दोनों हिन्दी के अलावा किसी अन्य विषय के छात्र रहे हैं अथवा कम-से-कम उन्होंने किसी हिन्दी विभाग में शिक्षा तो नहीं पाई है। क्या इसी फल के लिए पचास साल पहले हिन्दी को विश्वविद्यालयों में लाने की लड़ाई लड़ी गई थी? ध्यान देने की बात है कि हिन्दी-शिक्षण की इस स्थिति का प्रभाव सामान्य साहित्य के प्रकाशन और लेखन पर भी पड़ने लगा है। प्रकाशन का अधिकांश तो छात्रोपयोगी सामग्री प्रकाशित करने की दिशा में चल ही पड़ा है, लेखन भी इस दबाव को शिद्दत से महसूस कर रहा है। आलोचना तो खैर नब्बे प्रतिशत शिक्षोपयोगी हो ही रही है, शिक्षोपयोगी उपन्यास भी इधर आ निकले हैं और वे भी कुछ श्रेष्ठ उपन्यासकारों द्वारा, जिन्हें देखकर साफ लगता है कि उन्हें खास तौर से पाठ्यक्रम में रखे जाने की उम्मीद में लिखा गया है।

गनीमत है, विश्वविद्यालयों के भीतर और बाहर अनेक साहित्यकार और साहित्य-प्रेमी स्थिति की गम्भीरता के प्रति पूरी तरह सतर्क हैं। जो अपने साहित्य-चिन्तन और सृजन में आज की समूची व्यवस्था के खिलाफ मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं वे इस व्यवस्था के शिक्षा-संस्थानों की साहित्यिक और सामाजिक भूमिका से किसी तरह उदासीन नहीं रह सकते। जैसा कि 'संवाद' में एक लेखक ने कहा है, इस शिक्षा-व्यवस्था को बदलने के लिए सांस्कृतिक क्रान्ति के साथ ही सामाजिक क्रान्ति की भी आवश्यकता है। ऐसी क्रान्ति साहित्य की शिक्षा को सम्पूर्ण 'संश्लिष्ट बौद्धिक जीवन' का अंग बनाकर ही की जा सकती है—और इस प्रकार एक ऐसे क्रान्तिकारी बौद्धिक आन्दोलन को जन्म दिया जा सकता है जो विश्वविद्यालयों के ढांचे को बुनियादी तौर पर बदलने के साथ ही उस ढांचे को सहारा देने वाली समाज-व्यवस्था को भी बदलने में योग दे सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब वक्त आ गया है

अशोक वाजपेयी

अब वक्त आ गया है
कि मैं भी कोई पैगम्बराना हरकत करूँ।
जिन्दा लोगों को भीड़ करार देकर
मेरे दोस्त
असम्भव स्त्रियों के ऐश्वर्य में
मेज़ के दूसरी तरफ बैठे हैं
और इस लालच से बच सकना
मुश्किल है
कि एक विशाल घृणा में सरलीकृत
मैं भी कर सकता हूँ सारा संसार।
वक्त आ गया है कि मैं
कहीं भी ढेर में से
हाथ बढ़ाकर उठाऊँ एक मुट्ठी राख
जली हुई हरिजन हड्डियाँ
कोकाकोला की टूटी हुई अधबोतलें
और अपने साल भर के बेटे के पास
ले जाकर
चालू मुहावरे में कहूँ : यह है
मेरा देश—संविधान में सना हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या
उस हरी साड़ी में लिपटी
गदगद ब्याहता की ओर
चटखारे भरता हुआ जाऊँ
इस कुजबुच्चे शहर में
और इसके पहले कि वह विगलित हो
उसके हाथों में थमादूँ
—संसद की आज की कार्यवाही की रिपोर्ट।
अब वक्त आ गया है
कि अपने घर के कस्बाई उजास को
भूलकर
एक भीड़ जमा कर पूछूँ :
कौन कहता है इस सूअरबाड़े को
अपना घर ?
कितना सुखद है
इस तरह अपने डर को
भाषा के ताण्डव में छुपाना
और मेज पर
उऋक ताकते हुए नबी की तरह
ऊबी स्त्रियों को अपने अकेलेपन की
वीर गाथाएँ सुनाना।
अब वक्त आ गया है
कि कचरा, कामना
बस की पुरानी टिकटों
और जुलूस को गड्डमड्ड कर
एक अलगण्ट का नारा बनाऊँ
और बेवकूफों और गधाचेहरा लोगों को
बार-बार धिक्कारता दुतकारता हुआ
प्रजातन्त्र की ओर निकल जाऊँ।
दुनिया और प्रेम के तहस-नहस होने की
खबर सबके पास है
वक्त आ गया है कि पूँछ उठाऊँ
फिर अपनी कविता की गधापचीसी में ऊँचे से
उसी की गुहार लगाऊँ……

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा

'सम्पूर्ण साहित्य' के भाव का विकास

रामस्वरूप चतुर्वेदी

विश्वविद्यालय के उन्मुक्त, बौद्धिक वातावरण में साहित्यिक अभिरुचि और जागरूकता के विकास के लिए सामान्यतः सबसे अधिक उपयुक्त अवसर होना चाहिए। इस आरम्भिक निबन्ध में हमें देखना है कि यह अवसर किस सीमा तक और किस मात्रा में उपस्थित है, और जिस सीमा तक नहीं है उसके क्या संभाव्य कारण हो सकते हैं। एक बार कारण ज्ञात हो जाने पर उनके समुचित निराकरण का दायित्व तो विश्वविद्यालयों का ही हो सकता है। कारणों के विश्लेषण में हम न केवल विश्वविद्यालयीय साहित्य-शिक्षा का स्वरूप स्पष्ट कर सकते हैं, वरन् साहित्य के अध्ययन और आस्वादन की अपनी सामान्य प्रक्रिया को भी समझने का यत्न कर सकते हैं। एक माने में यहाँ हम साहित्य के संप्रेषण को अधिकाधिक दक्ष बनाने की समस्या पर विचार करने के लिए प्रस्तुत हैं।

विश्वविद्यालयों के माध्यम से एक ओर साहित्य और साहित्य की समझ का विकास और विस्तार हुआ है, दूसरी ओर विश्वविद्यालय अपनी जड़ एकेडेमिक दृष्टि के लिए भी कुख्यात रहे हैं। और वस्तुतः विश्वविद्यालयों के बारे में उक्त दोनों ही स्थितियाँ एक सीमा तक सच कही जा सकती हैं। हमारे ही देश में नहीं, अन्य देशों में भी साहित्यिक समीक्षा का अधिकतर विकास विश्वविद्यालय क्षेत्रों में हुआ है। ब्रेडले और रिचर्ड्स, रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्य-चिन्तन विश्वविद्यालयों के ही बीच विकसित और संभव हुआ है। समीक्षक ही नहीं, कुछ रचनाकार भी विश्वविद्यालयीय अध्यापन में संलग्न रहे हैं। पर समीक्षकों की तुलना में रचनाकारों की संख्या निश्चय ही बहुत कम है। पर क्या कारण है कि हिन्दी समीक्षा के अधिकतर नाम विश्वविद्यालयों से संबद्ध होने के बावजूद विश्वविद्यालय दुर्नाम हैं घिसी-पिटी समीक्षा और परंपरित अध्यापन-प्रक्रिया के लिए? इस प्रश्न के विवेचन में हम उपर्युक्त विरोधाभासी स्थिति का संगत कारण खोज सकते हैं।

यह निर्विवाद है कि आधुनिक युग का सभी मौलिक और युगांतरकारी चिन्तन अधिकतर विश्वविद्यालयों में हुआ है, विषय चाहे गणित हो या भौतिकी, साहित्य या दर्शन-शास्त्र। पर चिन्तन की यह मौलिकता सामान्य अध्यापन-प्रक्रिया में सन्निविष्ट नहीं हो पाती। अध्यापक ने जो कुछ नया सोचा है, वह कुछ गिने-चुने शिष्यों को छोड़कर सामान्य विद्यार्थी वर्ग में संक्रमित नहीं हो पाता। सामान्य विद्यार्थी—और सामान्य अध्यापक भी—संख्या में अधिक होते हैं और वे जिस परंपरित वातावरण को ढोते और पुष्ट करते रहते हैं, उसे मौलिक प्रतिभा से युक्त अध्यापक तोड़ नहीं पाता। बहुत बार इसलिए नहीं कि वह उसे तोड़ नहीं सकता, वरन् इसलिए कि वह उसे उपेक्षित कर जाता है। इसी का परिणाम होता है कि विश्वविद्यालय का सामान्य वातावरण परंपरित पाठ्य-क्रमों, परीक्षाविधियों आदि के सहारे एक दिशा में चलता है, जबकि विश्वविद्यालय का मौलिक चिन्तन विश्वविद्यालयों में उद्भूत होकर भी उस वातावरण की एकरसता को अक्षुण्ण बनाए रखने में अपनी उपेक्षा से सहायता ही देता है। मौलिक चिन्तन में इतना धैर्य प्रायः कम होता है कि वह औसत विद्यार्थी या श्रोता के स्तर पर उतरकर उसे अपनी चिन्तन-प्रक्रिया में सहभागी बनाता चले। फलतः विश्वविद्यालय का मौलिक चिन्तन और अपेक्षया परम्पराभुक्त वातावरण एक-दूसरे के बावजूद चलते रहते हैं।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि विश्वविद्यालय क्षेत्र का समीक्षक अध्यापन-प्रक्रिया से असंबद्ध रहकर अपनी समीक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना करता है। यहाँ अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि कई बार विद्यार्थियों से कोई खास बौद्धिक उत्तेजना पाए बिना केवल अध्यापन के दौरान अपनी साहित्यिक समझ को विकसित और समृद्ध करने का अवसर हुआ है। और जिस देश-काल में विद्यार्थी बौद्धिक उत्तेजना के भी कारण बन जाएँ, वहाँ तो अध्यापक के लिए और भी संभव है कि वह अपनी चिन्तन-प्रक्रिया को इस माध्यम से अधिकाधिक परिशोधित और प्रशस्त कर सके। पर कक्षा में विद्यार्थियों के ही बीच किसी नए अर्थ-स्तर का साक्षात्कार होने पर भी यह हो सकता है कि विद्यार्थी उसके साक्षी और सहभागी न हो सकें।

मुझे पहली स्नातकोत्तर कक्षा में नाटक पढ़ाना होता है। पिछले कई वर्षों से विश्वविद्यालय क्षेत्र विद्यार्थी आंदोलन और अनियोजित युवा शक्ति के प्रदर्शन-स्थल रहे हैं। ऐसे ही किसी अवसर पर जयशंकर प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' पढ़ाना शुरू किया था। और तब इस नाटक के रचना-विधान में मैंने पाया कि पुरानी विगलित पीढ़ी के समक्ष नई युवा पीढ़ी की शक्ति-संभावना को प्रशस्त करने का यत्न प्रसाद ने किया है। एक ओर नन्द और पर्वतेश्वर की साम्राज्यवादी-सामंतशाही मूल्यों की खोखली होती हुई पीढ़ी है, और दूसरी ओर तक्षशिला के उन्मुक्त वातावरण में पले युवा चाणक्य, चन्द्रगुप्त और सिंहरण हैं, जो व्यापक और नवीन राष्ट्रीय मूल्यों को विकसित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में संघर्ष के कई पूर्वपरिचित स्तरों के साथ यह एक नया और महत्त्वपूर्ण स्तर है, जिसके अन्वेषण में विश्वविद्यालयीय परिवेश का विशिष्ट योग है। पढ़ाते समय नाटक के ये वाक्य मेरे लिए विशेष रूप से अर्थपूर्ण हो गए हैं—"विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, और मुझे तो तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है"—या "विद्यार्थी और कुचक्र! असंभव! यह तो वे ही कर सकते हैं जिनके हाथ में कुछ अधिकार हो।" अर्थ के ऐसे अन्वेषण के क्षणों में मैंने अपनी अध्यापन और समीक्षा वृत्ति को कृतकृत्य हुआ माना है। और तब अज्ञेय की इस छोटी-सी कविता का भाव भी और अच्छे ढंग से समझा है—

फोड़-फोड़कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने-अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है—
बस, उतना मैं खेत हूँ।

साहित्य के खेत में अपने विद्यार्थियों के साथ लगने का क्रम कभी-कभी कितना सार्थक और संतोषप्रद हो सकता है, यह अनुभव ही अध्यापक के जीवन की सबसे स्पृहणीय उपलब्धि है।

साहित्य सम्बन्धी अध्यापन के क्रम में एक कठिन अंक माना जाता रहा है शृंगारिक अंशों को पढ़ाना। पर वस्तुतः इन शृंगारिक अंशों को पढ़ाने में कठिनाई विद्यार्थियों की ओर से उतनी नहीं आती जितनी कि स्वयं अध्यापक के अपने मन से उपजती है। पढ़ाना चाहे सूरदास हो या नन्ददास, या कि प्रसाद का 'आँसू'—"परिरंभ कुंभ की मदिरा, निःश्वास मलय के झोंके," यदि अध्यापक अपनी सहज, स्वाभाविक गति से रचना के सृजन-सौंदर्य की उन्मुक्त व्याख्या करता चलता है तो कभी कोई कठिनाई नहीं होती, पर पढ़ाते समय यदि अध्यापक स्वयं उन शृंगारिक स्थलों को लेकर कुंठित और संकुचित है तो विद्यार्थी यह तुरन्त ताड़ जाते हैं कि आपके मन में साहित्य प्रमुख न होकर अब शरीर-विज्ञान प्रमुख है। और तब कक्षा का अनुशासन तो भंग होता ही है, उस रचना-प्रसंग के साथ अन्याय भी होता है। अध्यापन के इस पक्ष से सीखा जा सकता है कि कला-रचना में अश्लीलता नहीं होती—हो ही नहीं सकती—वह पाठक या दर्शक की दृष्टि में होती है। जहाँ कला है वहाँ अनुभव की समग्रता है, जहाँ अनुभव खण्डित हो जाता है वहीं अश्लीलता आती है। इसलिए कला, जो अनुभव की समग्रता की ही अभिव्यक्ति है, में अश्लीलता का प्रश्न नहीं उठता। जहाँ भी अश्लीलता है वहाँ या तो कला ही नहीं है, या फिर कला-अनुभव को समझने की दृष्टि नहीं है। यह मान्यता साहित्य सम्बन्धी अध्यापन के अनुभव से अधिक व्यावहारिक रूप में पुष्ट होती है।

पर उपर्युक्त दोनों उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि अध्यापक को पढ़ाने के क्रम में दिशा-बोध भी होता है, वह अपने अध्यापन से स्वयं सीखता चलता है। पर दूसरे सिरे पर क्या है? और तब मानना होगा कि विद्यार्थी के लिए साहित्य का संप्रेषण प्रायः उतना दक्ष और प्रभावशाली नहीं होता जितना कि उसे होना चाहिए। इसका मुख्य कारण यह है कि अध्यापक को परीक्षा की दृष्टि से पढ़ाना होता है, परीक्षा का आधार प्रायः अपरिवर्तनशील पाठ्यक्रम है, और परीक्षा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणाली तथा पाठ्यक्रमों की जकड़ में अधिकतर अध्यापक जड़ और नोट-लिखाऊ हो जाते हैं। यद्यपि यह सही है कि कुछ अध्यापक परीक्षा के कर्मकांड के बावजूद अपने रचनात्मक व्यक्तित्व और प्रखर विचारों को विद्यार्थी समुदाय में संक्रमित करते चलते हैं, और साथ ही विद्यार्थी के मस्तिष्क को विचारोत्तेजन के लिए तैयार करते चलते हैं, पर उनकी संख्या निश्चय ही बहुत कम है। अधिकतर अध्यापक विद्यार्थी की तर्क-शक्ति को विकसित करने का क्रम और खतरा नहीं उठाना चाहते, वह क्रम और खतरा जो सच्चे अध्यापक के लिए अध्यापन की गहरी प्रक्रिया और उपलब्धि है। अध्यापन की इस सुकुमार और चलित प्रक्रिया में अध्यापक अपने अनुभव और विचारों को विद्यार्थी में संक्रमित करता है, पर उसके मानस को बाधित करने के लिए नहीं, वरन् उसे और संवेदनशील तथा प्रबुद्ध बनाने के लिए। एक माने में यह साहित्य-सृजन जैसी ही रचनात्मक प्रक्रिया है। पर जैसे हर छपी पुस्तक साहित्य नहीं है, वैसे ही हर अध्यापक पढ़ाता नहीं (हाँ, लिखाता है!)

परीक्षा-पद्धति के बारे में यहाँ कुछ चर्चा करना बहुत संगत न होगा, क्योंकि यह प्रश्न बहुत व्यापक है और इसका सम्बन्ध केवल साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से न होकर सभी विषयों से है। पर प्रस्तुत संदर्भ में विश्वविद्यालयीय—विशेषतः परस्नातक कक्षा के हिन्दी पाठ्यक्रमों का विश्लेषण मूल विषय के विवेचन में सहायता दे सकता है। अच्छे-से-अच्छे पाठ्यक्रमों को भी देखने पर लगता है कि साहित्य के अध्यापन में सहायक अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो गए हैं, साहित्य का अध्यापन गौण हो गया है। कई जगह जहाँ पाठ्यक्रम का अपना गठन सानुपातिक है, वहाँ अध्यापन-प्रक्रिया में साहित्य विलुप्त है और उसके सारे अंग-उपांग उपस्थित हैं। इस तरह यह एक दुष्टचक्र बन गया है, जिसमें पाठ्यक्रम और अध्यापन-प्रक्रिया दोनों एक-दूसरे को जड़ और ग़ैर-साहित्यिक बनाते रहते हैं। विश्वविद्यालयों में 'संपूर्ण साहित्य' के भाव को विकसित करने के लिए इस दुष्टचक्र को तोड़ना होगा, जिसमें पहल अध्यापन-प्रक्रिया की ओर से करनी होगी, क्योंकि दोनों के बीच वही महत्त्वपूर्ण है और निर्णायक भी। पाठ्यक्रम को अध्यापन-प्रक्रिया का अनुगामी होना चाहिए, न कि अध्यापन-प्रक्रिया अपने को पाठ्यक्रमों से बँधा रहने दे।

साहित्य की अध्यापन-प्रक्रिया की कुछ अपनी निजी कठिनाइयाँ हैं। अध्यापन सामान्यतः व्याख्यान और विश्लेषण पर आश्रित है। पर साहित्य अपनी प्रकृति में संश्लेषण है। इस संश्लेषण की सार्थकता एक सीमा तक ही विश्लेषण की पद्धति से जानी-समझी जा सकती है। आत्यंतिक विश्लेषण तो साहित्य के स्वरूप को ही विकृत और नष्ट कर देगा। ऐसी स्थिति में साहित्य के अध्यापक को विश्लेषण का सहारा लेते हुए भी दृष्टि इस पर रखनी है कि रचना की समग्रता और उसका अनुभव सही-सही संप्रेषित हो जाए, कहीं विश्लेषण की पद्धति उसे खंडित न कर दे। सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों के तर्क-वितर्क और चीड़-फाड़ से साहित्य के अध्यापन की प्रक्रिया अलग है, पर बहुत बार अध्यापक की नासमझी से साहित्य की कक्षा विज्ञान की प्रयोगशाला बन जाती है। और तब विद्यार्थी कविता के संघटन को मेंढक के आवयविक गठन की तरह देखने लगते हैं। फल होता है कि साहित्य की समझ पूरे वातावरण से समाप्त हो जाती है।

साहित्य के अध्यापन में एक और समस्या उत्पन्न होती है विशेषीकरण की स्थिति को लेकर। ज्ञान-विज्ञानों के विकास ने विशेषीकरण लगभग अपरिहार्य बना दिया है। एक डॉक्टर बाएँ कान का मर्म जानता है तो दूसरा दाएँ ही कान का। तब अवशेष का एक विशेषीकृत वर्ग बना है, जिन्हें 'सामान्य डॉक्टर' कहा जाता है, जो पूरे शरीर की व्याधियों और उनके अंतस्संबंधों को जानते हैं। साहित्य के अध्यापन में भाषावैज्ञानिक, काव्यशास्त्री और पाठविज्ञानी का निश्चय ही महत्त्व है, पर मूलतः तो साहित्य के अध्यापक को समग्र रचना का केन्द्रीय अनुभव ही उद्घाटित करना है। बिना इस क्षमता के उसका सारा शास्त्र और विज्ञान अध्यापन प्रक्रिया में अर्थहीन लगने लगते हैं। इस दृष्टि से अध्यापक के अपने अध्ययन और शोध के लिए विशेषीकरण की सीमा मान लेने पर भी यह ध्यान रखना होगा कि उसका मूल दायित्व है रचना के अनुभव से टकराना, और उसका इस ढंग से विश्लेषण और व्याख्यान करना कि वह विरूप और विकृत न हो जाए।

इसी संदर्भ में साहित्य के अध्यापक में शोध और अध्यापन का सानुपातिक संबंध देखा जा सकता है। शोध की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए जो शोधकर्ता अध्यापक को साहित्य की व्यापक धारा से जोड़े, न कि एक छोटे-से क्षेत्र में सीमित कर दे। शोध का सबसे बड़ा प्रयोजन यह है कि उसके माध्यम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अध्यापक अपनी बौद्धिक क्षमता को जड़ हो जाने से रोकता है। पर अध्यापन-क्षेत्र की यह भी एक विडंबना है कि हिन्दी के अध्यापकों ने प्रायः शोध के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को गतिशील बनाने के बजाय सीमित और संकीर्ण कर लिया है। यहाँ भी दोष शोध का उतना नहीं जितना कि शोध को लेकर हमारी दृष्टि का है। हिन्दी का अधिकांश शोध स्वतः-स्फूर्ति कम, व्यावसायिक दृष्टि से प्रेरित अधिक है। स्वभावतः ही ऐसा शोध व्यक्तित्व के उन्मेष में नहीं संकोच में सहायक होगा। शोध में निर्देशक और छात्र के मस्तिष्क टकराते हैं, फलतः अध्यापक का चिंतन इस प्रक्रिया से बराबर तरोताज़ा होता चलता है। पर यहाँ भी शोध से पाए ज्ञान को संप्रेषित करने के लिए अध्यापन की कुशलता अपेक्षित है। कई बार अध्यापन के ऊपर शोध को महत्त्व दिए जाने से इन दोनों के पारस्परिक संबंध विकृत होते हैं। अध्यापन और शोध एक-दूसरे की सहायक प्रक्रियाएँ हैं, न कि परस्पर-विरोधी। यद्यपि विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों को देखकर बहुत बार दूसरी बात ही सच होती जान पड़ती है।

विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा को लेकर एक बड़ा कठिनाई है उसकी भाषायी सीमा को लेकर। हमारे इस विवेचन में साहित्य का समग्र रूप एक मूल प्रतिज्ञा है। पर साहित्य का समग्र रूप क्या भाषाओं में बँटकर खण्डित नहीं हो जाता? इसी एक समस्या से जूझते हुए पश्चिम के एक प्रसिद्ध समीक्षक अध्यापक ने कहा था कि उपनिषद् तब तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते जब तक कि कीट्स और शेली का रोमांटिक काव्य पढ़ा न लिया जाए। हमारे यहाँ वही बात बाइबिल, शेक्सपियर, गेटे या फिरदौसी को लक्ष्य करके कही जा सकती है। और ये कृतियाँ तथा कृतिकार तो दूसरे देश के हैं। हमारे साहित्य विभागों के पाठ्यक्रम क्या भारतीय साहित्य का भी कोई परिप्रेक्ष्य उभार पाते हैं? यह समस्या सचमुच कठिन है, और हम वस्तुतः अनुभव करते हैं कि कला विस्तृत है।

कुछ विश्वविद्यालयों ने तुलनात्मक साहित्य का एक विभाग खोलकर इस समस्या को हल करना चाहा है। पर यह भी समस्या से जूझना नहीं कतराना है। साहित्य की समग्रता का अनुभव तो तभी हो सकता है जब हम किसी विशेष साहित्य के संदर्भ में समूचे भारतीय साहित्य और साहित्य मात्र की आत्मा का साक्षात्कार करा सकें। इसका एक ही उपाय हो सकता है कि प्रत्येक साहित्य के पाठ्यक्रम में साहित्य के व्यापक अध्ययन को सांकेतिक रूप में सम्मिलित किया जाए। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को यदि एक वर्ष एक प्रश्नपत्र के अंतर्गत भारतीय साहित्य, उसकी परम्परा, और कुछ चुने हुए अंश—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, कन्हैयालाल मुंशी, इकबाल—का पाठ कराया जा सके तो संक्षिप्त रूप में ही सही, उसका भारतीय साहित्य से कुछ साक्षात्कार हो सकेगा। इसी प्रकार से दूसरे वर्ष में विश्व-साहित्य का एक प्रश्नपत्र—बहुत-कुछ विश्व-इतिहास की तरह का—रखा जा सकता है। प्रश्नपत्रों की कमी होने पर कुछ अधिक कड़े चुनाव के साथ भारतीय साहित्य और विश्व-साहित्य को एक साथ भी मिलाया जा सकता है। पर शर्त यह रहेगी कि इस प्रश्नपत्र में महत्त्व केवल आलोचनात्मक प्रश्नों का ही न रहे, वरन् कुछ श्रेष्ठ कृतियों के अनूदित अंश आस्वादन के लिए जरूर जाएँ। तभी हम साहित्य के समग्र और संपूर्ण रूप को समझने की दिशा में प्रयास कर सकते हैं।

विश्वविद्यालयों में साहित्य के अध्यापन को विकसित और समृद्ध करने के लिए इन सब पक्षों की ओर ध्यान देना होगा। पर यहाँ दुहराकर कहना है कि इन सबके केन्द्र में अध्यापन-प्रक्रिया है, जो प्रत्येक अध्यापक के लिए इतनी मौलिक और विशिष्ट है कि विश्वविद्यालयीय स्तर के अध्यापकों को किसी संस्थान में प्रशिक्षित करने की बात कभी नहीं सोची जाती। पर विश्वविद्यालय के साहित्य-विभागों में प्रायः अध्यापन-प्रक्रिया उपेक्षित है। विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों में किसी रचना को पढ़ाते समय उसका पाठ प्रमुख न होकर उसकी 'समीक्षा' प्रमुख रहती है। और इस 'समीक्षा' के अंतर्गत अध्यापक उपन्यास या नाटक पढ़ाने के लिए कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन और देश-काल बता देता है। यदि कविता पढ़ानी हुई तो रस-छंद, अलंकार पर टिप्पणी कर देना प्रमुख होता है। अध्यापन के इन स्थूल और भौंडे नुस्खों से साहित्य के जटिल और सुकुमार अनुभव का साक्षात्कार किस कदर बेमेल है, इस पर और कुछ न कहना ही अच्छा है। एक अच्छी समीक्षा विकसित करके भी हम मानो विश्व-विद्यालय की कक्षा में गुण-दोष-कथन की पद्धति से ही साहित्य पढ़ाना चाहते हैं। जब विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग आरम्भ हुए थे तब इस प्रणाली की अनिवार्यता मानी जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती थी, आज भी हाई स्कूल या इंटरमीडिएट तक इन स्थूल उपायों का अभिप्राय किसी सीमा तक समझा जा सकता है, पर विश्वविद्यालय स्तर पर वस्तुपात्र कथोपकथन या रस-छन्द-अलंकार के सहारे पढ़ाना साहित्य की ऐसी शव-परीक्षा है जिसका किसी के लिए कोई उपयोग नहीं।

यदि विश्वविद्यालय की साहित्य-शिक्षा में साहित्य को सचमुच महत्त्व देना है तो हमें अपनी अध्यापन प्रक्रिया में रचना के पाठ को केन्द्र में रखना होगा। शेक्सपियर की युक्ति को कुछ संशोधन के साथ कहना होगा, रचना ही असली चीज़ है। विद्यार्थी को किसी कृति के आमने-सामने लाकर इस तरह छोड़ देना होगा कि वह उससे सीधे अनुभव ग्रहण कर सके। इसके लिए जरूरी है कि किसी भी साहित्यिक रचना को खण्ड सृष्टि से न देखकर उसके पूरे रचना-विधान की व्याख्या की जाए। और रचना-पाठ तथा समीक्षा को अलग-अलग न रखकर पाठ्य-ग्रंथ पढ़ाते समय ही उसकी साहित्यिक सर्जनशीलता का उद्‌घाटन किया जाए। इससे रचना और समीक्षा के बीच वह आवश्यक और मौलिक सम्बन्ध स्थापित रह सकेगा जो विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के मन से प्रायः लुप्त रहता है। उसके लिए पाठ्य-ग्रन्थों के उद्धरणों का भावार्थ लिखना एक अभ्यास है, और उसकी 'समीक्षा' करना एक अलग अभ्यास है। पर पूरी रचना क्या है, इसकी न उसके मन में कोई परिकल्पना है और न वह इस दिशा में कुछ सोचना चाहता है।

साहित्य को लेकर अध्यापक और विद्यार्थी के इस रिश्ते को बदलना है, और यह हमारे विश्वविद्यालय, साहित्य और युवा जीवन की एक आधारभूत समस्या है। यदि विश्वविद्यालय में साहित्य का शिक्षण समुचित रूप में नहीं होता, तो इन विद्यार्थियों का जन-रुचि के विकास में सही योगदान नहीं हो सकता। फिर गलत जन-रुचि साहित्य पर भी गलत ढंग का ही प्रभाव डालेगी। और गलत साहित्य से विकसित जीवन सही दिशा में कैसे जा सकता है? इस दृष्टि से यह समूचा प्रश्न केवल विश्वविद्यालय या केवल साहित्य का प्रश्न न होकर बौद्धिक वातावरण का प्रश्न है, जहाँ समाज की रचना-प्रक्रिया रूप ग्रहण करती है। आज जबकि युवा पीढ़ी हमारे सोचने के केन्द्र में बरबस आ गई है, साहित्य का शिक्षण उत्तरोत्तर परिशोधित और दक्ष होना चाहिए—एक अस्त्र के रूप में व्यक्तित्व को किसी खास तरह से नियमित और निर्धारित करने के लिए नहीं वरन् विद्यार्थी के मानस को अधिकाधिक उन्मुक्त और प्रबुद्ध बनाने के लिए। ●

शिक्षण के उद्देश्य में परिवर्तन

देवेन्द्रनाथ शर्मा

आपने विश्वविद्यालय और साहित्य की शिक्षा शीर्षक परिसंवाद का आयोजन करके एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण विषय की ओर ध्यान आकृष्ट करने का उपक्रम किया है। इसके लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। इस समस्या के अनेक पहलू हैं और इस पर बहुत सारी दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, इस समस्या से सम्बद्ध ये प्रश्न स्वभावतः सामने आते हैं : विश्वविद्यालयों में साहित्य की शिक्षा कैसी होती रही है, कैसी हो रही है या कैसी होनी चाहिए? साहित्य की शिक्षा का उद्देश्य क्या है? साहित्य की शिक्षा की प्रचलित पद्धति से वह उद्देश्य क्या सिद्ध हो रहा है? यदि हो रहा है तो कहाँ तक? यदि नहीं हो रहा है तो क्यों? साहित्य की वर्तमान शिक्षा-पद्धति में क्या गुण-दोष हैं? दोषों के निराकरण के लिए क्या करना उपेक्षित है? साहित्य के अन्तर्गत किन विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए? शिक्षा का रूप और पद्धति क्या हो? आदि। इस तरह के और भी अनेक प्रश्न विचार-विमर्श के प्रसंग में उपस्थित हो सकते हैं। इन सभी पर विचार करने के लिए पर्याप्त समय और स्थान आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उतना एक लेख में संभव नहीं हो पायेगा। तत्काल उपर्युक्त प्रश्नों को मैं दो प्रश्नों में समेटना चाहता हूँ :

१. विश्वविद्यालय में साहित्य की शिक्षा का उद्देश्य क्या है?

और

२. साहित्य की शिक्षा का रूप, विषय और पद्धति क्या हो?

साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन का प्रश्न कोई नया नहीं है। प्रत्येक देश और काल में विद्वानों ने इस पर विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है और विभिन्न उत्तर दिए हैं। काट-छाँटकर सबका अन्तर्भाव मुख्यत: दो में किया जाता है और वे हैं आनन्द तथा उपदेश। विश्वविद्यालय में साहित्य के अध्ययन तथा अध्यापन की जो प्रविधि चालू है, उसमें आनन्द मिलता है, यह मानना मेरे लिए कठिन है। लगभग तीस वर्षों के साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के अनुभव के आधार पर मैं अब ऐसा अनुभव करने लगा हूँ कि कक्षाओं में हम साहित्य का एक ही उपयोग कर पाते हैं और वह है उसकी शव-परीक्षा और यह शव-परीक्षा साहित्य की अन्तर्निहित ताज़गी, सजीवता और सुन्दरता को सर्वथा नष्ट कर देती है। रोचक-से-रोचक साहित्य कक्षाओं के शास्त्रीय विश्लेषण की प्रक्रिया में जड़ एवं निष्प्राण हो जाता है। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि यह दोष शास्त्रीयता का है। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि आज के शिक्षण की जो दिशाएँ और पद्धतियाँ हैं वे बहुत दूर तक असन्तोषप्रद हैं। उनके द्वारा न तो साहित्य का बोध हो पाता है और न अनुभूति। अध्यापकों के व्यक्तिगत ज्ञान एवं अध्यापन-प्रणाली से इसमें थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही पड़ता हो किन्तु परिणाम में विशेष अन्तर पड़ते मैंने नहीं देखा है। कुछ ग्रन्थ तो कक्षाओं में पढ़ाने की आवश्यकता की पूर्ति मात्र करते हैं। इनमें कामायनी का स्थान सर्वोच्च माना जा सकता है। एम० ए० के परीक्षार्थियों के अतिरिक्त कामायनी का अनुशीलन और कौन करता है ? और दो वर्षों तक कामायनी पढ़ने के बाद कितने लोग कामायनी के काव्यत्व से प्रभावित और आनन्दित हो पाते हैं ? हाँ, कामायनी की क्लिष्टता का रोना रोते मैंने निरपवाद रूप से अवश्य सुना है। इस युग के सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य की यह स्थिति है। इसीसे दूसरे महाकाव्यों या काव्यों की स्थिति का हम अनुमान कर सकते हैं। मतलब कि साहित्य की शिक्षा से आनन्द प्राप्त नहीं होता। रही बात उपदेश की, तो आज के छात्र-समुदाय की उपदेश में आस्था ही नहीं है। उपदेश का नाम सुनते ही उसमें आक्रोश का भाव जग पड़ता है। कारण इसका यह है कि उपदेश में सत्ता की गन्ध रहती है और आज का वातावरण प्रतिसत्तावादी हो गया है—वह किसी प्रकार की सत्ता को स्वीकार करना नहीं चाहता। आज कोई विश्वविद्यालय ऐसा नहीं जो उत्पात, उपद्रव, अशांति और अनुशासनहीनता से मुक्त हो। कविराज विश्वनाथ ने कहा है कि साहित्य से कार्य और अकार्य का निर्णय करने में सहायता मिलती है, अर्थात् विधि और निषेध के द्वारा वह हमें यह बताता है कि अमुक कार्य करने योग्य है और अमुक नहीं। यदि कविराज विश्वनाथ का यह कथन साहित्य के सम्बन्ध में सही होता तो किसी भी विश्वविद्यालय का वातावरण अशान्त नहीं होना चाहिए था, क्योंकि साहित्य का कुछ अंश तो ऐसा पढ़ाया ही जाता है जिसका सम्बन्ध कार्य और अकार्य से स्पष्टत: रहता है और जिसे जान लेने पर छात्रों को यह सोचने-समझने का अवसर मिलता कि हमें यह कार्य करना चाहिए और यह नहीं। पर साहित्य इस स्थल पर आज बिलकुल निरुपयोगी है। यह दोष सोलह आने साहित्य का ही नहीं है। आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य है रोटी कमाना। कोई छात्र कोई भी विषय इसलिए नहीं पढ़ता कि उसमें उसकी गहरी या वास्तविक अभिरुचि है, बल्कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए कुछ विषयों को लेना ज़रूरी है और वह जिन्हें अधिक आसान या अधिक अंकप्रद समझता है उन विषयों को ले लेता है। इसलिए उसका लक्ष्य विषय का ज्ञान अर्जित करना नहीं बल्कि सरलतापूर्वक उपाधि प्राप्त करना होता है जिसके चलते उसे रोटी कमाने में सुविधा हो। परीक्षा के लिए दर्जनों उपयोगी विषयों में साहित्य भी एक विषय बनकर रह गया है। इसलिए उससे उन उद्देश्यों की पूर्ति की आशा करना व्यर्थ है जो परम्परा से दुहराए जाते रहे हैं। मेरी अपनी धारणा है कि जब तक शिक्षण के उद्देश्य में परिवर्तन नहीं होगा तब तक शिक्षणीय विषयों के प्रति छात्रों की रुचि एवं दृष्टिकोण में भी परिवर्तन नहीं होने का। हिन्दी के पाठ्यक्रम में रामचरितमानस प्राय: सर्वत्र पढ़ाया जाता है और उसका भी विशेषत: अयोध्याकांड, जिसका यह दोहा :

> अनुचित उचित विचार तजि जे पालहिं पितु बेन।
> ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

परीक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। पितृभक्ति सम्बन्धी यह आदर्श परीक्षा भवन की उत्तर-पुस्तिकाओं में व्याख्या का विषय भले ही हो, लोक में बहुत कम पुत्रों को प्रभावित कर पाया है, यह कोई भी दृढ़तापूर्वक कह सकता है। इसीलिए मैंने कहा कि साहित्य की शिक्षा आज निरुपयोगी हो गयी है; वह न आनन्द देने में समर्थ है और न उपदेश। हम चरित्र-निर्माण जैसे भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग केवल आत्मसन्तोष के लिए करते हैं, वास्तविकता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरा प्रश्न मैंने ऊपर यह उठाया है कि साहित्य की शिक्षा का रूप, विषय और पद्धति क्या हो? विचार करने के लिए साहित्य की शिक्षा के तीन स्तरों को अलग-अलग करके देखना होगा —उपस्नातक, स्नातकोत्तर और अनुसंधान। यद्यपि ये तीनों स्तर कुछ दूर तक परस्पर-सम्बद्ध और सापेक्ष हैं, फिर भी तीनों की शिक्षण-विधि में अन्तर है या यों कहें कि अन्तर होना चाहिए। अभी वस्तुतः उपस्नातक और स्नातकोत्तर में कोई मौलिक भेद नहीं, एक तरह से स्नातकोत्तर अध्ययन उपस्नातक अध्ययन का ही विस्तार है। दोनों की दृष्टि, बोध और अभिव्यक्ति में जो बौद्धिक अन्तर होना चाहिए वह पंचानवे प्रतिशत छात्रों में नहीं मिलता। अनुसंधान की भी स्थिति कोई बहुत संतोषप्रद नहीं है। आज एक प्रकार से सभी लोग मान बैठे हैं कि अनुसंधान का उद्देश्य सारस्वत साधना नहीं, अर्थ-साधना है और अर्थ-साधना की प्रेरणा से किए गए अनुसंधान यदि अनुसंधान के उत्कर्ष-बिन्दु तक नहीं पहुँच पाते तो इसमें न खेद होना चाहिए और न आश्चर्य।

हम किन विषयों को पढ़ाएँ, उनमें क्या अनुपात रखें और उनके लिए कौनसी पद्धति अपनाएँ, इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए अनेक विश्वविद्यालयों ने समय-समय पर संगोष्ठियाँ की हैं जिनमें एक-से-एक विद्वान् सम्मिलित हुए हैं। जमकर बातें हुई हैं; खुलकर विचारों के आदान-प्रदान हुए हैं; परिवर्तन का जोर-शोर से समर्थन हुआ है, पर जैसा हमेशा होता है, ये सारे आयोजन शुद्ध बौद्धिक विलास होकर रह गए हैं और कभी कोई निर्णय नहीं हुआ। इसमें जितने द्रव्य, समय और शक्ति का अपव्यय हुआ है उसे सोचकर कभी-कभी गहरा खेद होता है। पर जिस देश में बौद्धिक विलास ही कार्य का प्रतिरूप और पर्याय माना जाता हो, उसमें इस पर खेद करना व्यर्थ है। जिस विषय पर दर्जनों बार आठ-आठ, दस-दस दिनों तक सामूहिक विमर्श करने के बाद भी कोई निर्णय नहीं हो सका, उस पर इस छोटे-से निबन्ध में स्पष्ट, निर्णयात्मक संकेत देना मेरे लिए न सम्भव है और न संगत। फिर भी एक-दो बातों की ओर मैं इंगित करना चाहता हूँ।

विश्वविद्यालय, चाहे भारत के हों चाहे दूसरे देशों के, कुछ दूर तक प्राचीनता के आग्रही होते हैं। जो लोग विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध नहीं होते वे इसे रूढ़िवादिता की संज्ञा दिया करते हैं। बात यह है कि विश्वविद्यालय के शिक्षक जिस परिवेश में काम करते हैं उसमें इस तरह की भावना या संस्कार कुछ दूर तक नैसर्गिक है। इसलिए विश्वविद्यालय का अध्यापक बहुत आलोच्य नहीं माना जाना चाहिए। बहुतों को शायद न मालूम हो कि केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में मैथ्यू आर्नल्ड के बाद की आलोचना का पाठ्यक्रम में समावेश नहीं है, यद्यपि हम जानते हैं कि उसके बाद अंग्रेज़ी के अनेक ऐसे ख्यातनामा आलोचक हुए हैं जिनकी आलोचना दूसरे देशों में भी उपयोगी और महत्वपूर्ण मानी गयी है।

मैं समझता हूँ कि वर्तमान परिस्थिति में इसमें संशोधन की गुंजाइश है। नवीनता की उपेक्षा करना या उसके प्रति तटस्थता बरतना किसी भी साहित्य के लिए हितकर नहीं। केवल प्राचीनता की दुहाई देकर आगे बढ़ना असम्भव है। अतीत की उपलब्धियों को ही सर्वस्व मानना अकर्मण्यता का लक्षण है। इसलिए अतीत से निकलकर हमें वर्तमान और भविष्य पर भी दृष्टि रखनी होगी। समय पर प्रश्रय, प्रोत्साहन और प्रशंसा न प्राप्त होने से बहुत बार उत्कृष्ट प्रतिभाएं भी कुंठित या विनष्ट हो जाती हैं। यह कितना बड़ा विरोधाभास है कि छायावाद के जिन कवियों की रचनाएँ १९३५ तक अपाठ्य मानी गयीं, उन्हीं पर १९६५ तक दर्जनों शोध-प्रबन्ध साभिनिवेश प्रस्तुत कर दिए गए। दृष्टि की जो उदारता १९५० में आविर्भूत हुई वह यदि १९३० के आसपास हुई होती तो साहित्य को अधिक लाभ पहुँचा होता। नई कविता या साहित्य की दूसरी वर्तमान विधाओं को लेकर आज जो असहानुभूतिपूर्ण विचार-वितर्क चल रहा है, वह निश्चय ही दस वर्षों के बाद सहानुभूतिपूर्ण बोध में परिणत होगा और आज जिन्हें हम 'पंक्तिबाह्य' मान रहे हैं उन्हें ही 'पंक्तिपावन' मानकर शिक्षण और शोध का विषय बनाएँगे। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि प्रत्येक नए लेखक को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। यह चाहने पर भी सम्भव नहीं होगा। भक्तिकाल, रीतिकाल या आधुनिक काल के ही बहुत सारे उत्कृष्ट कवियों या लेखकों को पाठ्यक्रम में स्थान नहीं दिया जा सका है, पर इससे उनकी उत्कृष्टता खंडित नहीं होती। पाठ्यक्रम हमेशा ही सीमित और चयनात्मक होगा, पर सहानुभूतिपूर्ण विचार और चर्चा से उसका विरोध कहाँ है? मेरा इतना ही कहना है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी नई प्रतिभा या नई कृति को देखकर उसके प्रति पहली प्रतिक्रिया स्वागत की होनी चाहिए, उपेक्षा की नहीं। दृष्टि-कोण का यह हल्का-सा अन्तर साहित्य की समृद्धि के लिए अकल्पनीय रूप से श्रेयस्कर सिद्ध होगा और इससे प्राचीन-नवीन के बीच की खाई अनायास पटती नजर आएगी।

आलोचक का काम लेखक और पाठक को एक-दूसरे के समीप लाना है। हिन्दी में यह काम अभीष्ट रूप में नहीं हो रहा है, यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं है। इसके कई कारण हैं जिन सबकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। एक-दो बातें सिर्फ ध्यान में रखने की हैं। कुछ आलोचकों की बातें इतनी शास्त्रगूढ़ होती हैं कि पाठकों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता; कुछ आलोचकों की आलोचना निरर्थक वाग्जाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती और कुछ लेखक आलोचना के नाम पर इतनी सतही चीज़ें देते हैं कि उनका पढ़ना, न पढ़ना बराबर है। ऐसी आलोचना बोध का आधार प्रस्तुत न कर अबोध या भ्रांतबोध का कारण बन जाती है। ऐसी ही आलोचना साहित्य की कक्षाओं में भी चलती है। इसलिए वह छात्रों को साहित्य के प्रति उन्मुख करने के बदले उन्हें और भी विमुख बना देती है। किसी अध्यापक के कक्षा से बाहर जाने के बाद छात्रों की प्रतिक्रिया सुनिए तो विनोद के साथ निराशा भी होती है। छात्रों में विषय के प्रति रुचि और जिज्ञासा जगाने वाले अध्यापकों की संख्या कितनी कम है, यह सभी जानते हैं। यदि मैं कहूँ कि महीने में एक नई पुस्तक पढ़नेवाले अध्यापकों की संख्या दस प्रतिशत भी नहीं होगी तो इसका खंडन किसी के लिए आसान नहीं होगा। जब मैं यह कह रहा हूँ तो वे सारे अध्यापक भी मेरे सामने हैं जो देहातों में फैले हुए कालेजों में साहित्य के अध्यापन का कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। उन्हें न तो पुस्तकालयों की सुविधा उपलब्ध है, न नई पुस्तकों की सूचना मिल पाती है और न नए प्रकाशनों को लेने की उन्हें आर्थिक शक्ति है, न बौद्धिक अभिरुचि। अध्ययन-अध्यापन का पिछड़ापन केवल बौद्धिक निष्क्रियता या रुचिहीनता का ही परिणाम नहीं है, उसके लिए सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति की विवशता भी है। मगर विवशता चाहे जो भी हो, उससे परिणाम में कोई फर्क नहीं आता। परिणाम यह है कि साहित्य का अध्यापन सन्तोषप्रद ढंग से नहीं हो पा रहा है।

पाठ्य-विषय का प्रसंग होने से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के सम्बन्ध में कहने का कुछ अव-काश तो है ही, किन्तु इन सब पर थोड़ा-थोड़ा भी कहना इस लेख को अत्यन्त विस्तृत रूप दे देगा। यदि यह प्रसंग आगे चला तो मैं बाद में अधिक विस्तार से अपना विचार व्यक्त करूँगा। अभी इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि इन विधाओं की तुलना में आलोचना को अधिक रचनात्मक बनाने की आवश्यकता है और यह कार्य उसी आलोचना से सम्भव हो सकता है जिसमें ताज़गी, सजीवता और गम्भीरता हो। गम्भीरता का अर्थ क्लिष्टता नहीं है; दोनों दो चीज़ें हैं। गम्भीरता विषय के ज्ञान से उत्पन्न होती है और क्लिष्टता अभिव्यक्ति की अक्षमता से। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना गम्भीर है पर क्लिष्ट नहीं। हिन्दी के लिए यह चिन्त्य परिस्थिति है कि लगभग पचास वर्ष पहले का लिखा हुआ 'साहित्यालोचन' आज भी साहित्यालोचन का सर्वमान्य आधार-ग्रंथ है। इस अवधि में रूप और परिणाम दोनों ही दृष्टियों से साहित्य कहाँ से कहाँ पहुँच गया पर छात्रों को पढ़ायी जाने वाली आलोचना में उसका सम्यक् प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य आदि हम कितने अभिनिवेश से छात्रों को पढ़ाते हैं (मैं स्वयं भी इसका अपवाद नहीं हूँ) पर आज की आलोचना में इसका उपयोग कभी होता भी है ? और तब मैं अपने-आप से पूछता हूँ—इस बौद्धिक व्यायाम की व्यावहारिक उपादेयता क्या है ? आलोचना साहित्य की विशेषताओं के उद्घाटन और बोध में समर्थ होनी चाहिए, इसके बदले आज आलोचना और साहित्य की परस्पर-निरपेक्ष धाराएँ रेल की पटरियों की तरह केवल समानान्तर चल रही हैं पर कभी एक-दूसरी को छूती नहीं। यह स्थिति साहित्य के ह्रासकाल में हुआ करती है। आनन्दवर्द्धन के समय संस्कृत की यही स्थिति थी। ध्वनि-सिद्धान्त जैसी सूक्ष्म, उपयोगी और व्यापक आलोचना-पद्धति से संस्कृत साहित्य ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया और उत्तरोत्तर ह्रास की ओर अग्रसर होते-होते कोरा वाग्जाल बनकर रह गया।

शिक्षण-पद्धति की सदोषता में बहुत दूर तक हाथ आज की परीक्षा-पद्धति का भी है। परीक्षा के घिसे-पिटे, बँधे-बँधाए प्रश्न हैं; चरित्र-चित्रण, शिल्प-विधान, भाषा-शैली, जैसे निश्चित शीर्षकों में गद्य-पद्य, महाकाव्य-खंडकाव्य, नाटक-उपन्यास सबकी आलोचना बैठानी है जो बाज़ारू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नोटों में अनायास उपलब्ध है। स्वभावतः छात्रों में आत्मचिंतन तथा आलोचनात्मक क्षमता का विकास नहीं होता। ●

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता

विश्वनाथ त्रिपाठी

जिसे हम-आप हिन्दी साहित्य कहते हैं वह क्या है? वह हिन्दी प्रदेश यानी मोटे तौर पर हरियाणा से लेकर बिहार और हिमालय की तराइयों से लेकर बुंदेलखण्ड के बीच बसने वाले लोगों के दुख-सुख, उनकी आशा-निराशा या उनकी भावनाओं का इज़हार है। जो लोग भारत के पुराने साहित्य को नहीं जानते या कम जानते हैं। वे साहित्य में आध्यात्मिकता, दूर की उड़ान या लोक से ऊपर का आनन्द ज़्यादा ढूंढ़ते और बताते हैं, लेकिन संस्कृत और प्राचीन भाषाओं के सचमुच के विद्वान जानते हैं कि संस्कृत के सबसे प्राचीन काव्य वाल्मीकि रामायण की पहली पंक्ति अपने ज़माने के और इसी दुनिया के इन्सान (कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके) की कथा से शुरू होती है। जानकारों का कहना है कि संत जेने से हज़ारों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए डाकू कवि वाल्मीकि के इस कथन में साहित्य का सिद्धान्त तो है ही, देवताओं और हमारी रोज़मर्रा की दुनिया से सम्बन्ध न रखने वालों को आधार बनाकर कुछ लिखने से विद्रोह और इन्कार का भाव भी है।

हिन्दी के बारे में संस्कृत साहित्य की यह चर्चा मैंने जान-बूझकर और एक खास उद्देश्य से की है। हिन्दी के कुछ विद्वानों और खास तौर पर विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षाओं में हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने वाले और पाठ्यक्रम तैयार करने वालों पर एक ग़लत तरह की जेहनियत बुरी तरह हावी है। यह प्रवृत्ति कभी प्राचीनता, कभी संस्कृति, कभी राष्ट्रीयता और कभी शुद्ध साहित्यिकता की दुहाई देती है। लेकिन दिक्कत यह है कि ये लोग प्राचीनता, संस्कृति, राष्ट्रीयता या शुद्ध साहित्यिकता के विश्लेषण से हमेशा बचते और कतराते रहते हैं। विश्लेषण और वैज्ञानिकता के इन दुश्मनों ने हिन्दी को कुछ ऐसी चीज़ बना रखा है मानों वह एक हज़ार वर्षों की उत्तरी भारत की साधारण जनता की आशाओं-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति न हो, मानो वह चौके में छुआछूत बनाए रखने वालों का साहित्य हो, मानों वह सिर्फ 'शाकाहारियों' का साहित्य हो, सिर्फ हिन्दुओं का—और उसमें भी केवल सवर्णों का हो, जैसे उससे और गोरक्षा आन्दोलन से कोई बहुत गहरा लगाव हो, जैसे हिन्दी अपने अलावा भारत की और संसार की सारी भाषाओं की दुश्मन हो। नीयत यह और हौसला हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने और उसे यू० एन० ओ० की भाषाओं में स्थान दिलाने का!

मैं इस हौसले को नहीं, नीयत को ग़लत समझता हूँ। हिन्दी साहित्य का रूप वह नहीं है जैसा कि कुछ लोग, चाहे वे विश्वविद्यालयों के कुछ अध्यापक ही क्यों न हों, पेश कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य वह है जो कि उसका इतिहास है। वह उतना ही विविध, उदार, विद्रोही और आधुनिक है जितना कि हिन्दी क्षेत्र की जनता और उसके लोकप्रिय कवि। यह प्रदेश बुद्ध और महावीर जैसे विद्रोही और प्राणी मात्र की समानता का प्रचार करने वाले अत्यन्त लोकप्रिय धार्मिक नेताओं, नाथों और सिद्धों जैसे वर्णाश्रम-व्यवस्था विरोधी और जात-पाँत की घोर निन्दा करने वालों, कबीर और तुलसीदास जैसे उदारमना संत सूफ़ियों की क्रीड़ा-भूमि रहा है। आधुनिक काल ही में १८५७, १९२०, १९२१, १९४२ के जनान्दोलनों का मुख्य क्षेत्र यही प्रदेश रहा है। क्या इस विपुल-विविध और इतना ज़्यादा ऊँच-नीच देखने वाले जन-समूह ने साहित्य के रूप में अपनी जिन भावनाओं को अभिव्यक्त किया है वह ऐसा ही है जैसा कि हिन्दी के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है?

विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में हिन्दी की पढ़ाई के इतिहास पर ग़ौर किया जाए तो एक अजीब तथ्य सामने आता है। हिन्दी में एम० ए० की पढ़ाई १९२० ई० के आस-पास शुरू हुई। तब से लेकर आज़ादी की लड़ाई के दौरान यानी करीब-करीब १९४७ ई० तक विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों ने जो साहित्य लिखा और जो पाठ्यक्रम तैयार किया वह आश्चर्यजनक रूप से लोकवादी (सेकुलर) और प्रगतिशील रहा है। यहाँ विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है, नहीं तो दिखाया जा सकता था कि आधुनिक हिन्दी साहित्य परलोक के स्थान पर इस लोक, ईश्वर की जगह पर मनुष्य और निजीपन की जगह पर सामाजिकता की स्थापना करते हुए जनम ही लेता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माताओं का आग्रह भौतिक विज्ञान पर आज से कहीं ज़्यादा दिखलाई पड़ता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी अंग्रेज़ी, बँगला, मराठी, उर्दू पुस्तकों और पत्रिकाओं से वैज्ञानिक लेखों का अनुवाद करके 'सरस्वती' में छापते थे। इस वैज्ञानिक दृष्टि के कारण उनका दिल व दिमाग़ खुला हुआ था। हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं के बारे में इनका क्या दृष्टिकोण था वह उन्हीं के शब्दों से जाना जा सकता है। हिन्दी वालों को उर्दू भाषा और साहित्य का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं—"उर्दू का साहित्य-समूह हिन्दी से बढ़ा-चढ़ा है। इस बात को क़बूल करना ही चाहिए।···उर्दू में इस समय अनेक विषयों के कितने ही ऐसे ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनका नाम तक हिन्दी में नहीं। उर्दू लेखकों में शम्स-उल उलमा हाली, आज़ाद, ज़काउल्ला, नज़ीर अहमद आदि की बराबरी करने वाला हिन्दी में शायद ही कोई हो" (ज्ञान-भारती, पृ० ९६)। इस परम्परा को आगे बढ़ाया पं० रामचन्द्र शुक्ल ने। हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक थे। उन्होंने अपना लेखक जीवन 'माडर्न रिव्यू' और 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में अंग्रेज़ी लेखन से शुरू किया था। हिन्दी का अध्यापक बनने की उन्होंने कितनी तैयारी की थी यह देख लेना चाहिए। चौदह वर्ष की आयु में ही उन्होंने एडिसन के 'ऐसे ऑन इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' नाम से किया था। मेगस्थनीज़ की पुस्तक का अनुवाद 'भारत विवरण' नाम से किया था। एडविन अर्नाल्ड की पुस्तक 'लाइट ऑफ़ एशिया' का छन्दोबद्ध अनुवाद 'बुद्धचरित' नाम से किया था। राखालदास वन्द्योपाध्याय के बँगला उपन्यास 'शशांक' का अनुवाद किया था। एक और पुस्तक का हिन्दी अनुवाद उन्होंने किया था, वह थी जर्मन वैज्ञानिक हैकल की विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'रिडिल ऑफ़ यूनिवर्स'। इस पुस्तक का परिचय देते हुए उन्होंने जो लिखा था वह देखने लायक है—"आज जर्मनी के जगद्विख्यात वैज्ञानिक हैकल की पुस्तक हिन्दी पढ़ने वालों के सामने रखी जाती है। यह अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धान्त ग्रन्थ है···इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें इसके प्रतिवाद में निकलीं।" हैकल की यह अनूदित पुस्तक १५२ पृष्ठों की है। शुक्लजी ने इसकी भूमिका १५५ पृष्ठों की लिखी है। भूमिका की शुरुआत में ही वे लिखते हैं—"जहाँ पहले लोग छोटी-से-छोटी बात के कारण को न पाकर ईश्वर की ओर दौड़ते थे वहाँ चारों ओर विज्ञानों के द्वारा कार्य-कारण की ऐसी कड़ी मौजूद हो गई है कि बीच में ठिठकने की कोई ज़रूरत नहीं रह गई।" हिन्दी के इस अध्यापक आलोचक ने यह भूमिका १९२२ ई० में लिखी थी और इस नतीजे पर पहुँचा था कि सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है उनके सम्बन्ध में जो प्राचीन पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ हैं वे अब ढाल-तलवार का काम नहीं कर सकतीं। अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके उस सीमा पर जाएँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं।

यानी इन लोगों ने भौतिक विज्ञान का परिचय प्राप्त करके वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया था। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने साहित्य में दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए थे: साहित्य में लोकमंगल या लोकवादी सिद्धान्तों की स्थापना और प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन। शुक्लजी ने सैद्धान्तिक स्तर पर साहित्य का स्रोत जीवन प्रमाणित किया। इसके लिए उन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्यशास्त्र के आधार पर किन्तु उससे अलग हिन्दी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र की नींव डाली। पुनर्मूल्यांकन में उन्होंने तुलसी और सूर की लोकवादी व्याख्या करके उन्हें साहित्य में फिर से स्थापित किया। सूफ़ी कवि मलिक मुहम्मद जायसी की कविताओं की मार्मिक व्याख्या करके उन्हें हिन्दी का महाकवि ही नहीं सिद्ध किया बल्कि उन मुसलमान सूफ़ी कवियों को, जो अपनी मसनवी अल्लाह, हज़रत मुहम्मद, उनके चारों दोस्तों और शाहे वक्त की वन्दना से शुरू करते हैं—भक्त कवियों की श्रेणी यानी तुलसी, सूर और कबीर की श्रेणी में रखा। जायसी महाकवि के रूप में हर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में रखे गए। भाषाविज्ञान आज भी नवीन विषय समझा जाता है। लेकिन काशी और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में यह विषय सन् '२० के आसपास से ही पढ़ाया जाने लगा।

शुक्लजी की मृत्यु १९४० ई० में हुई और उसी वर्ष शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन के अध्यक्ष पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' निकली। इस पुस्तक की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास को अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के संदर्भ में देखा गया है। हिन्दी साहित्य के विषय में यह एक अकेली पुस्तक है जो ग़ैर हिन्दी वालों को भी ध्यान में रखकर लिखी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई है। इसमें एक तो हिन्दी साहित्य को जनता की संस्कृति और देश के इतिहास के साथ-साथ रखकर देखा गया है, दूसरे इसमें यह बात भी अच्छी तरह और पहली बार दिखाई गई है कि अशिक्षित जनता के रीति-रिवाजों, सामान्य विश्वासों ने ऊँचे-से-ऊँचे साहित्य को भी कितना प्रभावित किया है।

वस्तुतः उस समय हिन्दी के विद्वान अध्यापक आधुनिकता की रोशनी में पुराने साहित्य का पुनर्मूल्यांकन कर रहे थे। द्विवेदीजी ने अपभ्रंश काव्य, आदिकालीन साहित्य और कबीर की भी व्याख्या सामान्य मनुष्य और लोकजीवन के विकास के साथ-साथ की।

इस प्रकार स्वतंत्रता के पूर्व हिन्दी विभाग निश्चित रूप से लोकवादी वैज्ञानिक आधुनिक और प्रगतिशील रहे हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल और द्विवेदीजी दोनों के इतिहास ग्रन्थ पहले क्लास में विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए 'नोट्स' के रूप में तैयार किये गए थे। डॉ० श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' (और उन्हीं का 'भाषा रहस्य' भी) विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखा गया था। इस दृष्टि से देखें तो आज उल्टी स्थिति है। शुक्लजी, द्विवेदीजी, डॉ० श्यामसुन्दरदास के छात्रोपयोगी नोट्स ने साहित्य और साहित्य के इतिहास की नवीन और वैज्ञानिक व्याख्या की है, जबकि आज पत्र-पत्रिकाओं, आकाशवाणी और समृद्ध प्रकाशकों के यहाँ से प्रकाशित ऊँचे दामों वाली चमचमाती हुई किताबें अच्छे विद्यार्थियों के भी काम की नहीं होतीं। बात कहने-सुनने में अजीब लगती है, लेकिन है सच कि स्वतंत्रता के बाद विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों की दृष्टि विशाल बनने के बजाय संकुचित हुई है। जिस क्षेत्र में संकुचित नहीं हुई है वहाँ भी ठहरी हुई है। यह बात ठोस उदाहरणों से साबित की जा सकती है। 'छायावाद' १९४० के पहले तक नया काव्य-आन्दोलन समझा जाता था। प्रसादजी शुक्लजी के समकालीन थे। वे प्रसाद के प्रशंसकों में से न थे लेकिन उस समय का नया महाकाव्य 'कामायनी' उनके विभागाध्यक्ष होते हुए ही पाठ्यक्रम में लगा था। जहाँ तक मुझे पता है आज कहीं भी किसी प्रगतिवादी कवि या अज्ञेय की भी कोई कविता पुस्तक एम० ए० में नहीं लगी है। 'भाषा रहस्य' में अपने समय की भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों को समेट लिया गया है। आज हिन्दी विभागों में भाषाविज्ञान के नाम पर जो पढ़ाया जाता है वह 'भाषा रहस्य' से आगे का नहीं उससे भी पीछे का मालूम पड़ता है। पश्चिमी समालोचना के क्षेत्र में आज भी 'साहित्यालोचन' निर्धारित है। यह नहीं कि आज भाषाविज्ञान या पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्रों में हम आधुनिक बन नहीं सकते। पहले हिन्दी के लोगों को ही हिन्दी में लिखने के लिए अंग्रेज़ी पढ़नी होती थी। आज अंग्रेज़ी साहित्य के ही ऐसे अध्यापकों की कमी नहीं है जो अवसर दिए जाने पर हिन्दी में लिख सकते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० रामअवध द्विवेदी, विजयदेव नारायण साही, प्रकाशचन्द गुप्त अंग्रेज़ी के सफल अध्यापक हैं, आज हिन्दी के विद्यार्थियों को इनसे लाभ उठाने का क्या अवसर दिया जा रहा है? अंग्रेज़ी के अध्यापक अब हिन्दी में लिखने में लज्जा या ग्लानि का अनुभव नहीं करते। उदाहरण के लिए आलोचना के एक अंक में ही अंग्रेज़ी के अध्यापकों—युवा अध्यापकों ने इलियट और नई आलोचना, शिकागो आलोचक और नार्थ्रपफ्राई की आलोचना जैसे नवीन विषयों पर हिन्दी में ही लेख लिखे हैं। लेकिन ज़माना वह है कि पढ़े-लिखे लोगों की जात को अब महापुरुष मुँह नहीं लगाते।

इससे कहीं अधिक चिन्ताजनक स्थिति साहित्य के पाठ्यक्रम और अध्ययन-अध्यापन की है। लगता है जैसे जान-बूझकर हिन्दी साहित्य की विद्रोही और जनवादी परम्परा को नज़रन्दाज़ किया जा रहा हो। अंग्रेज़ी में चासर पढ़ाया जा सकता है किन्तु हिन्दी में स्वयंभू पुष्पदन्त, अब्दुल रहमान जैसे अपभ्रंश के महाकवि नहीं। हालत यह है कि हिन्दी अध्यापकों और विद्यार्थियों की नई पीढ़ी अपभ्रंश साहित्य की अपनी महान् परम्परा से वंचित की जा रही है। परम्परा और संस्कृति की दुहाई देने वाले अपभ्रंश साहित्य, जिसे पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान पुरानी हिन्दी कहते हैं, से कोई प्रेम नहीं दिखाते। क्या कारण है? कारण यह तो नहीं है कि अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य वर्णाश्रम व्यवस्था, कर्मकाण्ड आदि का विरोधी है। क्या यह कारण तो नहीं है कि उसमें "आवागमन तो मेंट नहीं पाता और निर्लज्ज अपने को पंडित कहता है" जैसी पंक्तियाँ हैं। क्या १२वीं शताब्दी के भारत के प्रथम मुसलमान कवि अब्दुल रहमान, जो अपने को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं का मर्मज्ञ कहते हैं, हमारी उपेक्षा के योग्य हैं? क्या उनका नाम देखकर ही हम नहीं जान लेते कि वास्तविक हिन्दी साहित्य के पहले भी भारतीय भाषाओं की साहित्य-रचना में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुसलमानों का हाथ रहा है।

पुराना साहित्य तो पुराना साहित्य, नए साहित्य के प्रति भी हमारा रवैया बहुत दकियानूसी है। नए साहित्यकारों में विश्वविद्यालयों द्वारा सबसे अधिक उपेक्षित निराला रहे हैं। बहुत कहने सुनने पर उनकी कोई कविता रखी भी जाती है तो उनकी एक बहुत पुरानी कविता 'तुम और मैं' जो जीव और ब्रह्म को लेकर लिखी गई है। कुछ विश्वविद्यालयों के एम० ए० पाठ्यक्रम में उनकी सबल कविता 'राम की शक्ति-पूजा' अवश्य निर्धारित है, जो निश्चय ही प्रशंसनीय है, लेकिन पाठ्यक्रम में किसी कविता का रखा जाना जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्वपूर्ण यह है कि कविता की व्याख्या कैसे की जाती है। मुझे इस कविता के पढ़ाए जाने की पद्धति में गहरी जिज्ञासा है क्योंकि अब तक हिन्दी के किसी वरिष्ठ अध्यापक ने 'छायावाद की उपलब्धि' इस सशक्त कविता पर कोई स्वतंत्र लेख भी नहीं लिखा है, जबकि दूसरे कवियों विशेषकर हिन्दी विभागों के दुलारे कवियों मैथिलीशरण गुप्त और सुमित्रानंदन पंत की अनेक अपेक्षाकृत कमज़ोर कृतियों पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखी गई हैं। निराला की अन्य सशक्त कविताएँ जैसे, 'बादल राग' या 'तोड़ती पत्थर', 'सरोज स्मृति' मेरी जानकारी में, कहीं नहीं हैं। नीची कक्षाओं में प्रेमचन्द की भी 'कफ़न', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'नशा', 'ईदगाह', 'दो बैलों की कथा' जैसी कहानियाँ बहुत कम निर्धारित दिखलाई पड़ती हैं। इस मामले में 'बूढ़ी काकी' और 'बड़े घर की बेटी' ही बाज़ी मार ले जाती हैं। यहाँ एक और गम्भीर तथा अत्यन्त चिन्ताजनक खतरे की ओर इशारा करना निहायत ज़रूरी है। इधर विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापकों का एक ऐसा दल खड़ा हुआ है जो साहित्य को तो इलहाम समझता ही है, आलोचना और अध्यापन को भी इलहाम समझता है और अपने को पढ़ा-लिखा नहीं, प्रतिभाशाली (जीनियस) कहलाने में विश्वास करता है। इनकी एक मान्यता यह है कि हिन्दी के पुराने विद्वान सूफ़ी कवियों की चालाकी को समझ नहीं पाए थे। सूफ़ी कवि कट्टर थे और वे भोली-भाली हिन्दू जनता में इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। मैं इस कथन से ज्यादा खतरनाक साहित्य को समझने-समझाने की इस प्रवृत्ति को समझता हूँ। उनके साहित्य को पढ़-लिखकर उनकी निष्पक्ष आलोचना करने के बजाय उनके उद्देश्य पर फतवे देना कहाँ की आलोचना है। और अगर साहित्य का इतिहास समझने-समझाने की इतनी ही लगन है तो यह भी जान लेना चाहिए कि धर्म समूचे मध्यकालीन साहित्य की प्रेरणा है। सूफ़ी ही नहीं, कबीर, सूर, तुलसी सभी अपने मत का प्रचार एक सीमा तक करते थे।

वस्तुतः हुआ यह है कि स्वतंत्रता के उपरान्त विश्वविद्यालयों के अधिकांश हिन्दी विभाग और अध्यापक, विश्वविद्यालयों की चारदीवारियों में बन्द हो गए हैं। बाहर संसार में ज्ञान-विज्ञान, राजनीति में क्या हो रहा है, इसकी ओर ध्यान देने का उन्हें कोई चाव ही नहीं है। लेकिन साहित्य को समझने-समझाने की दृष्टि भी आखिरकार हमें समाज से मिलती है। रीतिकाल के आलोचक और आधुनिक आलोचक एक ही साहित्य पर अलग-अलग राय क्यों देते हैं? जिसे अर्थ का विस्तार कहा जाता है वह समाज के विकास से ही तो सम्भव होता है। इस संकीर्णता का प्रभाव पाठ्यक्रमों के निर्धारण और अध्यापन पर लाज़िमी तौर पर पड़ा है। पाठ्यक्रम के निर्धारण की समस्या अध्यापकों की सामाजिक चेतना से अलग नहीं है। अच्छी-से-अच्छी कविताएँ भी सफल और सजग अध्यापन के अभाव में अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाएँगी। यह समझना कि विश्वविद्यालय और अध्यापक साहित्य में यथास्थिति बनाए रखने के लिए हैं, गलत और हानिकर है। अध्यापक बढ़ते हुए मानवीय ज्ञान और मानवीय संवेदना का परिचय छात्रों को देने के लिए हैं। विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का सम्पर्क विश्वविद्यालयों के बाहर के सर्जक साहित्यकारों से या तो बिलकुल टूट गया है या बहुत कम रह गया है। साहित्य की रचना और उसके अध्यापन की इस बढ़ती हुई खाई को पाटना आवश्यक है और यह कोई ऐसा मुश्किल काम नहीं है। हमारे छात्र सिर्फ़ विश्वविद्यालयों की ही दुनिया में नहीं रहते हैं। अगर हम नहीं तो वे बाहर की ज़िन्दगी, उसकी संवेदनाओं में ज़रूर साँस लेते हैं। इसके पहले कि वे विश्वविद्यालयों की दमघोंटू दीवारों पर ज़ोर आज़माइश करें हमें ही ताज़ी हवा और नई रोशनी का इन्तज़ाम कर देना चाहिए।

आज हमारी शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य देश में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रचार और प्रसार है। विज्ञान का प्रचार तो वैज्ञानिक ही कर सकते हैं किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रचार साहित्यकार और साहित्य के अध्यापक भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभावशाली ढंग से कर सकते हैं। हमारे देश की आधुनिकता यानी उसकी सर्वांगीण उन्नति में इसके प्रचार और प्रसार की सबसे ज्यादा जरूरत है। दबी ज़बान से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी प्रदेश देश का निर्णायक और गत्वरता की क्षमताओं से मुक्त प्रदेश है। यह देश का दुर्भाग्य है कि इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश में अन्धविश्वास, अशिक्षा, प्रतिक्रियावादिता, रूढ़िवादिता भी बहुत ज्यादा है। इससे भी बढ़कर दुर्भाग्य की बात यह है कि अभी तक हिन्दी का नेतृत्व कमोबेश रूढ़िवादी और पुराणपंथी लोगों के ही हाथ में रहा है। इससे हिन्दी की हानि हुई है। अन्य भाषा-भाषियों ने हमारे प्रति एक सन्देहवादी दृष्टि अपना ली है। इसकी जिम्मेदारी केवल राजनैतिक नेताओं पर ही नहीं—विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों पर भी है—उसी सीमा तक जिस सीमा तक उनका प्रभाव समाज पर पड़ता है। हमारे हिन्दी विभाग इस स्थिति को दूर करने में सहायक भी हो सकते हैं—पाठ्य-क्रम और शिक्षा-पद्धति को वैज्ञानिक बनाकर। कैसे ?

अंग्रेज़ी में बी० ए० पास के विद्यार्थियों के लिए 'दि इम्पैक्ट ऑफ़ साइंस ऑन सोसायटी' (बर्ट्रेन्ड रसेल) जैसी पुस्तकें निर्धारित की जाती हैं तो हिन्दी में केवल साहित्य और एक हद तक उबाऊ और घिसा-पिटा साहित्य पढ़ाया जाता है। न जानने वाले पूछेंगे कि हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य कहाँ है ? उत्तर है, राहुलजी का मानव समाज, विश्व की रूपरेखा। राहुलजी के नाम से चिढ़ें तो पं० रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा अनूदित 'विश्व प्रपंच' की भूमिका है। हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य आज से नहीं भारतेन्दु-युग से ही पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहा है। पढ़ने का कष्ट करें तो देखेंगे कि अभावों में संघर्ष करके हिन्दी की सेवा करने वाले लेखक हिन्दी भाषी जन-समुदाय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार करने के लिए छटपटा रहे थे। लेकिन इन लेखों को पाठ्य-पुस्तकों में सम्मिलित कैसे किया जाए ? ढूँढ़ने और परिश्रम करने की फ़ुरसत और इच्छा चाहिए। और भी कई चक्कर हैं। मैंने बी० ए० की अंग्रेज़ी किताब में 'वोलगा से गंगा' की अनूदित कहानी 'प्रभा' पढ़ी थी। हिन्दी के सवाल के लिए कम्यूनिस्ट पार्टी से निष्कासित त्रिपिटिकाचार्य महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का, जिनके पैर ल्यूडर्स ने छुए थे, जो लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में 'बुद्धिस्ट लॉजिक' के लेखक श्चेर्बात्स्की द्वारा निमंत्रित किये गए थे, एक भी लेख हिन्दी के उच्च पाठ्यक्रम में मैंने कहीं नहीं देखा। हिन्दी प्रदेश की सारी विविधताओं, परम्पराओं का प्रतिनिधित्व हिन्दी विभागों को करना चाहिए। इसके साथ-साथ वैज्ञानिकता का सहारा लेकर हमें आगे भी बढ़ना है। काम केवल भूषण, मतिराम, बाबू गुलाबराय और सेठ गोविन्ददास से नहीं चलने का—उन्नति करनी है तो सरहपा, कबीर, मीर, नज़ीर अकबराबादी, निराला, राहुल और रामविलास शर्मा, रसेल भाभा जैसों को साथ लीजिए—नहीं तो विश्वविद्यालयी हिन्दी संयुक्त राष्ट्रसंघ और तमिलनाडु में तो क्या पहुँचेगी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, मध्य प्रदेश, बिहार के भी लोगों की दुश्मन हो जाएगी। हिन्दी साहित्य और होगा, हमारे विभागों का साहित्य और होगा। कामना है कि ऐसा न हो। ●

कविता के अध्यापन की रूढ़ियाँ

परमानन्द श्रीवास्तव

विश्वविद्यालयों में कविता आज के युवकों को ठीक से पढ़ाई जाने लगे—इस तरह कि उनकी कल्पनाशीलता विकसित और जाग्रत हो सके, तो आने वाले समय के निर्माण में उनकी भूमिका कुछ और होगी—पर यह तो हुई आदर्श की बात—स्थितियाँ जैसी हैं, यह उम्मीद नज़र नहीं आती कि आसानी से कविता या साहित्य के अध्यापन की वे रूढ़ियाँ दूर हो सकेंगी जिनका दायरा इतना विस्तृत है कि उसमें आचार्य-अध्यापक और अध्ययन-रत छात्र सभी आ जाते हैं—यही रूढ़ियाँ कविता के विद्यार्थी-पाठक को उसके आन्तरिक संसार में जाने से पहले ही रोक लेती हैं—कविता में शब्दार्थ-सम्बन्धों की निजी विशिष्टता (जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'स्थिर' न होकर 'लचीला' और 'सृजनात्मक' होता है, 'एक और एक' का न होकर 'एक और अपरिमित' का होता है) से परिचित होने से पहले ही अन्य सरलीकृत युक्तियों से उनके प्रति उसकी दिलचस्पी ही समाप्त कर देती हैं। हमारे विश्वविद्यालयों में कविता का अध्यापन जिस दृष्टिकोण से या कौशल से प्रायः किया जाता है उससे तो अच्छा होगा कि कविता का अध्यापन कुछ दिनों के लिए बन्द कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar
पुस्तकालय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाय और यही प्रयोग (जब तक उसकी भी अपनी 'शैली' नहीं बन जाती) किया जाय कि कुछ चुनी हुई कविताएँ विद्यार्थी-पाठकों को स्वतः पढ़ने के लिए दी जायँ—सम्भव है अपने-आप उन्हीं कविताओं को पढ़कर वे कुछ दूसरे ढंग के उन अतिरिक्त पूर्वग्रहों से बच जाएँ जो उनकी सर्जनात्मक ग्रहणशीलता के सहज मार्ग में अवरोध उपस्थित करते हैं—उन पूर्वग्रहों से जो वर्ष-प्रतिवर्ष उनके सिर मढ़ दिए जाते रहे हैं। उन पूर्वग्रहों के चलते रचना या भाषा का मर्म तो अप्रासंगिक बना रहता है और 'तर्यौना' शब्द में श्लेष है—वह भी सभंग—इतना ही दिमाग में बचा रहता है।

मध्यकालीन कविता पढ़ाने तक तो ये युक्तियाँ चल भी जाती हैं कि यहाँ वक्रोक्ति है, यहाँ विभावना, यहाँ परिसंख्या या मुद्रा या परिकरांकुर—(हालाँकि यहाँ भी यह देखने की कोशिश कम की जाती है कि अलंकार जैसे उपादान का रस, ध्वनि आदि दूसरे उपादानों से कहाँ और क्या विशिष्ट सम्बन्ध है!)—विद्यार्थियों पर आचार्यत्व का आतंक भी स्थिर ही हो जाता है—आगे की कविता पढ़ाते समय असली मुश्किल पैदा होती है—कुछ ईमानदार व्याख्याता-अध्यापक तो सचमुच 'सांसत' में होते हैं, पूछताछकर काम चलाते हैं और अक्सर उन्हें गलत राय भी मिलती है—इनकी संख्या फिर भी नगण्य होगी—ऐसे मँजे हुए और कुशल खिलाड़ी, अध्यापक अधिक मिलेंगे जो छायावाद की सूक्ष्म अर्थ-छायाओं वाली कविता को भी मनमानी दिशाओं में हाँक ले जाएँगे—जैसे वे अर्थमीमांसा की चिन्ता छोड़कर विद्यार्थियों का ध्यान इस ओर खींचना चाहेंगे कि प्रसाद की कविता में व्यक्तिगत प्रेम का फलाँ पहलू है या महादेवी की कविता में···और नतीजा यह होता है कि विद्यार्थियों के मुक्त ठहाके में कविताओं की पंक्तियाँ और उन्हें समझने-समझाने की दिक्कतें दोनों हवा हो जाती हैं। यह सब बचाव की युक्तियाँ हैं जिन्हें हमारे विश्वविद्यालयों के अभ्यस्त अध्यापक ज्यादातर काम में लाते हैं (हमारे देश के असंख्य महाविद्यालयों में कविता के अध्यापन की अवस्था और भी खराब है जहाँ आश्चर्य नहीं कि राजनीति का अध्येता समय पाकर पंत-महादेवी की कविताएँ भी पढ़ा आता हो)—और कविता के नए या बारीक या गहरे अर्थों के लिए बिलकुल परेशान नहीं होते—पदों की 'सन्दर्भ सहित व्याख्या' बनाने या पूछने के लिए ये युक्तियाँ काफ़ी हैं। यहाँ तक कि कविता की भाषा में जो खास तरह का संगीत है, जो काव्य-पंक्तियों को पढ़ने की लय को नियंत्रित करता है और उन्हें अर्थ देता है—उसे भी वे नज़र-अन्दाज़ कर जाते हैं। उदाहरण के तौर पर विद्यापति की कविता पढ़ानी हो तो उनके लिए सद्यःस्नाता वाले चित्र का बाह्य रूमान ही काफी है—शब्द और शब्द के बीच फिसलता हुआ रूमान—फिर कौन फ़िक्र करता है उस 'देसिल बयना' की जो सौन्दर्य संवेदना के बारीक-से-बारीक उपकरणों से समृद्ध है। इनकी पहचान के बिना विद्यापति की कविता की आन्तरिक सत्ता से साक्षात सम्भव नहीं है—न हो—उनके लिए तो फिसलता रूमान 'कवच' है—अर्थमीमांसा की मुश्किलों से बचाता है। और तो और, अलंकार की हर पल चर्चा करने वाले कितने ही अध्यापक हैं जो 'बिम्ब' शब्द से चौंक उठते हैं—वे 'पृथ्वीराज रासो' की उत्तेजक गतियुक्त बिम्बों वाली पंक्तियाँ पढ़ा जाएँगे और बिम्बधर्मिता से अनजान बने रहेंगे—'चिराग तले अँधेरा'! अपवाद ज़रूर होंगे—ऐसे अध्यापक तो आखिर विश्वविद्यालयों में भी हैं ही, जिनकी रचना की पहचान असंदिग्ध है—कम-से-कम जो इन सवालों से उलझते ज़रूर हैं और विद्यार्थियों को रचना के निजी संसार में लाने के लिए, उन्हें उत्सुक बनाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, पर इस विडम्बना का सामना तो उन्हें करना ही पड़ता है कि अक्सर उनके मार्मिक और अर्थपूर्ण संकेतों पर उनके विद्यार्थी चौंकते हैं—कई-कई सालों से एक ही यांत्रिक प्रभावहीन ढंग से कविता पढ़ते-पढ़ते उनकी काव्यरुचि इतनी बद्ध और सीमित हो जाती है कि—'मेरी भव बाधा हरौ' के तीन-तीन अर्थ तो उन्हें समझ में आते हैं, पर यह संकेत उनके लिए अबूझ रहस्य बना रहता है कि निराला ने यहाँ 'अथवा' जैसे साधारण शब्द का इतना सार्थक, काव्यात्मक प्रयोग किया है—'उसका एक स्वप्न अथवा है'—शब्द जो कविता की दो दुनियाओं को एक-दूसरे से अलग करता है और नियति की विडम्बना को प्रकाशित करता है। अधिकांश विद्यार्थी इन संकेतों को अन्त तक नहीं पकड़ पाते और कुंजियों से ही काम चलाते हैं—वे उत्तीर्ण भी हो ही जाते हैं और कहीं अध्यापक हुए तो कविता की इसी व्यापक हत्या के अभियोग में शामिल हो जाते हैं—कविता की हत्या का यह प्रसंग है तो इतना ही भयानक—यदि इसका असर इस पर देखा जाय कि एक पीढ़ी-की-पीढ़ी किसी तरह की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्जनात्मक चिन्ताशीलता से विमुख कर दी गई है—पर लगता है हमारे विश्वविद्यालयों के अधिकारी और सहृदय विद्वानों ने भी इस स्थिति को स्वाभाविक मान लिया है। आश्चर्य है कि 'आलोचना' इस विषय पर संवाद चलाने जा रही है—पिछले दिनों काव्यभाषा की चर्चा को 'आलोचना' ने जितनी गम्भीरता से प्रस्तुत किया है वह एक अनोखा ही अनुभव है—मुश्किल यह है कि जिन अध्यापकों पर कविता के इस निष्क्रिय या तर्कहीन या सरलीकृत अध्यापन के बहाने होने वाली कविता की बड़े पैमाने पर हत्या का सीधा अभियोग है वे न 'काव्यभाषा' सम्बन्धी बहस से सीखेंगे न इस संवाद से—क्योंकि वे पूर्णतः सन्तुष्ट हैं। वे न पढ़ाते निराला की कविताएँ—कबीर की ही सही, कविता पढ़ाने के लिए मन में थोड़ी खरोंच तो पैदा करते और देखते, कि कबीर की नितान्त सीधी शब्दावली में जो काव्यात्मकता है उसके उपादान क्या हैं—कबीर की उलटवासियों में ही जो काव्य-तत्त्व है उसे वे समझ सकें तो आज के कवि रघुवीरसहाय की 'विडम्बना' भी कल ज़रूर समझेंगे।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण समस्या कविताओं के चुनाव की भी है। अक्सर विश्वविद्यालयों में ऐसे काव्य-संकलन पढ़ाए जाते हैं जिन्हें देखकर कोफ़्त होती है। इधर कुछ विश्वविद्यालयों का ध्यान इस दिशा में ज़रूर गया है। हमारे विश्वविद्यालय (गोरखपुर) में भी यह बात उठाई गई है कि अच्छी कविताओं का विश्वविद्यालय का अपना प्रामाणिक संकलन होना चाहिए जिनके चुनाव के पीछे काव्यतत्त्व की दृष्टि, कृतिकार की आंतरिक मानसिकता को सामने लाने की दृष्टि प्रमुख होगी। अच्छा होगा कि ऐसे संकलनों में व्याख्या-टीका के स्थान पर महत्त्वपूर्ण कविताओं की काव्यानुभूति की बनावट, वाक्यगठन, लय का विधान, बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया आदि से सम्बन्धित कुछ विश्लेषणपरक टिप्पणियाँ दी जाएँ—जो उद्देश्य की गम्भीरता के अनुरूप विद्वान् अध्यापकों या लेखकों से लिखायी जाएँ। ऐसे संकलनों की कुंजियों का प्रकाशन सर्वथा निषिद्ध होना चाहिए। साथ ही विश्वविद्यालयों को समय-समय पर ऐसे 'सेमिनार' आदि भी आयोजित करने चाहिए जिनमें कविता के मर्म या कविता की भाषा आदि के सम्बन्ध में अध्यापकों-विद्यार्थियों के बीच मुक्त संवाद सम्भव हो सके।

यह प्रश्न आज अधिक विचारणीय इसलिए भी है कि इन दिनों साहित्य के अध्यापन की दिशा में कहीं थोड़ी-बहुत प्रगति के साथ स्तरीय ह्रास अधिक हुआ है—पहले के आचार्य कम-से-कम शब्दानुशासन के कायल और शब्द या अर्थ में निहित विच्छित्ति या चमत्कार के अन्वेषक थे—अब वह बात भी नहीं रही। शब्द की उपेक्षा हुई तो पूरे काव्यात्मक वाक्यविन्यास की उपेक्षा तो होगी ही। निराला की ये पंक्तियाँ :

> स्नेह-निर्झर बह गया है।
> रेत ज्यों तन रह गया है।
> आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
> कह रही है—अब यहाँ पिक या शिखी
> नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूं लिखी
> नहीं जिसका अर्थ—
> जीवन दह गया है।

अर्से से पढ़ाई जा रही हैं—इनके वाक्य-गठन में जो खास तरह की परिवर्तित लय है—लय का विशिष्ट नियंत्रण है—टेक का जिससे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं—दूसरे शब्दों में पंक्तियों के कहीं बीच में ही टूटने में जो 'कविता' है—कितने अध्यापकों का ध्यान उस पर जाता होगा।

> स्नेह-निर्झर बह गया है।
> रेत ज्यों तन रह गया है।

इन सीधी-सामान्य उक्तियों में जो 'कविता' है उसे समग्र अवतरण के यथातथ्य बिम्बों से सम्बद्ध मूक पर गहरे दबावों से अलग और अनजान रहकर उपलब्ध करना असम्भव होगा।

> अब यहाँ पिक या शिखी
> नहीं आते,

—यहाँ कितना सार्थक और काव्यात्मक अन्तराल है और वही पूरे अवतरण की अर्थव्यंजना को तीव्रतर बनाता है—यहाँ कविता के पूरे अवसाद को ग्रहण करने का एक ही रास्ता है—इन अन्तरालों की काव्यात्मकता समझने के लिए यथा-स्थान रुकना—यहाँ भाषाशास्त्र और साहित्यशास्त्र का मिला-जुला विवेक उपयोगी होना चाहिए पर यह देखकर आश्चर्य होता है कि कविता में ध्वनि तत्त्व या वाक्य तत्त्व के विशिष्ट गठन के प्रति वे अध्यापक भी उदासीन हैं जो अलग से उसी कक्षा को भाषाविज्ञान पढ़ाते हैं। जब तक 'संदर्भ सहित व्याख्या' पूछने का क्रम समाप्त कर काव्य-प्रक्रिया पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही प्रश्न नहीं पूछे जाते, स्थिति यही रहेगी।

कुछ दिन पहले तक हमारे विश्वविद्यालय में उपाधि कक्षा के विद्यार्थियों को 'राम की शक्तिपूजा'-जैसी लम्बी और विशिष्ट कविता पढ़ाई जाती थी—इस कविता का जो विशाल परिप्रेक्ष्य है, विशाल और नाटकीय संक्रमण या तनाव का आवेग है—जो पढ़ते हुए मन में बेचैनी पैदा करता है, दृष्टि देता है कि संदेह राम के मन में ही नहीं, निराला के मन में भी है—बहुत कोशिश करने पर भी इस कविता का पुनर्सृजन विद्यार्थियों के मन में नहीं हो पाता था। कारण, वही साल-दर-साल की कविता की पढ़ाई से बने हुए संस्कार बाधक होते होंगे। उन्हें बताइए 'हेतुत्प्रेक्षा'—वे हाशिए पर लिख लेंगे पर कविता के अर्थ-संसार में जो छूटी हुई जगहें हैं, एक और दूसरे अर्थ के बीच जो मूक फासले हैं, दूरियाँ हैं, उन्हें वे भला कैसे समझेंगे! काव्यशास्त्र के गम्भीर सवालों से कटे हुए अध्यापकों में नए-पुराने दोनों ही हैं—किसी सर्जनात्मक कृति को जाँचने के लिए काव्यशास्त्रीय उपकरणों का दृष्टि-सम्पन्न उपयोग करने की जैसी आवश्यकता है उसके प्रति सचेत अध्यापकों की संख्या कम-से-कम है। 'सीधे' शब्दों में भी जो स्मृति सम्बन्धों की 'सघनता' होती है उसकी चिन्ता कम अध्यापकों को होगी। 'मैं कोरी आँख निरखता' जैसी पंक्ति वे पढ़ा जाएँगे और 'रिक्तता' जैसी मनोदशा का दबाव न खुद महसूस कर सकेंगे, न करा सकेंगे—कोरा तो कागज भी होता है लेकिन जब आँख 'कोरी' होती है तो शून्यता, रिक्तता, भावहीनता, विषादमग्नता की पराकाष्ठा आदि कितनी अर्थच्छायाओं के मिले-जुले विशिष्ट प्रभाव को व्यक्त करती है। इसीलिए मैंने कहा कि एक बार 'शब्दों' पर रुकने की आदत डालनी चाहिए—कविता को आखिर पुराने आचार्यों ने 'शब्द' कहा है—

तिर रही अतृप्ति जलधि में / नीलम की नाव निराली

जो नहीं समझेंगे कि 'नीलम की नाव' प्रिय की पुतलियाँ हैं वे भला क्यों समझने लगे कि उसी की आँखें 'अतृप्ति का सागर' भी हो सकती हैं। कविता की भाषिक सर्जनात्मकता के प्रति सचेत हुए बिना यह अनुशासन या विवेक सुलभ नहीं होगा। इस अभ्यास से ही जाना जा सकेगा कि भिन्न वस्तुओं की टकराहट की उत्तेजक चमक से जो तीसरा बिम्ब बनता है उसकी विशिष्ट काव्योपयोगिता क्या है, विशिष्ट शब्दों या ध्वनिविधानों की गुणात्मक पुनरावृत्ति से किस प्रकार की काव्यात्मक अर्थवत्ता उत्पन्न की जाती है, या कविता में विशेषणों का अतिरिक्त प्रयोग किस प्रकार कविता की प्रकृत अर्थ-संवेदना को क्षीण करता है, या रूपकों का व्यवहार कविता को कौन-सा नाटकीय चरित्र देता है, या शब्दों पर विशिष्ट कवियों की व्यक्तिगत छाप कैसी है, या एक ही शब्द की अलग-अलग स्थानों पर योजना अर्थ की दृष्टि से कहाँ अलग है! माना कि कविता की पढ़ाई में रस, अलंकार वक्रोक्ति, रीति, गुण, शब्द-शक्ति आदि का मतलब है। पर इन विभिन्न गुणात्मक उपादानों के आपसी सम्बन्धों का भी तो कुछ खास मतलब होता है—कविता प्रक्रिया है तो इसी अर्थ में—कि ये समस्त उपकरण परस्पर सम्बद्ध या अविच्छिन्न रहकर ही विशिष्ट अर्थवत्ता ग्रहण करते हैं। सपाट, प्रसरणशील, वर्णनात्मक और अनेक प्रकार के बिम्बों के योग से बनने वाली काव्यात्मक शब्दावली पर कविता के अध्यापक विचार नहीं करेंगे तो उन्हें आगे की कविता पढ़ाने में और भी दिक्कत होगी—यदि वे पढ़ाना चाहेंगे। अज्ञेय कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में आ गए हैं और मुक्तिबोध भी हमारे विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में तो शामिल कर लिए गए हैं—अन्यत्र भी कर लिए जाएँगे—यह कहकर मैं कुछ नई कविता की अर्थ-मीमांसा की जिम्मेदारी की ओर नहीं, बल्कि कविता की नई अर्थमीमांसा, नई विधि से अर्थमीमांसा की ज़रूरत की ओर ही कविता के अध्येताओं का ध्यान आकर्षित कर रहा हूँ। मुक्तिबोध की कविता को ही नहीं, तुलसी और केशव की कविता को भी नई अर्थमीमांसा की जरूरत है।

कविता ऊपर-ऊपर दिखने वाले वाक्यों से अधिक वस्तुओं की अन्तर्योजना में होती है—इसे क्या वे कभी समझेंगे जो 'तर्‌यौना' के सभंग श्लेष पर ही रीझे और रुके हुए हैं। कलात्मक अभिव्यक्तियों के पीछे संवेदनात्मक उद्देश्य भी छिपे रहते हों, तो इसकी चिन्ता उन्हें क्यों होने लगी! अन्त में यह जोड़ने की जरूरत भी समझ में आती है कि कविता की सही समझ की कमी अध्यापकों में ही नहीं (जिन्हें कर्म की बाध्यता से कविता गलत-सही पढ़ानी ही है), बहुत-से गैर-अध्यापकों या शुद्ध रचनाकारों में भी उसी रूप में दिखाई देगी—कविता या भाषा की सृजनशीलता और ऐसी दूसरी समस्याओं से वे भी उतने ही अनासक्त और अनजान पाए जाएँगे—बल्कि बहुत-से अध्यापकों पर तो व्यवहारवादियों के लिए कही हुई यह उक्ति ही लागू की जा सकेगी: 'यह नहीं कि वे गलत हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि यह कि वे ठीक हो सकते थे'—इसलिए समस्या कविता के अध्यापन की ही नहीं, कविता को ठीक से समझने-समझाने की भी है, पूर्वग्रहों से निर्मित कविता सम्बन्धी धारणा में हेर-फेर करने की है। अपने आदर्श रूप में कविता का अध्यापन भी श्रेष्ठ मूल्यांकन की तरह पुनर्सृजन या पुनराविष्कार है—पर वही—आदर्श रूप में ! ●

परिप्रेक्ष्य का विस्तार

रमेश कुंतल मेघ

गरीब एशियाई भारत के विश्वविद्यालयों की वर्तमान स्थिति चिंतापूर्ण है, तथा उनमें साहित्यिक शिक्षा—विशेष रूप से हिन्दी साहित्य-शिक्षा—की हालत तो दयनीय भी है; और भयानक भी। अभी तो मुझे समझ में नहीं आ रहा है कि शुरू कहाँ से करूँ, और किस सीमा में रहूँ !

हिन्दी साहित्य-शिक्षा के प्रसंग में केवल वर्तमान की बात करने से बहुत-कुछ ऐतिहासिक छूट जायेगा; और आधुनिक विश्वविद्यालयों का ही विवेचन करने पर भारतीय विश्वविद्यालयों के औपनिवेशिक विकास की यंत्रणा का हाशिया गुम हो जायेगा। विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालयी शिक्षा को अलग-अलग कर देने पर भारतीय समाज के संगठन, परिवर्तन और पुनर्जागरण की समझ विलुप्त हो जायेगी। इसलिए मैं विश्वविद्यालयों की थोड़ी ऐतिहासिक भूमिका देने की इजाज़त जरूर चाहूँगा।

१९ जुलाई, १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से एक 'एजुकेशनल डिस्पैच' तैयार किया था जिसे **भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा का मैग्ना-चार्टा** अथवा भारत का **बौद्धिक चार्टर** कहा जाता है। वुड-डिस्पैच ने प्राथमिक पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा तक की व्यवस्था की सिफ़ारिश की थी। उसके अनुसार कलकत्ता, बम्बई और मद्रास की प्रेसिडेंसी-नगरियों में विश्वविद्यालय क़ायम किये गये (१८५७) तथा प्रान्तों में पब्लिक इंस्ट्रक्शन विभाग क़ायम किये गए जिनके स्कूल-इंस्पेक्टर स्कूलों का मुआयना करते हैं; गैर-सरकारी स्कूलों को वित्तीय सहायता देते हैं। वुड-डिस्पैच ने ही प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय (संस्कृत, फारसी, अरबी) भाषाओं तथा प्रान्तीय भाषाओं के अग्रवर्ती अध्यापन की सिफारिश की। इसके साथ-साथ उसमें डॉक्टरी (मेडिसिन), इंजीनियरी और क़ानूनी पेशों और प्रशिक्षणों की आवश्यकता भी बताई गई।

सन् १८५७ के ऐक्ट के अनुसार विश्वविद्यालयों की प्रशासिका समितियों में अध्यापक सदस्य नहीं हो सकते थे और गवर्नर-जनरल (बंगाल) तथा गवर्नर (बम्बई और मद्रास) ही कुलपति होते थे। कुलपति ही उपकुलपति को नामज़द करते थे तथा कुछ 'फ़ेलो' भी नियुक्त करते थे। सन् १९०४ के ऐक्ट ने फ़ेलो की संख्या निर्धारित कर दी; तथा 'सिंडिकेट' को सांविधिक-सभा बना दिया। इस समय के बीच कलकत्ता विश्वविद्यालय के महासाम्राज्य को छोटा करने के लिए पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर (१८८२), तथा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी (१८८७) भी स्थापित की गई। अब तक ये पाँचों विश्वविद्यालय केवल कालेजों का **सम्बद्धीकरण** तथा छात्रों का **परीक्षण** करते थे। यह हालत सन् १९१६ तक रही थी।

सन् १९१३ में भारत सरकार के एक प्रस्ताव के अनुसार यह घोषित किया गया कि विश्वविद्यालयों को केवल परीक्षा लेने वाली संकीर्ण संस्थाएँ नहीं रहना है, बल्कि उन्हें **अध्यापन और शोध** भी करना है। अतः प्रत्येक प्रान्त में एक निवासीय विश्वविद्यालय क़ायम करने का प्रस्ताव हुआ। स्वयं केन्द्रीय सरकार ने ढाका (१९२१), अलीगढ़ (१९२०) और बनारस (१९१५) में अध्यापकीय एवं निवासीय विश्वविद्यालय क़ायम किये। फलतः अब विश्वविद्यालय क्षेत्रों में अध्यापकों, छात्रों और शोध-विद्वानों का एक संगम क़ायम हुआ। प्रस्ताव में यह भी कह कहा गया कि विश्वविद्यालयों को अध्यापन-सुविधाएँ विकसित करनी चाहिये, और सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक उन्नति के अनुकूल सामूहिक वातावरण भी बनाना चाहिये। सन् १९१९ में 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन' या 'सैडलर कमीशन' ने माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय-शिक्षा को परस्पर जोड़कर देखा। प्रान्तों में 'इंटर-कक्षा बोर्डों' की स्थापना हुई। सेडलर कमीशन द्वारा प्रस्तावित 'मॉडल' के अनुसार लखनऊ (१९२१) तथा दिल्ली (१९२२) के विश्वविद्यालय क़ायम हुए। इसके अलावा नागपुर (१९-२३), आंध्र (१९२६), आगरा (१९२७), अन्नामलाई (१९२९) तथा पुनर्गठित इलाहाबाद (१९२२) विश्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यालय भी क़ायम हुए। कमीशन ने दो-तीन महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिशें कीं—(i) विश्वविद्यालयों पर सरकार का न्यूनतम नियंत्रण हो; (ii) विश्वविद्यालयी प्रशासन में अध्यापक ज्यादा भाग लें; तथा (iii) उपकुलपति पूरे समय के लिए सवैतनिक नियुक्त हों।

वुड-डिस्पैच, सैंडलर कमीशन के बाद 'सर्जेंट रिपोर्ट' (१९४४) महत्त्वपूर्ण रही जिसने युद्धोपरांत भारतीय शिक्षा-विकास पर केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड के रूप में काम किया। सर्जेंट रिपोर्ट ने भारतीय विश्वविद्यालय-व्यवस्था के कई दोष गिनाये—इसमें परीक्षा को अवांछित महत्त्व दिया जाता है; मौलिक चिंतन के बजाय किताबी-रटन्ती पर आग्रह होता है; अध्यापकों तथा छात्रों के बीच निजी संपर्क का अभाव होता है; राज्य उपयुक्त वित्तीय समर्थन नहीं देते जिससे विश्वविद्यालय परीक्षा-फीसों पर आश्रित होते हैं और उनके स्तर गिरते चले जाते हैं; गरीब और योग्य छात्रों की सहायता के लिए कोई योजनाएँ नहीं हैं; तथा अधिक विश्वविद्यालयों की अपेक्षा है।

यह हुई हमारी विश्वविद्यालयी शिक्षा की पुरानी उपनिवेशवादी विरासत, जो एक विदेशी, किन्तु प्रबुद्ध, शक्ति की देन है। यह विरासत मूलरूपेण विश्वविद्यालय से लेकर शिशु-पाठशाला तक व्यक्ति और समाज की पारस्परिकता की उपेक्षा करती है; शिक्षा को सामाजिक दायित्व और सामूहिक रहनी से पृथक् करके मात्र ऊँची **नौकरी** तथा ज्यादा **आमदनी** का आधार बनाती है; ऐसे भद्रलोक (बाबू) या श्रेष्ठजन (बुद्धिजीवी साहब) पैदा करती है जो जनता से विच्छिन्न हो जाते हैं; इत्यादि-इत्यादि।

आज़ादी (१९४७) और गणतंत्र की स्थापना (१९५०) के बाद हमारे विश्वविद्यालयों को आधुनिक बनना था, तथा शिक्षा को सामाजिक। किन्तु राजनैतिक आज़ादी के बाद न तो सामाजिक क्रांति हुई और न ही आर्थिक क्रांति। अतः विश्वविद्यालय बूढ़े अजगरों की तरह सरकते-सरकते चल रहे हैं। आज विश्वविद्यालय और शिक्षा भी समाज का यथारूप लघुवृत्तचित्र उपस्थित कर रहे हैं।

आज़ादी के बाद 'दि यूनिवर्सिटी एजुकेशन कमीशन' (१९४८-४९) ने भी स्वीकार किया कि "भविष्य में विश्वविद्यालयों की योजना अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा तथा नई माध्यमिक शिक्षा के आधार पर बनाई जाए जिसकी सिफ़ारिशें सार्जेंट रिपोर्ट में की गई हैं।" यह कमीशन डॉक्टर राधाकृष्णन् के सभापतित्व में कायम हुआ था। इस कमीशन ने विश्वविद्यालयों के नये दायित्वों और कर्तव्यों को स्पष्ट किया कि उन्हें "राजनीति और प्रशासन, व्यवसाय, उद्योग और वाणिज्य में नेतृत्व प्रदान करना है।" स्पष्ट है कि ये लक्ष्य पूँजीवादी व्यवस्था की आवश्यकताओं की सूचना देते हैं। लेकिन उदार मानवतावाद अथवा स्थापित व्यवस्था के सहिष्णुतावाद की झाँकी भी देते हैं कि "साहित्यिक और तकनीकी, वैज्ञानिक और व्यावसायिक— सभी प्रकार की शिक्षा का लक्ष्य यह हो कि वह देश को जल्दी-से-जल्दी अभावों, बीमारियों और मूढ़ता से आज़ाद कर सके।" कमीशन ने यह चेतावनी भी दी कि विश्वविद्यालयों को उस सामाजिक व्यवस्था को अनदेखा नहीं करना चाहिए जिसके निमित्त वे युवा छात्र-छात्राओं को शिक्षित कर रहे हैं। आज सन् १९६९ में हम एक निरन्तर बहस में पूछ सकते हैं कि इस सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप और स्वधर्म क्या है जिसके लिए हम शिक्षित किये गये हैं। कमीशन ने यह भी कहा कि विश्वविद्यालयी शिक्षा 'समधिकारी सूची' में रखी जानी चाहिए तथा स्नातकोत्तर शिक्षा और शोध के खर्च का ५० प्रतिशत केन्द्र को देना चाहिए। कमीशन ने अंग्रेज़ी की अनिवार्य शिक्षा पर, आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा-का माध्यम बनाने पर भी सहमति प्रकट की।

पंचवर्षीय योजनाओं को लागू करने के काल में ही सन् १९५६ में 'यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन' एक सांविधिक संस्था के रूप में कायम हुआ। यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है। यू० जी० सी०, विभिन्न पाठ्य-विषयों के पाठ्यक्रमों का संशोधन करने के लिए प्रसिद्ध विश्वविद्यालय प्राध्यापकों की कमेटियाँ बनाईं, तथा उनके **आधुनिकीकरण** और **संवर्द्धन** के लिए सुझाव प्राप्त किये। इस बीच [उत्कल (१९४३), सागर (१९४६), राजस्थान (१९४७) को छोड़कर] आज़ादी के बाद लगभग पैंतालीस नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए।

सबसे ताज़ी महत्त्वपूर्ण घटना तो १६ जुलाई १९६४ को 'एजुकेशन कमीशन' की स्थापना है। इसका लक्ष्य एक **"राष्ट्रीय शिक्षा** को लागू करना है जो **राष्ट्रीय जीवन** के सभी क्षेत्रों में योगदान कर सके।" कमीशन ने २९ जून १९६६ में अपनी रिपोर्ट पेश की। इसे 'कोठारी कमीशन' (१९६४-६६) भी कहा गया है। इसने प्राथमिक अवस्था से विश्वविद्यालयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरण तक की शिक्षा के रूपांतरण के लिए ऐसी सिफ़ारिशें कीं जिससे शिक्षा जनता की ज़िन्दगी, आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं पर लागू हो सके; तथा हमारे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का साधन बन सके। तेज़ औद्योगीकरण, खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता, पूरा रोज़गार, और राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक विकास आदि के लिए 'परिवर्तन' ज़रूरी है, यह कमीशन ने स्वीकार किया। यह भी स्वीकार किया गया कि इस परिवर्तन में शिक्षा एक साधन है। अतः भारत सरकार के प्रस्ताव (१४ जुलाई, १९६४) के अनुसार "देश में एक सचमुच प्रजातांत्रिक समाज के निर्माण के लिए, राष्ट्रीय अंतर्ग्रथन और एकता के लिए, आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए शिक्षा की भूमिका" का महत्त्व है। अतः अब शिक्षा को राष्ट्र और जनजीवन से जोड़ने की आवश्यकता प्रकट हो गई है। लेकिन, आज भी सन् १९६९ में, इस दिशा में केवल ऊपरी हेरफेर ही हुए हैं: जैसे किसी क्रम में एक साल जोड़ना या घटाना; एक विषय में कुछ पाठ्यक्रम बढ़ाना या छाँटना; कुछ पाठ्यपुस्तकों को बदलना; अध्यापकों के वेतनमान सुधारना; इत्यादि।

कमीशन ने यह राय भी ज़ाहिर की अंग्रेज़ी के स्थान पर प्रान्तीय भाषाओं में शिक्षा देना महत्त्वपूर्ण तथा अत्यावश्यक है। इसके लिए भारतीय भाषाओं में अपेक्षित साहित्य रचा जाना चाहिये और शिक्षितों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिये। यह भी कहा गया कि जब तक अंग्रेज़ी का स्थान पाने के लिए हिन्दी प्रभावशाली ढंग से विकसित नहीं हो जाती और जब तक वह अ-हिन्दी क्षेत्रों के छात्रों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, तब तक अंग्रेज़ी ही जारी रहे। किन्तु यह बुनियादी सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि अध्यापन (कक्षा में पढ़ाई जाने वाली भाषा) तथा मूल्यांकन (परीक्षा की भाषा) की भाषा एक हो। कमीशन ने एक अन्तिम महत्त्वपूर्ण सिफारिश यह की कि फ़्रांसीसी, जापानी, स्पेनी, चीनी और रूसी आदि अन्य विश्वभाषाएँ भी सभी विश्वविद्यालयों, कुछ कालेजों तथा चुने हुए स्कूलों में पढ़ाई जायें। कमीशन ने त्रिभाषा-फार्मूले (१९६१) में भी संशोधन करके मातृभाषा या राज्य-भाषा, संघभाषा (हिन्दी) या सहकारी संघभाषा (अंग्रेज़ी) तथा एक अन्य भारतीय भाषा के पढ़ाने का प्रतिपादन किया।

अतः भारतीय विश्वविद्यालयों की यह कहानी भारतीय सामाजिक संगठन के अवरुद्ध स्वरूप की कहानी का सांस्कृतिक प्रतिबिंब है। अगर हम भारतीय विश्वविद्यालयों की आज़ादी के पहले और बाद की दशाओं की तुलना करें तो हमें अतिक्रुद्ध बेकार तरुणों के आंदोलन, उदासीन और बेपरवाह अध्यापकों की पस्तहिम्मती, गुटों और भ्रष्टाचार से खोखले विश्वविद्यालय नज़र आते हैं। आज़ादी के बीस वर्षों की वास्तविक उपलब्धि यही है कि अब विश्वविद्यालय सरकार के नियन्त्रण में हैं, हारे हुए बूढ़े नेता उपकुलपति हैं, विश्वविद्यालय कैम्प में आये दिन विद्रोह और असन्तोष की आग भड़कती है तथा वे पुलिस की गोलियों से लहू-लुहान बने रहते हैं। आज भी युवक विश्वविद्यालयी शिक्षा को बड़ी नौकरियों तथा ऊँची आमदनियों को साधन मानते हैं; आज भी शिक्षा सामाजिक दायित्व से विहीन है और आज भी वह राष्ट्रीय शिक्षा नहीं है [जिसकी हिमायत 'शिक्षा-कमीशन १९६४-६६' ने की है]। इसका विश्लेषण हम आगे करेंगे।

भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में हम कुछ तथ्य विषयांतर करके भी प्रस्तुत करना चाहेंगे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर ऐक्ट १८१३ की तैंतालीसवीं धारा के अनुसार डायरेक्टरों ने भारत के **विद्वान** नेटिवों को प्रोत्साहित करने, तथा साहित्य को संवर्धित एवं पुनरुद्धारित करने के लिए एक लाख रुपये का अनुदान दिया। इस राशि से भारतीय क्लासिकल कृतियाँ छापी गईं तथा कलकत्ता में संस्कृत कालेज (१८२४) कायम किया गया। सन् १७८४ में संस्थापित बंगाल की ऐशियाटिक सोसाइटी से लेकर मैकाले के समय तक अरबी और संस्कृत की विद्या को प्रोत्साहित किया गया। भारतीय विद्या की धारा यही थी।

लेकिन इसका विरोध पश्चिमी शिक्षा की धारा के समर्थक कर रहे थे। यदि उनमें से राजा राममोहन राय जैसे आधुनिक भारत का नवारम्भ चाहते थे तो अनेक लोग कम्पनी में नौकरी पाने के लिए अंग्रेज़ी पढ़ना चाहते थे। सन् १८३५ के 'मैकाले नोट' ने भारतीय विद्यावादियों के मुकाबले पश्चिमी शिक्षावादियों को जिता दिया। मार्च १८३५ में गवर्नर-जनरल ने 'भारत के वासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान को प्रोत्साहित करने' की घोषणा की। यह भी घोषणा की कि अनुदान की राशि आगे से प्राचीन कृतियों को छापने में खर्च नहीं की जायेगी; आगे अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जायेगी। अतः विलियम बैंटिक की घोषणा के बाद दो वर्षों में ही बारह नये स्कूल खुल गये जो अंग्रेज़ी के माध्यम से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की शिक्षा देने लगे। अब गरीब छात्र पाठशालाओं में जाने लगे तथा समृद्ध छात्र स्कूलों में। सन् १८३६ में शुरू किये गये हुगली कालेज में तीन दिन के अन्दर बारह सौ छात्रों ने दाखिला लिया। किन्तु 'मैकाले नोट' के बारह साल पहले ही प्रस्तावित संस्कृत कालेज के बाबत राजा राममोहन राय ने लार्ड एमहर्स्ट को लिखा था : "इस पाठशाला से यही उम्मीद की जा सकती है कि यह युवकों के दिमाग व्याकरण की बारीकियों तथा आधिभौतिक भेदों-प्रभेदों से बोझिल बना देगी जिनका व्यावहारिक उपयोग न तो अध्येता के लिए है, और न ही समाज के लिए।··· शिक्षा की संस्कृति-पद्धति नाप-जोखकर इस देश को अंधकार में जकड़े रहेगी।"[1]

यह कितना बड़ा अचम्भा है कि राजा राममोहन राय ने सन् १८२५ में उस सामन्तीय शिक्षा-पद्धति का विरोध किया जो मात्र **साहित्यिक** और **धार्मिक** रही है और जो **आधुनिक** विज्ञान से अछूती है। इस क्रम में 'शिक्षा-कमीशन' (१९६४-६६) ने उस आधुनिक उपनिवेशी अंग्रेज़ी शिक्षा का विरोध किया जो राष्ट्रीय नहीं है, जो जनता के जीवन तथा समाज की उन्नति से जुड़ी नहीं है तथा जो सामाजिक के बजाय व्यक्ति-केन्द्रित है। इसका वास्तविक निष्कर्ष यही निकला कि हमारी शिक्षा-पद्धति सामन्तीय चरण में अन्धकार में जकड़ी थी; उपनिवेशवादी चरण में गुलाम बाबू बनाने का साधन थी, तथा आज़ादी के बाद के चरण में एक श्रेष्ठजनगण का निर्माण करती रही, बेकारों की सेना खड़ी करती रही, तथा सामूहिक जीवन और सामाजिक दायित्व से निरन्तर कटी रही। प्रजातन्त्र के बाईस वर्षों में शिक्षा ने हमें अधिक मानसिक गुलाम बनाया, तथा समाज में व्यक्ति को अधिक नंगा तथा गन्दा किया। आखिरकार हमने ये कीमती ऐतिहासिक बाईस वर्ष गँवा दिये जबकि एशिया के प्रतियोगी गरीब राष्ट्र स्वावलम्बी तथा उन्नत होते गये।

अतएव ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में पहले हमारे विश्वविद्यालयों का प्रकार्य परीक्षाएँ लेना और सम्बद्धीकरण करना था; बाद में निवासीय विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ उनके प्रकार्य अध्यापन और शोध भी हो गए। किन्तु शिक्षा का बुनियादी चरित्र यही रहा कि वह अन्तर्निर्माण करती है, सामाजिक वृद्धि नहीं; उसका काम इन्सान के खाली दिमाग में सूचनाएँ भर देना है जिन्हें वह याद करके परीक्षा के समय उगल दे। वे सूचनाएँ भरने की गलतफहमी को बौद्धिक विकास और स्वतन्त्र चिन्तन की संज्ञा दे रहे हैं। सामान्य मुहावरों में भी विश्वविद्यालय वह जगह मानी जाती है जहाँ पाठ्यक्रम (सिलेबस) पढ़ाया जाता है और परीक्षार्थियों को डिगरियों के लिए तैयार किया जाता है ताकि वे अच्छी नौकरियाँ और ऊँची आमदनी पा सकें। अतः सूचनाओं तथा उनकी उपयोगिता, और आत्मनिष्ठ सार्थकता के बीच खाई चौड़ी होती गई; तथा विश्वविद्यालयों की **सृजनात्मक भूमिका** ओझल होती गई। छात्रों की संख्या में अन्धाधुन्ध वृद्धि और देश में आर्थिक संकट तथा उत्पीड़न का आलम—इन सबने मिलकर विश्वविद्यालयों को एक ओर तो छात्र-विद्रोह का केन्द्र बना दिया है तो दूसरी ओर बौद्धिक पाखण्डों का मठ। अतः विश्वविद्यालय केवल थोड़े अधिक अग्रिम स्कूल-से बन गए हैं। इस दुर्दशा की वजह यह भी रही है कि हमारे आधुनिक विश्वविद्यालयों की स्थापना में तक्षशिला, नालन्दा, वल्लभी की कोई भी परम्परा नहीं शामिल हुई। हमारे बम्बई, इलाहाबाद, कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालयों पर मध्ययुगीन आदर्शों वाले ऑक्सफोर्ड, केम्ब्रिज, पेरिस और पेडुआ के विश्वविद्यालयों की छायाएँ पड़ीं। उन विश्वविद्यालयों ने कुछ ऐसे विचार दिए जिनसे वैज्ञानिक क्रान्ति का रास्ता साफ हुआ; रिफार्मेशन के आविर्भाव को बल मिला। बाद में उन विश्वविद्यालयों ने तर्कशील (रीज़न) की उपासना शुरू की। उन्होंने तर्कशील के युग (Age of Reason) तथा रोमांटिक आन्दोलन के विचारों को मिलाकर तथा निथारकर एक नये रूप का विकास किया—'एकेडेमिक इतिहास'।[1] यहाँ से विश्वविद्यालय अलचीले होते गए। अतः 'एकेडेमिक मानस', 'एकेडेमिक इतिहास' और 'एकेडेमिक स्वतन्त्रता' की भावनाओं का बोलबाला तब हुआ जब विश्वविद्यालयों के इर्द-गिर्द का सारा वातावरण क्रान्तिकारी ढंग से बदलता चला जा रहा था।

हमारे देश में आधुनिक विश्वविद्यालयों की स्थापना ग्रेट ब्रिटेन के 'एकेडेमिक इतिहास' को विकसित करने तथा

१. दे० जेम्स एच० आर० 'Education and Statesmanship in India', पृ० ३२।

१. 'The Universities and Education Today', Herbert Butterfield, pp. 27-28; Routledge and Kegan Paul, 1961.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के बिलकुल आरम्भिक वैज्ञानिक ज्ञान को प्रदान करने के लिए हुई। आज सन् १९६९ में जब हम सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलक चरण में हैं और जब 'सामाजिक इतिहास' तथा 'आर्थिक स्वतन्त्रता' की स्थापना हो रही है तब हमारे उपनिवेशवादी रूपधारी विश्वविद्यालय एकेडेमिक मानस, एकेडेमिक स्वतन्त्रता और एकेडेमिक इतिहास की अहंकेन्द्रित दास्तानें बघारते हुए नहीं अघाते। एकेडेमिक मानस की व्यावहारिक खूबी यह है कि वह कल्पना की भूमिका को नामंजूर करने के साथ-साथ समकालीनता के सृजनात्मक धर्म का भी विरोध करता है। अतः मानविकी शास्त्रों तथा साहित्य के क्षेत्र में बाहर से जो शतदल-विकसित समकालीन चिन्तन-धाराएँ विश्वविद्यालयी 'एकेडेमिक इतिहास' पर प्रहार करती हैं, उनकी विधि चाहे जितनी भी उग्र हो, विधेय उत्कर्षधर्मा हैं। हमारे नये विश्वविद्यालय तक आधुनिकता के संस्थान बनने से इन्कार करते रहे हैं। साहित्य के क्षेत्र में तो इस अस्वीकृति के परिणाम बड़े दुर्भाग्यपूर्ण निकले हैं।

हमारे आधुनिक भारत में तकनॉलाजी का ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ रहा है और यह प्रभाव हमारे ग्रामों का 'शहरीकरण' कर रहा है, पिछड़े वर्गों का 'संस्कृतकरण', तथा अगुआ वर्गों का 'पश्चिमीकरण'। हमारे आधुनिक भारत में आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता बढ़ रही है और इसके साथ-साथ सामाजिक असन्तोष फैल रहा है। इसके फलस्वरूप—चार्ल्स स्नो की शब्दावली में—दो पृथक् संस्कृतियों (मानविकी तथा वैज्ञानिक) का अलगाव और बहाव भी शुरू हो गया है। अतएव आज हमारे विश्वविद्यालय दो प्रकार के समाजों (सम्पन्न एवं विपन्न), तथा दो प्रकार की संस्कृतियों (मानविकी एवं वैज्ञानिक) के टकराव के वातावरण में मूर्त रूप से मौजूद हैं। अतः हमारे विश्वविद्यालयों का सैद्धान्तिक आदर्श भी यह नहीं हो सकता कि वे तात्कालिक सामाजिक आन्दोलनों से असंपृक्त होकर अकादमीय विद्वत्ता की ऊँचाइयों के प्रति समर्पित हैं। साहित्यिक विद्वत्ता के भावात्मक एवं सैद्धान्तिक क्षेत्र में तो यह गलतफ़हमी उचित भी आभासित होने लगती है। जिस तरह आज तकनॉलाजी के क्षेत्र में मानविकी में शिक्षित **विशेषज्ञों** को तैयार किया जा रहा है, उसी तरह साहित्य के क्षेत्र में तकनॉलाजी एवं विज्ञान से परिचित **विद्वानों** की भी ज़रूरत है।

वास्तव में निवासीय विश्वविद्यालय केवल स्कालरों और छात्रों तथा अध्यापकों का समुदाय ही नहीं होता; बल्कि समाज और नगर का बौद्धिक केन्द्र भी होता है। यह स्वायत्त भी होता है अर्थात् राज्य के अंकुश से स्वमुक्त। यहाँ 'एकेडेमिक स्वतन्त्रता' के लिए ही सत्य की तलाश होती है चाहे वह नाज़ियों के नियमों के विरुद्ध हो, या कांग्रेसियों के पोले ढोल में बेसुरी। विश्वविद्यालय 'ज्ञान'—सच्चे ज्ञान—की आकांक्षा की अनवरत चेष्टा हैं। इस पुराने आदर्श को संशोधित करके कहा जा सकता है कि 'विश्वविद्यालय पूर्ण **ज्ञान** तथा प्रयोगात्मक **कौशल** के माध्यम से आधुनिक युग का संश्लिष्ट बोध कराते हैं। यह विश्वविद्यालय का एक महान् लक्ष्य है।

ऐसे लक्ष्यों के सामने एकेडेमिक स्वतन्त्रता का विस्तार केवल चिन्तन और शोध में ही नहीं, बल्कि अध्यापन में भी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'छात्र और अध्यापक दोनों की ही वैयक्तिक ज़िन्दगी तथा बौद्धिक हस्ती एकरूप हो गई है।'[1] अतः अगर साहित्य के छात्र और अध्यापक यह कहते हैं कि उनका विषय प्रयोगात्मक तथा व्यावहारिक नहीं है, और वे तकनॉलाजी के आगे आज स्वयं को निरर्थक पाते हैं तो उनकी (तथा मानविकी क्षेत्र में साहित्य की) सार्थकता पाण्डित्य एवं अभिज्ञान के प्रति निरन्तर तीव्रावेश के द्वारा ही खोजी जा सकती है। उनकी क्रियात्मकता आन्तरिक है और यह उनके विषय की विवशता है। किन्तु आज वे भी अपने 'एकेडेमिक मानस' में कल्पना की शक्ति को नामंजूर करते हैं, जबकि साहित्य की विधा में कल्पना एक महत्तम सौन्दर्यविधि है जो यथार्थता को प्रतिबिंबित करती है। इसके बावजूद भी उन्हें तकनॉलाजी के प्रभाव को ग्रहण करना है। एकेडेमिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि हम मध्यकालीन घोंघावसन्त या समकालीन कूपमण्डूक बने रहें। "मूल्य-निर्णयों का स्थगन करने से तटस्थ उदासीनता में पतन हो सकता है; व्यावहारिक कर्म के स्थगन से आलस्य में पतन हो सकता है; तथा बौद्धिक सतर्कता के स्थगन से चुनौती के न्यूरोटिक भय में डूब जाने की आशंका है जो हमारी शक्ति को क्षीण कर सकता है।"[2] निस्सदेन्ह विश्वविद्यालयी

१. 'The Idea of the University', Karl Jaspers, p. 141, Peter Owen, London, 1965.

२. वही, पृष्ठ १३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में हम मूल्यनिर्णयों को स्थगित करके, तरक्कियों के सांप-सीढ़ी वाले व्यावहारिक कर्म करके तथा बौद्धिक सतर्कता का आतंक फैलाकर इसी स्थिति में आ गए हैं। चिंतन और अध्यापन में एकेडेमिक स्वतन्त्रता एक ओर वैयक्तिक जिन्दगी तथा बौद्धिक हस्ती की अस्मिता कायम करती है, दूसरी ओर उन ऐतिहासिक शक्तियों की जागरूकता देती है जो हमें तात्कालिक स्वार्थों तथा संकीर्णताओं से मुक्त कर सकें। "एकेडेमिक स्वतन्त्रता का दूसरा तात्पर्य यह है कि छात्र अपने निर्णय के अनुसार शोध करे, और अध्यापक अपने औचित्य के अनुसार पढ़ाये। अंततः 'एकेडेमिक स्वतन्त्रता' तभी जिन्दा रह सकती है जब मनीषी और विद्वान उसके अर्थ तथा आदर्श से प्रतिबद्ध हों और उसके लिए भौतिक कुर्बानियाँ भी कर सकें।"[१] अन्यथा वे अध्यापक और बुद्धिजीवी के दर्जे से गिर जाते हैं। अतः 'यूनिवर्सिटी सत्य की खोज करती है'—यह कथन उतना ही एकेडेमिक है जितना एक यूतोपिया। यूनिवर्सिटी बहुत-कुछ करती है और उसमें बहुत-कुछ घटता है। हमें यूनिवर्सिटी के कुछ मिथकों का भंजन करना ही होगा। यह ठीक है कि यूनिवर्सिटी पांडित्य और विज्ञान को अग्रसर करती है बशर्ते कि ये संश्लिष्ट बौद्धिक जीवन तथा व्यावहारिक सामाजिक परिवर्तन का अंग बन जाएँ।

'यूनिवर्सिटी-शिक्षा' की आत्मा के दो अंग हैं : **अध्यापन और शोध**। अगर अध्यापक शोध से श्रीहीन है तब वह मात्र कंकाल है। और अगर शोध अध्यापन से स्वतंत्र है तब वह मात्र मशीनी है। अतः शोधपरक अध्यापन तथा शिक्षित विशेषज्ञ या विज्ञानोन्मुख विद्वान, और सामूहिक चेतना तथा वैयक्तिक विकास की क्षमताओं से युक्त विद्यार्थी—ये आधुनिक विश्वविद्यालय के सार्थक संदर्भ हैं। विश्वविद्यालय के तीन कार्य हैं—**शोध** (रिसर्च), **शिक्षण** (एजुकेशन) और **निर्देशन** (इंस्ट्रक्शन)। विश्वविद्यालय वे संगम हैं जहाँ मानविकी और तकनीकी संस्कृतियों का संगम ज्ञान की एकता प्राप्त कर सकता है। अतः विश्वविद्यालय पूर्ण **ज्ञान** और प्रायोगिक **कौशल** के द्वारा छात्रों के एक व्यवसाय के लिए प्रस्तुत अथवा प्रशिक्षित करते हैं।

विश्वविद्यालय में ही संस्कृति के दो रूप उभरते हैं—वैज्ञानिक अनुशासन तथा विद्वत्तापूर्ण आलोचन। इन दोनों रूपों में जो दृष्टिकोण होता है उसमें एकसूत्रता है अर्थात् वह केवल विशेषीकृत ज्ञान एवं निपुणता के अलावा अहंलीनता का विलोप भी है ताकि निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त हो सके। साहित्य-शिक्षा उदार एवं ललित कलाओं का क्षेत्र है। अतः उसके शैक्षणिक मूल्य प्राकृतिक विज्ञानों के मूल्यों से भिन्न होंगे। पहले क्षेत्र का सांस्कृतिक आदर्श 'मानवतावाद' है, तो दूसरे का 'यथार्थवाद' (व्यापक अर्थों में सत्य की सिद्धि)। किन्तु दोनों ही सामाजिक यथार्थ और प्राकृतिक तथ्यों पर आश्रित हैं। साहित्य-शिक्षा का हाशिया विस्तार पाकर उदार-कलाओं में मिल जाता है और तब उसके अंतर्गत **मानवीय चेतना** तथा **सृजन का इतिहास** शामिल हो जाता है। फलतः मनुष्य (कलाकार और सहृदय), कृतियाँ (पात्र और जनता), और काल (आन्दोलन, शैलियाँ) साहित्यपुरुष का त्रिभंग शरीर हैं। हमारा आधुनिक आदर्श तो यही है कि साहित्य का मानवतावाद विज्ञान के यथार्थवाद को भी अंगीकार कर ले। इसी वरण में आधुनिक औद्योगिक समाज में साहित्य और संस्कृति जीवित भी बच सकती हैं।

हमें इस तथ्य को नहीं भुलाना चाहिए कि साहित्यपठन, साहित्य-रसास्वादन और साहित्य-अध्यापन मूलतः एक प्रयोगात्मक तथा हस्तात्मक (मैनुएल), निरपेक्ष तथा बहिर्मुखी सक्रियताएँ नहीं हैं। इनमें प्रमाणित स्वयंसिद्धि और स्पष्ट (यथारूप) विचारों की प्रधानता नहीं होती। इनमें कलाकार अनंत विधियाँ (शैलियाँ) तथा विविध वास्तविकताएँ (विषयवस्तु) अपने मस्तिष्क से उत्पन्न करता है; तथा छात्र या पाठक या श्रोता इनका अनुभव करता है, तथा इन कल्पनात्मक (प्रतीकात्मक) रूपों की सार्थकता अपने कार्यों तथा व्यवहारों, विचारों तथा भावनाओं, बिंबों तथा यथार्थताओं आदि की अंतर्यात्रा में खोजता है। यही उसकी **चिंतन** की आदत और **विश्लेषण** का प्रशिक्षण है। इसके लिए साहित्य-शिक्षा कहीं किसी प्रकार की भूमिका अदा करती है। क्या वह यह भूमिका अदा करती है ? क्या इस भूमिका की सिद्धि का प्रमाण परीक्षा और परीक्षा में प्राप्तांकों से उत्तीर्णता है ?

इस संक्रांत प्रश्न पर विवाद करने के पहले हम 'सहित्य-शिक्षा' पर कुछ और स्थापनाएँ करना चाहते हैं। विश्वविद्यालयी साहित्य-शिक्षा में अध्यापन और शोध तो शामिल होगा ही, किन्तु साहित्य की कल्पनात्मक क्षमता और निर्देशन

१. 'The Idea of the University' Karl Jaspers, p. 141, Peter Owen, London, 1965.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सृजनात्मक विद्वत्ता भी शामिल होगी। मैं इसे 'विश्वविद्यालयी साहित्य शिक्षा का चतुरंग' कहता हूँ।

इस चतुरंग का पहला रूप यह है कि साहित्य विश्वविद्यालय में भाषा-संकाय या कला-फैकल्टी का एक भाग हो जाता है। अतः हिन्दी साहित्य हिन्दी विभाग में पढ़ाया जाता है। हिन्दी विभाग में साहित्य एम० ए० अथवा पी-एच० डी० की डिग्री का विषय होता है। अतः विशाल हिन्दी विषय (सब्जेक्ट) में बदल दिया जाता है जिसे दो वर्षों में पढ़ना पड़ता है।

इस पढ़ाई के लिए पाठ्यक्रम होता है जिसमें कुछ कवि, कुछ कृतियाँ तथा कुछ कालों को चुनकर अध्ययन-अध्यापन होता है। यह निर्धारित चयन 'सिलेबस' है। इसके अनुसार छात्र-छात्राएँ पढ़कर परीक्षा में बैठती हैं और प्रथम, द्वितीय, तृतीय श्रेणी में पास अथवा फेल होती हैं। उन्हें पढ़ाने के लिए अध्यक्ष और प्रोफेसर, रीडर तथा लेक्चरर होते हैं। अतः एक ओर तो हिन्दी साहित्य रूपांतरित होकर हिन्दी का **विषय** बनता है, तो दूसरी ओर इसका अध्यापन एक सीढ़ियों वाले संगठन के तंत्र में जकड़ जाता है।

साहित्य-शिक्षा के परिणामों का पूरक हाशिया समाज में मिलेगा। साहित्य-अध्ययन में उद्योग और विज्ञान दैत्याकार संगठनों वाले शहरों में अपना असर और अपनी प्रतिष्ठा खो चुका है। कुछ पेशेवर लेखकों, वेतनभोगी अध्यापकों तथा पुस्तक-प्रकाशकों को छोड़कर यह हमारे जीवन की **अवस्था** (कंडीशन) नहीं बदल पाता बल्कि जीवन के **गुण** (क्वालिटी) को बदलता है। किन्तु भद्रलोक की संस्कृति की शिक्षा देने वाला हिन्दी सहित्य तो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अप्रचलित हो गया है। साहित्य-शिक्षा अंततोगत्वा वैयक्तिक मूल्यों एवं अंतर्निर्माण से जुड़ी रही है जबकि हिन्दी में एम० ए० या पी-एच० डी० पास व्यक्ति को भी तो जीविका चाहिए और पठित मूल्यों की कसौटी। समाज में जीविका के बजाय बेरोजगारी फैली है, तथा मूल्यों के बजाय पूंजीवादी समाज का शोषण-उत्पीड़न और आत्मनिर्वासन है। अतः उसके पाठ्यक्रम के विहारी और भूषण, सूरदास और केशवदास, मैथिलीशरण गुप्त और महावीरप्रसाद द्विवेदी उसकी नजर से ओझल होते जाते हैं। फलतः साहित्य-शिक्षा का पाठ्यक्रम पुरानी परंपरा वाला होने के कारण **'झूठ मिथकों'** का खंडन नहीं कर पाता। इसके साथ ही जब इस पुरानी परंपरा वाले पाठ्यक्रम की शास्त्रीय और आध्यात्मिक व्याख्याएँ ही की जाती हैं तब विश्लेषण के औज़ार भी अनुपयोगी हो जाते हैं। इसके अलावा जब साहित्येतिहास के पाठ्य में साहित्य के इतिहास-दर्शन को अस्वीकृत किया जाता है तब हिन्दी साहित्य एक जीवित यात्रा के बजाय शव-साधना बन जाता है। यही नहीं; हिन्दी सहित्य में यत्र-तत्र गुँथे सामाजिक एवं बौद्धिक इतिहास के हाशिये भी सामंतीय दृष्टिकोणों तथा सांप्रदायिक प्रवृत्तियों से परोक्षतया रँग दिये जाते हैं। अतः बाद में समाज में आँखें फाड़कर एक साहित्यार्थी **'झूठे आदर्शों'** को खंडित होते हुए देखता है। अगर वह पहले उनका विरोध करता, तब शायद इतनी निराशा और पस्तहिम्मती नहीं फैलती। अतएव हिन्दी-साहित्य का अध्ययन और अध्यापन हमारे जीवन के गुण को भी नहीं बदल पाता। 'भद्रलोक संस्कृति' और 'झूठे आदर्शों' को ओढ़े हुए जब हम बाहर निकलते हैं तो बेहद अनुपयुक्त, अनाधुनिक, अनुपयोगी और असार्थक साबित होते हैं।

हमारी हिन्दी साहित्य-शिक्षा का विश्वविद्यालयी मॉडल तीसरे दशक में बनारस और इलाहाबाद में तैयार हुआ था। तब उसका लक्ष्य यह बताना था कि हिन्दी साहित्य बहुत प्राचीन है, उसका एक सुदीर्घ इतिहास है, वह हिन्दू जनता की धार्मिक और नैतिक जीवन की भागवत है, वह अंग्रेजी से टक्कर ले सकता है, आदि। अतः पाठ्यक्रम में पचहत्तर प्रतिशत से पचासी प्रतिशत भाग आधुनिक काल और आधुनिक साहित्य से पहले का शामिल हुआ। यही पूर्वाग्रह आज भी कायम है, यद्यपि कहीं-कहीं आधुनिक साहित्य का प्रतिशत पच्चीस से बढ़कर पैंतीस हो गया है। इसलिए सवाल यह उठता है कि पाठ्यक्रम का यह पुराना तथा परंपरागत प्रारूप अभी तक क्यों है? यह तो बदला जा सकता है क्योंकि यह कोई ज्यादा क्रान्तिकारी कदम भी नहीं है। इस अचलता का एक कारण तो यह है कि अधिकांश अध्यक्ष तीसरे दशक की व्यापकता और सनातनी नैतिकता के मुकाबले सातवें दशक की संक्रान्ति और विद्रोह की आधुनिकता को ईमानदारी से स्वीकार नहीं कर पाये। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि आधुनिक साहित्य के पठन और पाठन की प्रवृत्ति और आवश्यकता का पुनर्भव अनुभव नहीं हुआ क्योंकि नई पीढ़ी की साहित्यिक परम्परा से विद्वानों की टोली असहमत है तथा उसका विरोध करती है। इसका अंततोगत्वा कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि पुरानी पीढ़ी के अध्यापकों की रुचियों और संस्कारों में स्थापित स्थर्य और अंधरूढ़ि आ गई है जिससे वे नई संवेदना, आधुनिकताबोध और आत्मनिर्वासन की फूहड़तापरक तथा अवमानवीयकृत अवस्थाओं की यंत्रणा तथा विद्रोह के प्रति हृदयसंवाद नहीं कर पाते। इस स्थिति में अध्यापकी का पेशा करने वाले अपने पेशे के शब्दकोषों के आधार पर चतुरंग शिक्षा-क्रीड़ा में व्यस्त रहते हैं; किंवा उसमें निमग्न भी रहते हैं। वे आधुनिक विश्लेषण तथा अध्ययन के नये प्रतीक रूपी औज़ारों को इस्तेमाल करने की सूचना तक नहीं पाते। अतः वे एक संकीर्ण शास्त्रीय विवाद के लिए, प्राचीन विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान चर्वित करके, गैर-शास्त्रीय पाठकों के रसबोध तथा मौलिक लेखकों की अभिव्यक्ति की नवीनता से कोसों दूर होते जाते हैं। फलतः विश्वविद्यालयी साहित्य-शिक्षा और बाहरी जीवन में साहित्य-दीक्षा (सृजन और पठन) के बीच संवाद खत्म-सा हो जाता है और एक विरोधी मोर्चा भी कायम-सा हो जाता है। फलतः साहित्य की विश्वविद्यालयी शिक्षा विशुद्ध अध्ययन से आगे नहीं बढ़ पाती और उसकी सामाजिक दीक्षा चटखारे आवेश से अधिक गहरी नहीं हो पाती। नब्बे प्रतिशत का औसत यही है।

तो फिर विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा का असली प्रयोजन क्या है? जिस तरह विज्ञान वैज्ञानिक, मेडिसिन डॉक्टर या कानून वकील प्रशिक्षित करता है उसी तरह क्या हिन्दी में एम० ए० अथवा पी-एच० डी० का कोर्स विद्वान, आलोचक या अध्येता तैयार करता है? इसका उत्तर नहीं' है। हम यह जानते हैं कि साहित्यिक विद्वत्ता तथा आलोचना की अंतर्दृष्टि प्रत्येक छात्र या पाठक में नहीं विकसित हो पाती। अतः आलोचना के पाठ्यक्रम में छात्र आलोचनात्मक निर्णय नहीं दे पाते और वे विलक्षण सौंदर्यबोधात्मक संस्पर्शों से तो बिलकुल अछूते और कोरे होकर निकल जाते हैं। विश्वविद्यालयों के हिन्दी या किसी भी भाषा के छात्रों का भारी बहुमत विद्वान, आलोचक और रचयिता नहीं बनता। तो फिर किसी भी भाषा के साहित्य की विश्वविद्यालयी शिक्षा की आवश्यकता ही क्या है, अगर वह छात्रों को किसी पेशे या व्यवसाय के लिए प्रशिक्षित नहीं करती अथवा उनके जीवन्धर अनुभव के नजदीक नहीं होती, अथवा उनकी नई संवेदना को गहरा और सार्थक नहीं बनाती? विशेष रूप से सन् तीस के पहले का हिन्दी-साहित्य हमसे उतना ही दूर है जितना कि नाथों-सिद्धों का साहित्य अथवा वीरगाथाकाल। आज ये पुराने क्लासिक नव छात्रों के किसी भी समसामयिक संदर्भ में सार्थक तथा प्रयुक्त नहीं हो पाते। अतः नए विश्वविद्यालयों के अपेक्षाकृत कमसिन और आधुनिक अध्यक्षों को नया पाठ्यक्रम बनाने में एक सांस्कृतिक उलझन का सामना करना पड़ता है कि वे कितना पुराना छोड़ें तथा कितना नया स्वीकारें। किन्तु यह स्पष्ट है कि नई पीढ़ी के हिन्दी के अध्यापक तथा तरुण छात्र खड़ी बोली से पहले की साहित्यिक धारा को पढ़ने-पढ़ाने से कतराते अथवा घबराते हैं। उन पुरानी साहित्यिक परम्पराओं के मानवमूल्य तथा उपभाषागत मुहावरे आधुनिक समाज और खड़ी बोली के चरण में कम-से-कम प्रामाणिक हो गए हैं। इसका अस्थायी समाधान 'कोठारी-कमीशन' के सुझावों के दायरे में ही हो सकता है अगर हम एक ओर विश्वविद्यालयी हिन्दी-साहित्य की शिक्षा को अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, चीनी, जापानी, रूसी, जर्मन आदि साहित्य तथा भाषा से गूँथें। दूसरी ओर भारत की राज्य भाषाओं के साहित्य से जोड़ें तथा तीसरी ओर सांस्कृतिक और अन्य कला-इतिहासों के संदर्भ में साहित्येतिहास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करें। हमें विकल्पों के प्रश्नपत्रों के लिए इतने ज्यादा विषय चुनने चाहिएँ जिससे छात्र अपनी रुचि और ज्ञान तथा सामर्थ्य को विकसित कर सकें। अभी तक हमारे अधिकांश छात्रों को उर्दू-साहित्य तक का परिचय नहीं है। अभी तक वे जोशीले झूठे आदर्शों और मध्यकालीन मूल्यों के संसार में विभ्रमित हैं। आज भी वे साहित्यिक इतिहास को राष्ट्रीय इतिहास और सांस्कृतिक इतिहास के 'संपूर्ण' से नहीं जोड़ पाए। अभी तक वे अपनी आलोचनात्मक शास्त्रीय पद्धतियों में नव विकसित प्रणालियाँ नहीं शामिल कर सके। अतः हिन्दी साहित्य-शिक्षा भी सम्पूर्ण राष्ट्र के एक सांस्कृतिक जेस्टाल्ट अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के प्रवाह में नहीं बह सकी। फलतः वह कूपजल की तरह स्थिर-सी हो गई है।

तो फिर 'हम साहित्यिक शिक्षा से क्या प्रत्याशा करते हैं?' इसका एक उत्तर ग्राहम ह्यूम ने दिया है: "कुछ लोगों की सर्वोच्च कोटि की विद्वत्ता और निर्णय! किन्तु कुछ लोग कोई समस्या नहीं है। तो फिर उनके लिए क्या करें? जिनकी अविशेषीकृत सामान्य बुद्धि है और जो मानवतावादी शिक्षा के उचित पात्र हैं? हम यह प्रत्याशा करते हैं कि साहित्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा उनकी मानवीय संवेदना और सहानुभूति का दायरा बढ़ाये; उनके वर्ग तथा देश की सीमा से परे उनकी कल्पना का विस्तार करे; उन्हें यह दिखाए कि उनकी समस्याएँ एवं अभिशाप एक व्यापक मानवीय अनुभव के पैटर्न के अंग हैं जो उस वृहत्तर पैटर्न के अन्तर्गत नये अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। ···यह व्यापक रूप से कल्पना और अनुभूतिकी शिक्षा है।··· आवश्यक यह है कि यह शिक्षा अन्य भाषाओं के साथ, इतिहास के साथ और विचारों के इतिहास के साथ गूंथ दी जाय।"[1] हमारा पूरा अनुभव है कि कोई भी साहित्यिक शिक्षा सामान्य छात्रों को यह सब नहीं दे पा रही है। हिन्दी इसका अपवाद नहीं है। किन्तु हमारे प्रसंग में असली सवाल यह है कि क्या हिन्दी की मानविकी (ह्यूमेनिटीज़) की शिक्षा **राष्ट्रीय** (धर्मनिरपेक्ष और सामाजिक जनता के जीवन के नज़दीक और विभिन्न भाषाओं से गुँथने वाली) है? इससे भी आगे बढ़ें। क्या स्वयं हिन्दी साहित्य **आधुनिक शिक्षा** देने में सक्षम है? क्या यह उस ओर बढ़ रहा है? इसका उत्तर हमारे जीवंत अनुभव ही दे सकते हैं। साहित्यिक शिक्षा ज्ञान, कौशल और रोज़गार तीनों से दूर होती जा रही है।

विश्वविद्यालयी शिक्षा का दूसरा भाग शोध है। विज्ञान के विषयों में यह धारणा है कि बेसिक (सैद्धान्तिक) विज्ञानों में शोध का व्यावहारिक महत्त्व कम है क्योंकि वह उपयोगितावादी नहीं है। इसकी तुलना में साहित्य विषय में शोध या तो किसी ज्ञानक्षेत्र का विस्तार करे, कोई नई व्याख्या करे अथवा किसी नई धारा या नए ग्रन्थ की खोज और विश्लेषण। शोधों की बढ़ती हुई संख्या आज केवल ज्ञानक्षेत्र के विस्तार के बजाय मात्र मात्रात्मक उपलब्ध ज्ञान सामग्री की नकल और संग्रह के पोथे बन चुके हैं। अतः कुछ विश्वविद्यालयों में रिसर्च छात्रों को भी औपचारिक शिक्षण (एम० लिट्) देने की जो योजना बनाई है वह बिलकुल सही है। आज स्नातकोत्तर अध्ययन ही इस दिशा में बढ़ रहा है कि कहीं भी अध्यापक होने के लिए और तरक्की पाने के लिए पी-एच० डी० की डिग्री न्यूनतम योग्यता हो गई है। साथ-साथ यह डिग्री निम्नतम हो रही है। अतः शोध एक जिज्ञासा और नवान्वेषण की भावना से नहीं हो रहे हैं। शोधार्थी विश्लेषण और संश्लेषण की नई विधियों से अपरिचित हैं, वे उन्हीं शीर्षकों को चुनवाना चाहते हैं जिन पर एक ही स्थान में सामग्री मिल जाये और जिनकी प्रकृति विश्लेषणात्मक के बजाय संग्राहक हो; वे स्वयं किसी भी विषय की धारणा नहीं रखते और अपने अधीक्षक चुने गए विषय पर बेसमझे काम शुरू करके जल्दी छुट्टी पाना चाहते हैं; वे किसी भी शोध संस्था तक में अनमने ढंग से जाने को तैयार होते हैं; वे किसी भी प्राचीन विषय पर तथा चुनौती भरे क्षेत्र में कार्य करने को अप्रस्तुत हैं; उनके निर्देशक भी इतने सर्वज्ञ हैं कि अपभ्रंश साहित्य से लेकर अस्तित्ववादी दर्शन तक के विषयों के दर्जनों छात्र उनके अकेले अधीक्षण में रहते हैं; निर्देशक बहुधा स्वयं भी विषय का ज्ञान नहीं रखते और ढाई-तीन वर्ष के बाद टाइप किये गए बारह मसाले को आँखपट्टी बाँधकर 'थीसिस' का सर्टीफिकेट दे देते हैं। आश्चर्य है कि ब्रह्मरूप अधीक्षक के नाम की मुहर की कीमत के कारण उसी थीसिस पर परीक्षक भी सहर्ष डिग्री प्रदान करके बौद्धिक उदारतावाद और राष्ट्रभारती की सेवा का परिचय देते हैं। इस तरह हिन्दी साहित्य-शिक्षा और शोध, दोनों ही मात्रा तथा गुण की दृष्टि से समदर्शी साबित हुए हैं। इसका एक मूल कारण यह है कि निरीक्षक तथा शोधार्थी, दोनों को ही व्यावसायिक प्रशिक्षण नहीं मिला है; दोनों ही व्यक्तिगत ज्ञान और व्यक्तिगत संग्रह पर आश्रित हैं। इसका असर शोधार्थियों पर पड़ता है जिनके दिल, दिमाग़ और हाथ के प्रकार्य पृथक्-पृथक् ही नहीं, परस्पर-विरोधी भी हो जाते हैं। अतः "जितनी नामी मुहर, उतनी निश्चित डिग्री; जितनी घटिया चमचागीरी उतनी बढ़िया नौकरी" का फार्मूला सरे-आम लागू है। इसकी कीमत कुछ ईमानदार और स्वतंत्रचेता शोधार्थियों को देनी पड़ता है जो किसी भी गुरु से कान नहीं फुँकवाते अथवा किसी सिद्धगुरु की चरणधूल शिरोधार्य नहीं करते। यह त्रासदी है। किन्तु त्रासदी के लिए तो शर्त ही है कि त्रासद नायक नेक, ईमानदार और चरित्रवान हो जिससे सामाजिक अत्याचार उसे खत्म कर दें। कार्ल जास्पर्स के अनुसार यूनिवर्सिटी मॉडल ऐसा हो जो एक साथ एक व्यावसायिक स्कूल, एक सांस्कृतिक केन्द्र तथा एक शोध-संस्थान हो। शोध के बाबत उन्होंने कहा है कि शोध स्वयं में ज्ञान के सम्पूर्ण में अनुप्रवेश पर, तथा सभी प्रकार के विशेषज्ञों से

१. दे० 'Crisis in Literary Education', in 'Crisis in the Humanities' Ed. by J H. Plumb. Penguin 1964, p. 107.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय के अवसर पर निर्भर करती है। इसके लिए विश्वविद्यालय ज्ञान के अतिरिक्त सहायतार्थों—संग्रहालय, पुस्तकालय, प्रयोगशाला—से सज्जित करती हैं। किन्तु ऐसे गुट और ऐसे निजी रिश्ते बन जाते हैं जिनका अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता।···लेकिन अगर केवल विद्याडबरी और विषयासक्त अध्येता भौतिक सुविधाओं के पीछे ही व्याकुल रहें तो विश्वविद्यालय दरिद्र हो जाता है। यह तब भी दरिद्र हो जाता है, जब वहाँ केवल भाषाविज्ञान होता है, दर्शन नहीं; केवल तकनालॉजी होती है, सिद्धान्त नहीं; अनन्त तथ्य होते हैं, विचार नहीं।"[1]

हिन्दी साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में यह दयनीय हालत तब और भी भयानक और फूहड़ बन जाती है जब हम यह पाते हैं कि कुछ अध्यक्ष और पर्याप्त प्राध्यापक लेखक और श्रेष्ठ आलोचक भी हैं। चलो, मान लो कि बहुसंख्यकों का भेड़ियाधसान है; और कुंजी तथा खुलासे लिखकर दौलत कमाने की भेड़चाल है। लेकिन विश्वविद्यालयों में हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, नलिनविलोचन शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र और रामकुमार वर्मा जैसे कीर्तिलब्ध स्कॉलरों की उपस्थिति भी वहाँ कुछ विशेष नहीं कर सकी!! वे भी नीरस और संकीर्ण शैक्षणिक नित्यचर्या के अनुयायी होते गये। इनमें से कई स्वयं को कभी-कभी निर्वासित अनुभव करते रहे हैं। इन्हें लगता रहा है कि ये अपनी सृजनात्मक स्कॉलरशिप की शक्ति और स्फूर्ति को छात्रों में संप्रेषित करने में असमर्थ रहे हैं। क्या इसके निवारण का कोई रास्ता नहीं है ? क्या विशेषज्ञता की सतही छीछालेदर के आगे अन्य ज्ञान-विज्ञानों से कोई एकता स्थापित नहीं हो सकती ? इस आधुनिक शैक्षणिक पक्षाघात से विमुक्त होने का एक ही रास्ता है : (१) हिन्दी साहित्य-शिक्षा राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि मानविकीशास्त्रों तथा समाजविज्ञानों से गहरा संपर्क स्थापित करके व्यापक और सृजनात्मक बने; (२) साहित्यालोचन को कम-से-कम सौंदर्यबोधशास्त्र से, तथा कला के सामाजिक इतिहासों से संयुक्त किया जाए; तथा (३) हिन्दी साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में एक नये 'व्यक्ति-आदर्श' की प्रतिष्ठा की जाए जो न तो सामंतीय विद्वान की तरह उत्तरीय, तिलक और धोती से लकलकाता हो; न ही हवाना शर्ट और कसे पतलून पहनकर आधुनिक बनने का पाखंड करता हो; और न ही पुराने बूर्जुआ-संस्कारों में जकड़ा हुआ अपौरुषेय साहित्य की कल्पित संजीवनी और आर्षदृष्टि का कायल हो। यह 'व्यक्तित्व-आदर्श' एक मामूली, संवेदनशील, ज्ञानजिज्ञासु, जागरूक, आत्मनिर्वासित आधुनिक ऐसे मनुष्य का ही हो सकता है जो संकोची हिन्दी छात्रों-अध्यापकों की हीनताग्रंथियों से विमुक्त होगा।

इससे बड़ी दयनीय हालत क्या होगी कि 'हिन्दी वालों' और हिन्दी के अध्यापकों का सामाजिक बिंब आज भी एक पुराने कथावाचक तथा भजनीक का, शास्त्री और पुरोहित का, अथवा एक आधुनिक असामाजिक, घोर नैतिकतावादी, तटस्थतावादी, पवित्र सूरदासवादी का ही बरकरार है। अध्यापकों और पाठ्यक्रम का ही यह असर है कि बहुधा हिन्दी साहित्य के छात्र साहित्येतर गोष्ठी-समाजों में शामिल होने अथवा स्वयं को हिन्दीवाला कहलाने में शर्म और संकोच का अनुभव करते हैं; समाजविज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों के अध्येता हिन्दी-अध्येताओं को 'प्रखर रसालिया' पाते हैं। इस अपमान और हीनता को ओढ़ने-ओढ़ाने वाले अध्यापक भी हैं। बहुधा हिन्दी के छात्र-छात्राओं की यह आरोपित मूढ़ता और यंत्रणा मर्यादा पुरुषोत्तम अध्यापकों के लिए गर्व और हर्ष का विषय बनती है कि उनके विद्यार्थी छात्र असंतोष जैसे क्षणभंगुर रसभंगों; सामाजिक कर्म जैसे राजनैतिक षड्यंत्रों; बौद्धिक वाद-विवाद जैसे अमर्यादित अपराधों; तथा आधुनिक रहन-सहन जैसे अभारतीय कृत्यों में न पड़कर अनन्तम् और आत्मन् की साधना में तल्लीन हैं। वे तो कबीर की तरह श्रीराम के कूकुर हैं। उन्हें हिप्पियों और नक्सलपंथियों से क्या लेना-देना!

विश्वविद्यालयों में हिन्दी छात्र-छात्राओं के पैटर्न भिन्न-भिन्न हैं। मुझे कुछ राज्यों का निजी अनुभव है। मूलरूपेण ये निम्न-मध्यवर्ग के होते हैं जो बनावट और गरीबी, रूढ़ि और असंतोष के बीच घुटते रहते हैं। इनकी तात्कालिक समस्या नौकरी की है, क्योंकि ये छात्र संवेदनशील रोमांस और मिथकीय आदर्शों के इन्द्रजाल से कहीं गहराई पर वशीभूत हुए होते हैं, अतः ये हिन्दी के विषय को चुन लेते हैं। इनमें से अधिकांश पहले अन्य विषयों में दाखिले की कोशिश करते हैं किन्तु उनमें बेहद कमज़ोर होने के कारण, सभी जगह से अस्वीकृत होकर, लाचारी में हिंदी विभाग के अनाथालय में

1. 'The Idea of the University,' pp. 56-57, Peter Owen, London, 1965.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भर्ती होते हैं और 'साहित्य साधना' तथा 'गुरु के आशीर्वाद' जैसे तकियाकलामों से शालीन बनने का स्वाँग रचते हैं। ये चापलूसी और चुगलखोरी में संस्कारतः प्रशिक्षित होते हैं। ये राजनैतिक चेतना और सामाजिक कर्म से दूर भागते हैं। इनमें से अधिकांश बचपन में ही विवाहित होते हैं जिससे उनका भावात्मक और मानसिक विकास कुंठाग्रस्त होता है। बहुधा कुछ राज्यों और छोटे विश्वविद्यालयों में एम० ए० (हिन्दी) में दाखिल होने वाले छात्र तक नहीं मिलते हैं। तब स्वयं प्राध्यापक उनके घरों के चक्कर लगाकर उन्हें मुफ्त किताबें, फीस मुआफ़ी, हाज़िरी मुआफ़ी आदि की रियायतें देकर कक्षाएँ 'बनाते' हैं। ऐसी हालत में स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। पंजाब के एक शहर के एक प्रसिद्ध कालेज में इस जुलाई में अर्थशास्त्र में दाखिल होने वाले आवेदक ३६० थे, जबकि हिंदी में केवल पाँच। ये आँकड़े एक शोकगाथा का मंगलाचरण हैं। कुल मिलाकर ये बेहद निराश और दिशाहीन होते हैं। छात्राएँ मीरां-सूर-तुलसी या प्रसाद-पंत-निराला के रहस्य-रूमानी प्रभावों से संमोहित होकर आती हैं और दो माहों के भीतर ही कुंजीनुमा अध्यापन पाकर स्वयं साहित्य से विरक्त हो जाती हैं। वे भी अन्त में इसीलिए आती हैं कि अन्य विषयों में या तो वे चल नहीं पातीं अथवा उनमें फेल होती हैं। इसके अलावा उनके अभिभावक इसलिए हिन्दी पढ़वाते हैं कि वे भक्त कवियों वाली भाषा पढ़कर पवित्र कन्या और साध्वी-सती बनी रहेंगी। वे अभी भी यह समझते हैं कि रामायण-गीता की गृह-संस्कृति ही एम० ए० हिन्दी में दुबारा परिपूर्ण होती है। उन्हें 'नदी के द्वीप', 'शेखर : एक जीवनी', 'सुनीता' और 'उर्वशी' के पाठ्यक्रम का अनुमान तक नहीं है। अन्यथा परिवार-नियोजन को उद्धत देश के सत्तर प्रतिशत विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में हिन्दी की एम० ए० ठप्प हो गई होती क्योंकि हिन्दी को 'लड़कियों और युवतियों का विषय' होने का भी सम्मान मिला है। कुछ क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं : जैसे पंजाब में हिन्दी के छात्र-छात्रा बहुत हैं और वे कुछ पश्चिमी ऐटिकेट, नये फैशन तथा सामाजिक स्वतंत्रता की तमीज़ रखते हैं; बिहार के छात्र संकीर्ण जातिवाद और पुराने सिलबिल्ले पहनावे को ही हिन्दी की सेवा का सबूत मानते हैं; उत्तर प्रदेश में हिन्दी छात्र छायावादी रोमांसों में तड़पते हैं किन्तु स्वयं अपनी बहनों को बिना अंगरक्षक के रसोई के पार भी नहीं झाँकने देते। प्रत्येक राज्य के हिन्दी छात्र-छात्राओं की सामाजिक चेतना और सामूहिक आचरण में अल्ट्रा-माडर्न से लेकर अल्ट्रा-पुरातन का अन्तर है। अतः इसका असर पाठ्यक्रम में पुराने साहित्य बनाम नये साहित्य की पढ़ाई पर पड़ता है। वाराणसी के छात्र प्राचीन साहित्य की ओर मुड़ते हैं तो इलाहाबाद के मध्यवर्गीय तरुण छायावादी संस्कारों की ओर, दिल्ली के शास्त्रीय रस तत्त्व की ओर, और चण्डीगढ़ के अत्याधुनिक कहानी की राह की ओर। इसके अलावा इन क्षेत्रों में अपने-अपने आंचलिक लेखकों को शामिल करने की सर्वथा उचित चेतना है जिससे हिन्दी साहित्य हरेक राज्य में स्वतंत्र रूप से उन्नत भी हो रहा है। इतने फैले हुए मानक बटखरों में हम एक छोर पर हिन्दी साहित्य के प्रति पूज्य-भावना पाते हैं, तो बीच में कलात्मक लगाव, तथा दूसरे छोर पर उपयोगितावादी लेन-देन। इनके मेल से ही हम छात्र-छात्राओं के संस्कारों और मनोलोकों को समझकर हिन्दी शिक्षा को सही ढंग से संप्रेषित कर सकते हैं।

छात्रों में सार्थक संप्रेषण के कई रूप हो सकते हैं—मित्रता का रूप, युवक संगठनों का रूप, विवाह का रूप तथा प्रेम का रूप। सौभाग्यवश बेचारी हिन्दी के छात्र-छात्राओं में पहले रूप की प्रधानता है। किन्तु यह संप्रेषण एक सामूहिक कार्य नहीं बन पाता। बौद्धिक परंपरा की निरंतरता का प्रतिनिधित्व 'चिंतन के संप्रदाय' करते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों—सागर, दिल्ली, इलाहाबाद, वाराणसी आदि—में ये संप्रदाय प्रचलित-से हैं। विश्वविद्यालयों में ये वांछनीय होते हैं, बशर्ते इनके अनुवर्ती केवल चापलूस अनुकरण न करें बल्कि अपने गुरु से स्वतंत्र होकर चिंतन करने का सामर्थ्य और समर्थन भी पायें। हिन्दी में अनुकरणमूलक संप्रदाय की प्रधानता उसके सामंतीय आदर्शों का एक बचा हुआ जीवाश्म है। वस्तुतः छात्र इसीलिए विश्वविद्यालय में आता : कि वह एक 'व्यवसाय' (प्रोफेशन) के लिए प्रस्तुत हो सके। यह उसका उचित मूल प्रयोजन है। इसके लिए व्याख्यान, पाठ्यक्रम, सेमिनार आदि उसकी सहायता करते हैं ताकि वह अपनी कठिनाइयाँ दूर कर सके। इसके लिए उसे पुस्तकों और अन्य सामग्रियों की भी आवश्यकता पड़ती है। यूनिवर्सिटी के छात्र शिशु न होकर वयस्क होते हैं। अतः अपने निर्माण की प्रक्रिया को वे तेज़ और श्रेष्ठ बना सकते हैं अगर वे बौद्धिक तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक जीवन में भाग लें। अतः अगर उनके अध्यापक श्रद्धा-भक्ति के स्थान पर तर्कना और विवाद की क्षमताओं को प्रोत्साहित नहीं करते, अगर उनमें स्वयं भी व्यक्तिगत संवर्धन की आकुलता नहीं होती, अगर विश्वविद्यालय का गठन विद्यार्थियों की कठिनाइयाँ दूर नहीं करता, तो वे बाज़ारू और घटिया कुंजियों की सहायता से पाठ्यक्रम तैयार करते हैं और सामाजिक जीवन में केवल स्वार्थसिद्धि को ही लक्ष्य मान लेते हैं। यही प्रक्रिया समाज में भी घट रही है। अतः इसका आन्दोलक विरोध नहीं हो पाता।

पुरानी शास्त्रीय साहित्य शिक्षा का 'व्यक्ति आदर्श' एक साधुपुरुष, सहृदय, गृहस्थ का निर्माण था जिसके लिए व्याकरण, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। आज यह बुनियादी माडल खत्म हो चुका है। आज अगर हिन्दी साहित्य-शिक्षा का कोई ध्येय हो सकता है तो वह विद्यार्थी में साहित्याशंसा द्वारा उसकी **संवेदना** (सेंसिबिलिटी) और **प्रत्यक्षीकरण** को प्रशिक्षित करे ताकि वह आधुनिक जीवन की जटिलताओं को झेल सके। मैं बार-बार अनुभव करता हूँ कि यह तभी होगा जब विद्यार्थी झूठे आदर्शों को प्रचंड खंडन द्वारा तहस-नहस कर देगा और प्राचीन रहस्य-वादी तथा रीतिकालीन माया से उद्धारित होगा। हमें यह भली-भाँति मालूम है कि छात्र-छात्राओं की बहुसंख्या पेशेवर स्कॉलर, आलोचक, मनीषी और सर्जक नहीं बनेगी; उसे जीविका चाहिये। अतः उसे साहित्य और आडम्बर एक लगते हैं। साहित्य के बहुसंख्यक छात्र हताश और उदासीन हो जाते हैं क्योंकि वे साहित्य में जीवनपर्यन्त अन्तर्लीन होने की स्थिति में नहीं हैं, क्योंकि जो पाठ्यक्रमी साहित्य प्रदान किया जाता है वह उनके लिए अनुपयुक्त है, क्योंकि रटे-रटाये ढंग की आलोचनाएं और रद्दी व्याख्याएँ उनकी नैसर्गिक रुचियों तक को भद्दा कर देती हैं। फिर हम केवल उन्हें एक ही साहित्य-प्रयोजन बता सकते हैं—मनोरंजन और रसानन्द। जो साहित्य छात्रों के **जीवित अनुभव** से नहीं संपृक्त हो पाता वह उन्हें रस-संप्रदाय और अनपढ़ फ़ायडवाद तो रटा देता है किन्तु उन्हें अन्ततोगत्वा **वैयक्तिक अनुभव** से वंचित रखता है। छात्र दिलफेंक फिल्में देखते हैं, उत्तेजक पाकेटबुक्स पढ़कर गुलशन नन्दा और दत्त भारती, कुशवाहा कान्त और मीना सरकार का यशकार्य बढ़ाते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि परम्परागत हिन्दी साहित्य का जो पाठ्य-क्रम उन्हें पढ़ना पड़ता है उसमें से पर्याप्त उनके बोध की परिधि में आज 'असौंदर्यात्मक' है क्योंकि बहुधा पाठ्यपुस्तकें भी तो व्यापार और स्वार्थ के दबावों से निर्धारित की जाती हैं। अतः इसका अकेला इलाज यही है कि हिन्दी वे ही पढ़ें जिन्हें या तो नौकरी की तलाश नहीं है, अथवा जो स्वतन्त्र स्वाध्याय द्वारा साहित्य को कम-से-कम भाषा, इतिहास और दर्शन, समाजशास्त्र-सौंदर्यबोधशास्त्र और मनोविज्ञान से अन्तर्ग्रथित करें। अतः 'सृजनात्मक स्कॉलरशिप' की धारणा ही साहित्य-अध्ययन में आधुनिक तथा सार्थक है।

इसी कड़ी में हिन्दी के अध्यापक आते हैं। हिन्दी-अध्यापन के प्रसंग में वे तीन स्थितियों में होते हैं—(१) विश्वविद्यालय गठन की दृष्टि से वे एक संकाय और उसके डीन के अन्तर्गत एक विभाग के सदस्य होते हैं जिसका एक प्रोफ़ेसर-अध्यक्ष होता है। (२) विभाग में उनकी प्रोफ़ेसर, रीडर, लेक्चरर, रिसर्च असिस्टेंट आदि की श्रेणियाँ होती हैं। (३) सामान्य अध्यापकों के तौर पर एक विश्वविद्यालय के अध्यापक संघ के वे सदस्य होते हैं जो उनके एकेडेमिक उत्थान, कार्य की दशाओं, नौकरी की शर्तों, अधिकारों और कर्तव्यों आदि को प्रोत्साहित करता है। व्यवसाय के स्तर पर वे ऐच्छिक रूप से 'अखिल भारतीय हिन्दी (प्राध्यापक) परिषद्' के सदस्य भी हो सकते हैं। इन तीनों स्थितियों में शक्ति और कार्यों का विभाजन होता है लेकिन बहुधा समाज में एकाधिकारी व्यवस्थाओं के सुदृढ़ होने के अनुरूप—यह शक्ति और कार्य उच्च पदाधिकारियों में अकेले निर्बाधित केन्द्रीभूत होने की दिशा में बढ़ते जाते हैं। अतः इनका प्रजातांत्रिक ढांचा अन्दर से निरंकुश तत्त्व वाला हो जाता है। उदा०, हर्बर्ट बटरफील्ड ने 'अमेरिकन हिस्टोरिकल एसोसियेशन' की महान् प्रसभाओं के बावत कहा है कि वे अक्सर एक मंडी की शक्ल में बदल जाती हैं जहाँ प्रोफ़ेसर अपने रिसर्च छात्रों के लिए नौकरियाँ पकाते हैं। एकसमान विचारों वाले व्यक्तियों का मिलना-जुलना, अधिक ज्यादा एकसमान-विचार पैदा करता है; और हमेशा अचलता तथा अनुदारता का हेतु होता है।[1] इस कड़ी में विभागीय प्राध्यापकों के चयन में सिद्धांततः तो सर्वोत्तम को चुनने का लक्ष्य होता है लेकिन व्यवहारतः उत्कृष्ट को प्रतियोगिता के न्यूरोटिक भय के कारण नहीं

१. दे० 'The University and Education Today,' p. 47.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुना जाता, तथा **निकृष्ट** को प्रतिष्ठा के कारण अस्वीकृत कर दिया जाता है। फलतः **अतिसामान्य** चुना जाता है बशर्ते कि वह बुद्धिमान से अधिक वफ़ादार हो; और मर्यादा प्रोफेसर का परमभक्त हनुमान हो। हर विश्वविद्यालय में हिन्दी के शोधछात्रों की एक गणपतिसेना तथा छात्राओं की देवसेना होती है जिसमें पुराने-से-पुराने विनीत छात्र की नियुक्ति का ज्यादा-से-ज्यादा मौरूसी हक बनता जाता है। इससे विश्वविद्यालय में प्रान्तीयतावाद और प्रसादनवाद फैलता जा रहा है। कुछ प्रोफेसर अपने छात्रों के लिए अकादमीय पद तथा पदलाभ दिलाने के कारण दिग्विजयी हो जाते हैं और वृहत्तर भारत में उनके दिग्विजयी अश्व तथा द्वारपाल कूकर तक पूजे जाने लगते हैं। नियुक्ति की लिजलिजी सुविधाजनक तिकड़मों की दास्ताँ एक आधुनिक राजतरंगिणी बन सकती है। किन्तु मूलरूपेण नीति यही है कि एक स्वतन्त्र चिन्तक के बजाय मामूली पढ़न्तू को नियुक्त किया जाए, एक 'बाहरी' के बजाय **अन्दरूनी** (जाति, गुट, प्रान्त वाले) तथा **अपने** (केवट, या हनुमान, विभीषण या अंगद) को नियुक्त किया जाय; तथा अगली पदोन्नति भी सिविल सर्विस के स्वचालित ढंग से स्वतः दे दी जाये। मेक्स वेबर ने इस दुर्दशा से निकालने का सुझाव दिया है कि एक विश्वविद्यालय का डॉक्टर-शोधकर्ता **हमेशा** दूसरे विश्वविद्यालय में ही नियुक्त किया जाये। अतः विश्वविद्यालय की विद्यासमिति भी उन विद्वानों के हाथ का मोहरा हो जाती है जो शक्ति की कामना करते हैं, धन इकट्ठा करना चाहते हैं और अपने सम्पर्कों के मायाजाल को फैलाते-फैलाते अपने गुट का अदृश्य साम्राज्य क़ायम कर लेते हैं जिसमें ऐसी सीढ़ियाँ लगी होती हैं कि अपनी तेज़ प्रज्ञा और मौलिक आलोक के कारण आरती से एक बार उतरा दीपक जीवनपर्यन्त किसी भी प्रभावित विश्वविद्यालय में जगह नहीं पा सकता। गुटों के कारण ज्ञान के सहस्रदीप जलने के बजाय पुस्तक निर्धारण, परीक्षक-नियुक्ति आदि की काजल-लीकें लगती-फिसलती जाती हैं और अनेकानेक अध्यापक साल में दस-बारह हज़ार रुपयों तक की आमदनी कर लेते हैं। उनके घरों में किताबें नहीं होतीं, किन्तु कुछ ही वर्षों में एक कोठी बनने लगती है, भारी बीमा पालिसियाँ ली जाती हैं और ज्ञान-पदलाभ की प्रतीक एम्बेसेडर मोटर दरवाज़े पर चिंघाड़ने लगती है। यह एक आम बात है। लेकिन इसके भागवत में नवों रस हैं। अतः विश्वविद्यालयों में बौद्धिक और दार्शनिक वादविवाद का स्वतन्त्र सम्प्रेषण नहीं हो पाता। उसके स्थान पर दो विरोधी शख्सियतों के लड़ाई-झगड़े तथा थुक्का-फज़ीहतें शुरू होती हैं जिससे साहित्यकारों के व्यक्तित्व के प्रभामंडल झरते जाते हैं। ईर्ष्या और विद्वेष से अनेकानेक हिन्दी-विभागों का वातावरण फदक और भभक रहा है। यह सब अभिनय इसलिए ज्यादा नंगा हो गया है कि उच्चतर शिक्षा की वृद्धि के कारण नौकरियों की संख्या बढ़ी है और इसके साथ ही सुयोग्य प्रशिक्षित स्कॉलरों की कमी हुई है जिससे अनेक संकीर्ण आधारों पर चुनाव किया जाता है ताकि जातिनेता, गुटनेता, गुरुनेता की गद्दी न डगमगाये। ऐसी हालत में कई रचनात्मक अध्यापक तथा कुछ प्रोफेसर भी अत्यन्त उत्पीड़ित रहते हैं। कभी-कभी तो योग्य प्रोफेसर भी केवलमात्र अपने घोंसलों—अर्थात् विश्वविद्यालय के अपने सिलेबस—में ही प्रवीण और दक्ष होते हैं। उनमें फुरतीलापन तथा अनुकूलनशीलता गायब हो जाती है। जब समाज की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप पाठ्यक्रम बदलने की आवाज़ उठती है तब उसको कुचल दिया जाता है। यह स्पष्ट है कि नये पाठ्यक्रम की स्वीकृति का मतलब नये ढंग से पढ़ाना भी है; और इसके लिए नये बोध वाले अध्यापक चाहिये। यह नहीं; यह नहीं; यह नहीं। अतएव पाठ्यक्रम नया नहीं हो सकता; उसमें थोड़ा-बहुत ढाँचा परिवर्तन जरूर किया जा सकता है। फलतः विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य-शिक्षा का नवीकरण और आधुनिकीकरण नहीं हो पाया। देश में भी तो समाज-गठन का आधुनिकीकरण और नवीकरण नहीं हो पाया। अब दोनों साथ-साथ ही होंगे।

अन्तिम बात अध्यापन-विधियों की है।

हमारे विश्वविद्यालय परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ हैं। अतः वहाँ हज़ारों विद्यार्थियों के मस्तिष्कों को सूचनाओं से भर दिया जाता है जिससे यह गलतफहमी भी फैलती है कि उनकी बुद्धि का स्वतन्त्र विकास हो रहा है। यह मानो साहित्य के एक छात्र को 'अन्धकार का बालक' बना देना है। "अगर उसे पढ़ना सिखाया गया है तो विद्यालय को इस बात की चिन्ता नहीं है कि वह महाग्रंथों का पाठक बनेगा या रद्दी साहित्य में रुचि लेगा। अगर उसे केवल परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त करने के लिए समुचित ढंग से शिक्षा दी गई है—जो परीक्षा न न्यायसिद्ध है और न विश्वसनीय—तो यह शिक्षा का काम नहीं होता कि उससे पूछे कि वह ईमानदार एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्चा, समाज का सहयोगी एवं सहायक बना है कि नहीं, या कला और प्रकृति में कोई सौन्दर्य देख सकता है या नहीं, जिस पूर्ण इकाई का वह एक अंश-मात्र है, उसके हित के लिए वह अपने क्षुद्र स्वार्थों का बलिदान करने में समर्थ हो सकेगा या नहीं।"[1] वस्तुतः साहित्य की शिक्षा स्वशिक्षा है जो संवेदना को गहरा तथा प्रत्यक्षीकरण को व्यापक बनाती है। अतः यह मनोसौंदर्यात्मक अन्तर्लोक को समृद्ध बना सकती है। यह शिक्षा आत्मनिर्माण करती है। अतः इसके सामाजिक प्रयोजन आनुषंगिक हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य-शिक्षा अनुभूति, संवेदना और चिंतन की शिक्षा है जिसमें हृदय और मस्तिष्क का संयोग है किन्तु हाथ अपेक्षाकृत अजानुवाहु बनकर कटे-से लटके हैं। इसके अलावा यह भी सच है कि परीक्षा के प्रयोजन के लिए हर बुनियादी अध्ययन भ्रष्ट और भ्रान्त हो जाता है। इससे बड़ा सत्य यह है कि शिक्षा के घेरे में हिन्दी 'साहित्य' एक पाठ्यक्रम' (सिलेबस) का खंड रूप बन जाता है जिसमें साहित्यिक पाठ (टैक्स्ट) तथा आलोचनापरक टिप्पणियाँ (नोट्स) होते हैं जिनका स्वरूप प्रश्नोत्तरी वाला होता है। इसलिए तथ्यों को याद करना (परीक्षा) तथा अनुभव को भोगना (एस्थेटिक) : ये दोनों नितांत भिन्न हैं। हम यह कैसे पता लगा सकते हैं कि साहित्य ने छात्र पर कैसा तथा कितना गहरा असर डाला है, जब बाहर दुनिया में आते ही उसकी सारी शिक्षा की बारीकियाँ अनुपयुक्त तथा अनुपयोगी साबित हो जाने के जोखिमों से भरपूर होती हैं। फिर भी साहित्य की शिक्षा का सम्बन्ध मूलतः 'भाषा' से है। अतः हमें निम्न प्रकार के भाषा-प्रयोगों का भेद करना पड़ेगा—

(क) भाषा के व्यवहार अर्थात् वाक्य-रचना और व्याकरण का ज्ञान;

(ख) तार्किक वाक्यों के अर्थों का ज्ञान तथा व्यवहार;

(ग) कविता के काल्पनिक सत्यों को समझने की क्षमता;

(घ) व्यक्तिगत अनुभूति और भावना की महीन भाषा की अभिव्यंजना (व्याख्याएँ);

(ङ) विश्लेषण और स्थापन में अनालंकृत भाषा के प्रयोग की शक्ति; और

(च) दैनिक भाषा (उपन्यास, नाटक) में तथ्यों, अर्थों और अभिप्रायों की भावक शक्ति का प्रज्ञान;

अतः साहित्यिक शिक्षा में कम-से-कम **भाषा-व्यवहार** और **संप्रेषण-व्यापार** की शर्तें तो अनिवार्य हैं। भाषा की उपयुक्त शक्तियों का संस्पर्श करके ही कोई छात्र तथ्यों को चतुराई से याद करने (परीक्षा) से आगे अनुभव का भोग (एस्थेटिक्स) करके ईमानदार तथा सच्चा बन सकता है। साहित्य का आकृतिबंध ही ऐसा होता है कि वह सैद्धान्तिक सक्रियता-प्रधान है तथा भाषा की लीलाओं से शोभन है। आज जब हम सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं तब एक 'राष्ट्रीय शिक्षा' की भी याद आ रही है ('एजुकेशन-कमीशन' १९६४-६६)। अतः सामाजिक गठन और शैक्षणिक गठन परस्पर प्रतिबिंब हैं। हर प्रकार के शिक्षण में 'आदर' एक आधिकारिक तत्त्व है जिसका ईमानदारी और सच्चाई के परिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्र चिन्तन की सिद्धि होती है।

हिन्दी साहित्य की विश्वविद्यालयी शिक्षा में भी निर्देशन के कुछ रूप हैं—

व्याख्यान (लेक्चर), ट्यूटोरियल परिसंवाद (सेमिनार), और वादविवाद (डिस्कशन) आदि। यहाँ ये चार अध्यापन-विधियाँ ही प्रमुख हैं। स्नातकोत्तर हिन्दी में व्याख्यान और परिसंवाद प्रणाली ही प्रमुख हैं।

जब अध्यापक का छात्रों से अनुपात बहुत कम होता है (जैसे बी० ए० की कक्षाएँ) तब व्याख्यान-प्रणाली उचित होती है। इसमें छात्र निष्क्रिय श्रोता बन जाते हैं तथा उन्हें पकी-पकाई खीर खाने की ऐसी आदत पड़ जाती है कि वे सुनने के बजाय सब-कुछ लिखने लगते हैं और वाद का पढ़ना बन्द कर देते हैं। इससे छात्र न तो आपस में और न ही अपने अध्यापक से, विचारों का आदान-प्रदान कर पाते हैं, अगर बाद में वादविवाद के लिए समय या अवसर न दिये जाएँ। बहुधा घटिया व्याख्यानों से छात्र ऊब जाते हैं क्योंकि पुस्तकों में—कभी-कभी तो कुंजियों तक में—उनसे अच्छी सामग्री होती है। अक्सर यह भी होता है कि व्याख्यानों में हर साल एक ही अपरिवर्तित मुर्दा सामग्री की लाश का डिक्टेशन दिया जाने लगता है। अतः व्याख्यान एक महाजड़ श्रुतलेख में बदल जाता है जिसमें किसी भी प्रकार का नया ज्ञान न तो जोड़ा जाता है, और न ही पुराना ज्ञान छोड़ा जाता है। जब तक

१. डॉ० ज़ाकिर हुसैन, 'भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण', पृ० १९, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, १९६१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्यान अध्यापक की जीवनपर्यन्त साधना तथा सृजनात्मक स्कॉलरशिप के अंग नहीं होते, तब तक वे रद्दी, बेहूदा और कूपमंडूक होते हैं; तब वे समकालीन बौद्धिक जीवन से विच्छिन्न हो जाते हैं। बहुधा होता यह है कि कुंजियाँ लिखने, परीक्षक बनने, कमेटियों में चुनाव लड़ने और स्वार्थ साधने वाले अध्यापकों को व्याख्यान तैयार करने अथवा स्वाध्याय करने का मौका ही नहीं मिलता। अतः वे एम० ए० कक्षाओं के उन पत्रों के नोट्स किसी एक गर्मी की छुट्टी में ले लेते हैं जो उन्होंने पढ़ाने हैं। वे उन्हें प्रश्न-पत्रों के आधार पर प्रश्नोत्तर रूप में तैयार करते हैं। उन प्रश्नोत्तरों का विस्तार तथा संख्या इतनी नपी-तुली होती है कि पूरा कोर्स 'कवर' हो जाए तथा पिटे-पिटाये ढंग से पूरा साल भी बीत जाए। कभी-कभी हरफनमौला अध्यापक एम० ए० की उत्तर-पुस्तिकाओं से सर्वोत्तम उत्तरों की नकल कर लेते हैं और फिर उन्हें सालों तक डिक्टेट कराते रहते हैं। इस तरह दस वर्षों तक विभिन्न प्रश्न-पत्रों का परीक्षक बनने वाला प्रकाण्ड अध्यापक बड़ी ही शान और सम्मान से, पूरे आत्मविश्वास के साथ ठेंगा दिखाते हुए, आठों पत्रों को पढ़ाने का दावा करता है। ये व्याख्यान के कुछ रामबाण और तावीज़ हैं। इसी विधि से पच्चीस वर्ष का एक युवा अध्यापक छब्बीसवें वर्ष से ही ताउम्र पूरे वेतन को पेंशन रूप में पाने के काबिल हो जाता है। ऐसी मंज़रकशी में सूफ़ी बने हुए छात्र भी हैं जो 'कामायनी' के केवल वही सर्ग पढ़ेंगे जो पाठ्यक्रम में हैं; निराला की निर्धारित कविताओं में से भी केवल उन्हीं कविताओं की व्याख्याएँ रटेंगे जो 'इम्पार्टेंट' हैं; तथा प्रेमचन्द के निर्धारित उपन्यास का अकेला वही एक प्रश्न तैयार करेंगे जो इस साल प्रश्न-पत्र में पूछा जाने वाला है। उन्हें 'सम्पूर्ण कामायनी' का ज्ञान नहीं है; निराला के छायावदोत्तर कृतित्व से परिचय नहीं है; तथा प्रेमचन्द के निर्धारित उपन्यास के अलावा किसी भी अन्य उपन्यास का नाम तक नहीं मालम। ऐसे बहुसंख्यक छात्र-छात्राएँ तक अच्छी द्वितीय श्रेणी में एम० ए० में उत्तीर्ण होने के बाद हिन्दी साहित्य में मुक्तिबोध या निर्मल वर्मा, कुबेरनाथराय या ज्ञानरंजन, कुमार विमल या राजकमल चौधरी का नाम पहली बार सुनकर चौंकते हैं, मुंह बनाते हैं और नौसिखिये आचार्य की अवधूत मुद्रा में डगमग पाँव हिलाने लगते हैं। महाकाल का अंधेर तो तब होता है जब वे दो वर्षों में व्याख्यानों के दौरान एक भी लघुपत्रिका का दर्शनह न कर पाते, एक भी नये लेखक का नाम नहीं सुन पाते, और एक भी उत्तेजक संवाद में अध्यापक तथा लेखक को आमने-सामने टकराते हुए नहीं देख पाते। इसी तरह बाहरी टुटपूंजिये लेखक हिन्दी साहित्य की दीर्घ परम्परा को बिना जाने ही उसकी तथा विद्वान अध्यापकों की भर्त्सना करते हैं। उनके मनोजन्मा काल्पनिक पाठक कहीं नहीं हैं। मेरे सनम, वास्तविक पाठक तो ये ही हैं! और इनकी अर्थात् हमारी हालत ऐसी खस्ता है। आम पाठक तो जासूसी और रोमानी, बिस्तरी और सफ़री अफ़साने पढ़ता है। अतः टुटपूंजिये लेखक टुटपूंजिये आलोचकों को गाली देते हैं; टुटपूंजिये आलोचक मूढ़मति छात्रों को कोसते हैं; बेचारे बेचैन छात्र बौद्धिक पाखंड का भण्डाफोड़ करते हैं। अंततः सभी टुटपूंजिये निकलते हैं। एक लेखक और एक अध्यापक के बोध में पचास वर्ष का अन्तर है तो एक अध्यापक और छात्र के बोध में एक पीढ़ी का। कई जगह तो नए लेखक भी अध्यापक हैं। वे ही कौन-सा चाँद तोड़ लाते हैं। पहाड़ खोदते-खोदते अन्ततः वे इतने सिकुड़ते जाते हैं कि स्वयं चुहिया लगने लगते हैं। निष्कर्ष यही है कि नकलटीपू व्याख्यान-प्रणाली पाठ्य-उद्धरणों में संवेदना को जागृत नहीं कर पाती, तथा आलोचना में तार्किक शक्ति को प्रबुद्ध नहीं कर पाती। फलतः छात्र 'भाषा' की पूर्ववर्णित पंक्तियों से अछूते रह जाते हैं; साहित्य का भोग तथा बोध तो बहुत बाद की बात है। नतीजा यही है कि हम सब अलीबाबा के चालीस यार हैं।

दूसरी प्रणाली वाद-विवाद (डिबेट) की हो सकती है। बहस के द्वारा संप्रेषण सीधा और चिन्तनात्मक होता है। इस प्रणाली में ज्योंही हमारी स्थापना पर प्रश्न किया जाता है त्योंही तुरन्त संप्रेषण शुरू हो जाता है। इसमें अध्यापक और छात्र एक साथ वक्ता, श्रोता तथा सहभोगीहोते हैं। इसके अन्त में हम कुछ बहुमान्य या सर्वसम्मत निर्णयों को प्राप्त करते हैं। इस प्रणाली में प्रतिरोधी को पछाड़ने का निष्कपट उछाह होता है। किन्तु ईर्ष्या या प्रतिष्ठा, विद्वेष या अहंकार की गाँठें जब तड़ातड़ टूटकर खुलती हैं तब वाद-विवाद की प्रणाली लफ्फ़ाज़ी, हठधर्मिता तथा दुराग्रह में डूब जाती है। वाद-विवाद का अनुशासन समाज-विज्ञानों के अध्यापन में ज्यादा उन्नत है क्योंकि वहाँ कुछ निरपेक्ष आधार हैं, कुछ बाह्यनिष्ठ कसौटियाँ हैं तथा कुछ स्वीकृत सिद्धांत हैं। किन्तु साहित्य के आधार मूलतः निजी अनुभूतियाँ हैं, कसौटियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रीय हैं, तथा सिद्धान्तों से बहुव्यापी असहमति है। हिन्दी में श्रद्धा का आतंक और चापलूसी का संत्रास इतना प्रचंड है कि छात्र अध्यापक के सामने तथा अध्यापक अध्यक्ष के सामने, पालतू तोता या भीगी बिल्ली बन जाता है। अतः स्वभावतः अनंत विवाद का सुखान्त होता है और हमेशा ही क्रमशः प्राध्यापक, रीडर, अध्यक्ष ही विजयी होता है। इसका कारण यह है कि विवाद का 'सामूहिक कार्य' चिंतन के एक सम्प्रदाय का कोरा अनुकरण बन जाता है। इस प्रणाली में यह अपेक्षा की जाती है कि अध्यापक पहले छात्रों को आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण पठन सामग्री बताये। जब समूह के सभी छात्र उससे अवगत हो जायें तब वे आपस में बहसें करें। इसमें अध्यापक भी बीच-बीच में एक विवादी की हैसियत से भाग लेता है, तथा विषयांतर होने पर बहस को ठीक लक्ष्य की ओर मोड़ता रहता है। प्रश्नोत्तरों की बौछार के बीच निर्धारित समस्या के सभी पक्ष खुलते जाते हैं। विवाद का मूल ध्येय यह रहता है कि छात्रवृंद अपने आप भी चिंतन करे तथा बिना संवीक्षण (स्क्रूटिनी) के दूसरों के मतों को नहीं स्वीकारे। विवाद छात्रों में आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा करता है। व्याख्यान के मुकाबले में विवाद प्रणाली (साहित्य-शिक्षा में) लाख दर्जे बढ़िया है जो भाषा की अनुभूति और साहित्य में अभिव्यक्ति पर चार चाँद लगा देती है। किन्तु इस प्रणाली को अध्ययन-भीरु और पस्तहिम्मत छात्रों ने भी असफल कर दिया है। विवाद में वार्ता की मात्रा से गुण ज्यादा महत्त्व का है। अतः वे सेमिनार के घंटों में अनुपस्थित होकर मैटिनी फ़िल्में देखते हैं।

तीसरी प्रणाली सेमिनार की है। यह अधिकांश विश्वविद्यालयों में लागू भी है। "एक सेमिनार अग्रवर्ती छात्रों का विवादकर्ता समूह है जो विश्वविद्यालयों में या तो स्नातकोत्तर चरण में होता है अथवा डिग्री कोर्स के वरीय वर्ष में। सेमिनार का आवश्यक अंग बहस है। आमतौर पर सेमिनार का एक सदस्य या कई सदस्य एक लेख अथवा कई लेख पढ़ते हैं। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। जिस तरह सामूहिक विवाद की प्रणाली में समस्या पर कुछ निश्चित निर्णयों तक पहुँचना ही पड़ता है, उस तरह इसमें आवश्यक नहीं है।"[1] सेमिनार में एक ही समस्या पर भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों को प्रकट किया जाता है और सर्वमान्य निर्णयों के बिना भी विचारों का विनिमय किया जाता है। स्वतंत्र संप्रेषण का यह सर्वोत्तम माध्यम है।...सेमिनार में वैचारिक प्रौढ़ता के कारण गुरु और शिष्य के संबंध परोक्ष हो जाते हैं। सेमिनार ज्ञान की अगली खोजों के लिए नई भूमिकाएँ पैदा करता है। अतः इसका लक्ष्य व्याख्यान की तरह केवल ज्ञान का संवहन नहीं है। हिन्दी साहित्य-शिक्षा में यह प्रणाली ही सार्थक हो सकती है, कम-से-कम 'व्यक्तित्व आदर्श' के विन्यास में। सेमिनार के लिए एक समृद्ध पुस्तकालय जीवन्धर कसौटी है।

ट्यूटोरियल का संबंध बहुधा स्नातक पूर्व-कक्षाओं में होता है। अतः हम उसे छोड़ देते हैं।

[हमने संवद्धित कालेजों में उच्चतर शिक्षा पाने वाले लगभग ८५.५ प्रतिशत छात्रों की चर्चा नहीं की है। यह इस विषय की सीमा है। किन्तु कालेज अध्यापकों तथा विश्वविद्यालयी अध्यापकों के बीच जो बनावटी दीवारें हैं उनसे कालेज अध्यापकों को हीनता-ग्रंथि का शिकार नहीं होने देना चाहिये।[2] काबुल में केवल घोड़े ही नहीं होते।]

अन्ततः समापन करने पर हम कुछ नतीजे निकालना चाहेंगे।

पहले हमें 'हिन्दी साहित्य' और 'हिन्दी पाठ्य विषय' के बीच स्पष्ट अन्तर करना होगा। स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य की परम्परा तथा हिन्दी साहित्य शिक्षण के बीच गहरी खाई है। इसी तरह हमें 'सामान्य हिन्दी' और 'साहित्यिक हिंदी' के बीच भेद करते हुए प्राकृतिक विज्ञानों, समाजविज्ञानों आदि पर लिखी गई पुस्तकों को सामान्य हिन्दी तथा सामान्य ज्ञान के अंतर्गत रखना होगा। इसके साथ ही मानविकी संस्कृति और तकनीकी संस्कृति की एकता को अधिक वास्तविक बनाना होगा—स्वाध्याय और आत्मसंस्कार के द्वारा। 'संपूर्ण सत्य' को **कला** की उदारता और **विज्ञान** की यथार्थता की कान्त मैत्री द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है। अतः हिन्दी साहित्य को ज्ञान की आंचलिकता, प्रान्तीयता और अन्ध-राष्ट्रीयता से विमुक्त होना पड़ेगा। हिन्दी-साहित्य-शिक्षा में पाठ्यालोचन और व्यवहारात्मक आलोचना पर बल दिया जाना चाहिए; सेमिनार और विवाद की प्रणाली प्रोत्साहित की जानी चाहिए। हिन्दी-परीक्षाओं में स्टैंडर्ड मूल्यांकन के

१. S. R. Dongerkerry : 'University Education in India', Manaktalas, Bombay 1967, p.147.

२. दे० वही, पृ० १२२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानदंडों का अभाव है। अपवादों को छोड़कर कभी कोई थीसिस अस्वीकृत नहीं होती; कभी कोई छात्र फेल नहीं होता; कभी कोई द्वितीय श्रेणी से कम अंक नहीं पाता; और कभी कोई हिन्दी का एम० ए० अध्यापकी के अलावा अन्य प्रकार के किसी भी कार्य को करने की इच्छा, क्षमता या योग्यता नहीं रखता। यह व्यावसायिक नपुंसकता और साहित्यिक बहुरूपियापन विदूषकीय ढंग से प्रगटाव है। कम-से-कम अन्य विषयों के छात्रों की तरह हिन्दी के छात्रों के सामने जीविकोपार्जन के कुछ और रास्ते तो खुले हों; अन्यथा एम० ए० में उन्हें फुसला-बहकाकर निहंग लाड़िली कक्षाओं में बंद करना शायद कुछ के लिए अस्तित्व का सवाल बना रहेगा। जब मैं हिन्दी के बेकार छात्र को देखता हूँ तो उसके चेहरे पर कातरता, जुगुप्सा और प्रतिहिंसा की त्रिमूर्त धूपछाँह देखकर कंपित हो जाता हूँ। उसके आत्मनिर्वासन के सामने हमारी आचार्य मुद्रा एक बृहन्नला अथवा रँगेसियार जैसी लगती है। इसके लिए कहा जा सकता है कि एक 'प्रवेश-नीति' बनाई जाय। किन्तु जब पाँच-छै छात्रों को पकड़कर इकट्ठा किया जाय (हिन्दी क्षेत्र के महानगरों को छोड़कर) तब भला यह सोचना ही निरर्थक है। सबको द्वितीय श्रेणी में पास करना तथा प्राइवेट छात्रों की कैरियरपंथी सेना को अन्धाधुन्ध विजयी बनाते जाना भी हिन्दी साहित्य में परीक्षण के प्रतिमानों को धुँधला कर चुके हैं। हिन्दी छात्र अन्य कोई भी डिग्री (जैसे बी० एड०, अन्य भाषाओं के सर्टिफिकेट अनुवाद-डिप्लोमा आदि) लेना भी नहीं चाहते। वे शुद्ध साहित्य के उपासक हैं जो साहित्य के समाज-दर्पण होने का, अथवा सत्यं-शिवं-सुंदरं के अध्यात्म का धुरंधर मंत्र जप आये हैं। बगुला जोगियों की बहुतायत से मठ उजाड़ हो गया है।

हिन्दी-अध्यापकों को केवल **विषय का उत्तम ज्ञान** ही नहीं हो; बल्कि उन्हें **शिक्षण का विज्ञान** भी पता हो। अतः हिन्दी शिक्षण में भी बी० एड०, अथवा भाषा-प्रशिक्षण, शोध-पद्धति आदि के कोर्सों का पढ़ाया जाना भी अनिवार्य योग्यता बना दी जाय। केवल प्रथम या द्वितीय श्रेणी पाकर, अथवा केवल पी-एच० डी० होने के बाद ही, हिन्दी अध्यापक ठुमकता धौला बछड़ा नहीं बने। जिस तरह बहुधा सभी जगहों से अस्वीकृत लोग हिन्दी के छात्र बन जाते हैं क्योंकि यह विषय 'आसान' है, अर्थात् सभी अच्छी द्वितीय श्रेणी में (कुंजियों को पढ़कर तथा कक्षा नोट्स को रटकर) पास हो जाते हैं; उसी तरह बहुधा हिन्दी के अधिकांश अध्यापक भी सिफारिशों, दबावों और चोर रास्तों से इस क्षेत्र में घँसे हैं; उनके चुनाव में अतिश्रेष्ठ उम्मीदवार खुल्लमखुल्ला अस्वीकृत किये गये हैं; और औचित्य की आँखों में धूल झोंकी गई है। अतः ऐसा मंडल किसी भी कनिष्ठ और योग्य के आगे बढ़ने में हर तरह के रोड़े अटकाता है। ऐसे कापीराइट-विक्रेता 'प्रतिभावान' अध्यापक प्रत्येक पत्र की उपशाखाओं पर एम० ए० के छात्रों के लिए कई पुस्तकें लिख चुके हैं और थोक के हिसाब से सालाना चार-पाँच छात्र तेज संवर्द्धक, 'मौलिक' एवं 'अनुभवी', 'आधुनिक' एवं 'वैज्ञानिक' समीक्षाएँ लिखते जाते हैं। उनके बहुविध ज्ञान की कमी का कोई भी असर पद की मर्यादा पर नहीं पड़ता। अतः माँ भारती का सपूत उर्फ़ हिन्दी का अध्यापक स्थापित स्वार्थों की दास्य-भाव से भक्ति करते हुए इहलोक-परलोक दोनों सुधार लेता है। इसीलिए भक्तिकाल पढ़ाते समय वह पूरा वैष्णव भक्त और महाप्रभु वल्लभाचार्य ही बन जाता है लेकिन कवि तुलसी और सौंदर्यचेता सूर को छोड़ जाता है; रीतिकाव्य पढ़ाते समय वह पूरा कोका पंडित बनकर अभिसार, विपरीत रति और नखशिख के प्रसंगों की रंगारंग जुगाली करता है; आधुनिक साहित्य पढ़ाते समय एक दरोगा की तरह पूरी की पूरी पीढ़ी को तुलसी, भूषण, बिहारी, प्रसाद और पंत आदि के कठघरे से बाहर फड़फड़ाने नहीं देता।

यह बात तो स्वयंसिद्ध है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय वैसा ही बनेगा जिस तरह के विद्वानों को वह आकर्षित करेगा। किन्तु आकर्षित करने के तुरंत बाद नियुक्ति की पद्धतियाँ रहस्यात्मक हो जाती हैं। तथापि व्यापक राष्ट्रीय पटल पर समाजशास्त्रीय और राजनैतिक प्रभाव विश्वविद्यालय का गोपनीय कायाकल्प कर डालते हैं। आज़ादी के बाद हमारे विश्वविद्यालयों का जो कायाकल्प हुआ है वह देश की सामाजिक व्यवस्था और अवस्था के अनुसार ही है। इसके लिए विलाप करना भी एक प्रवंचना और विडंबना है जिस गठन ने प्रोफ़ेसरों को ऊँचे वेतन और महान् स्टेटस प्रदान किये हैं, भला वे उसके विरुद्ध क्यों हों? अतः उनकी नैतिक निष्ठा को काल्पनिक भय और वास्तविक खतरे खत्म-सा करते जाते हैं। उनके लिए 'एकेडेमिक फ्रीडम' एक आड़ और ढाल बन जाती है। वे व्यावहारिक समाज-परिवर्तनों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कटकर शुद्ध बुद्धि अथवा शुद्ध साहित्य के उपासक बनकर अलकाओं में समाधिस्थ हो जाते हैं। कार्ल जास्पर्स की बात को पुनश्च दुहराकर कहा जाये कि वे मूल्य-निर्णयों को स्थगित करके तटस्थतावादी उदासीनता में अपभ्रष्ट हो जाते हैं; न्यायोचित व्यावहारिक कर्म को त्यागकर आलसी-प्रमादी बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनका अभिषेक मर्यादावादी उदार सम्प्रदायों के संस्थापक के रूप में ही हो सकता है। वे रूढ़िभंजक और विद्रोही बुद्धिजीवी होने के लिए अपना मेरुदंड ही उखड़वा लेते हैं।

इस स्थिति से कैसे उद्धार हो? सामाजिक और आर्थिक क्रांति के साथ-साथ ही शैक्षणिक क्रांति और सांस्कृतिक क्रांति आ सकती है। तभी हम 'राष्ट्रीय शिक्षा' और 'नई प्रणाली' को स्वीकार कर सकेंगे। अतः इन सबके लिए संघर्ष किया जाए।

हिन्दी पाठ्यविषय को कैसे समसामयिक बनाया जा सकता है? उसे कम-से-कम एक ओर सौंदर्यबोधशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान से संश्लिष्ट किया जाए; दूसरी ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यावसायिक कुशलता से मंडित किया जाए; तथा तीसरी ओर पाठ्यक्रम को पढ़ाने की नई विधियाँ अपनाई जायें जिससे परीक्षा का उपक्रम पूरे शैक्षणिक सत्र तक लिखित सेमिनारों, अणुबन्धों, ट्यूटोरियलों के रूप में अनवरत चलता रहे। सेमेस्टर-व्यवस्था व्याख्यान-व्यवस्था से अधिक उपयोगी है।

क्या हिन्दी साहित्य-शिक्षा को आधुनिक शिक्षा बनाया जा सकता है? यह पाठ्यक्रम को सुधारने से उतना नहीं होगा जितना कि नयी सामाजिक चेतना को ग्रहण करने से। इसका एकमात्र उपाय है: विभिन्न ऐतिहासिक कालों से चले आ रहे—'झूठे आदर्शों' का निर्मम विध्वंस! इसके लिए हमें आज सामाजिक क्रांति से **प्रतिबद्ध** और व्यावसायिक प्रशिक्षण में **विशेषज्ञ**—अर्थात् प्रतिबद्ध और विशेषज्ञ—अध्यापक के 'व्यक्तित्व-आदर्श' की आवश्यकता है। इसके बिना नवीकरण और आधुनिकीकरण के आत्मनिष्ठ संकल्पों के प्रभामंडल कभी नहीं जगमगा सकेंगे।

क्योंकि शिक्षावृत्त में अध्यापक सक्रिय होता है अतः हम उसके विषय में भारत के महान् शिक्षाशास्त्री और स्वर्गीय राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन के उद्धरण से अपना प्रकथन समाप्त करते हैं—

"यदि उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनका मर्म ऐसे कुछ मूल्यों से कभी छू न गया और उन्होंने इनका मीठा दर्द कभी न जाना, तो सच में, उनका स्थान शिक्षकों में नहीं है। जो इस प्रकार कभी द्रवित नहीं हुआ, जो कम-से-कम कुछ देर के लिए ही किसी उच्चतम मूल्य के सम्मोहन का शिकार होने का मज़ा न ले पाया, जो निस्तेज है, और जो अपने क्षुद्र भौतिक अस्तित्व से आगे किसी भी मूल्य के संबंध में निस्तेज रहने की सम्भावना दिखाता है, ऐसे व्यक्ति को शिक्षक बनने या बने रहने का विचार, वास्तव में, नहीं करना चाहिए।"[1]

●

१. ज़ाकिर हुसैन: 'भारत में शिक्षा का पुनर्निर्माण', नेशनल बुक ट्रस्ट १९६१, पृ० ५७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिता के लिए एक कविता

मंगलेश डबराल

मैं नहीं जानता
कब यह रेगिस्तान
तुम्हारी आँखों से छूट कर
मेरे बिस्तर तक फैल गया है
एक अन्तिम ऋतु के सिलसिले में
तुम सहसा मौसमों और रोटियों की
तेज़ भगदड़ से बाहर फेंक दिये गये हो
बची हुई महज़ एक बुश्शर्ट के साथ
सुविधाओं को भाग्य की तरह
चमकाते हुए
तुम समस्याओं के चश्मे पोंछ रहे हो
अपनी सारी अंधता के आगे
अपने अतीत को क़ानून बनाकर
लागू करते हुए घर में
एक की भूख और दूसरे के भविष्य तक
पिता तुम्हारा गुस्सा टहल रहा है
और कहीं कुछ नहीं बज रहा है
पड़ोसी औरत की चूड़ियों के अलावा
अपनी बेरंग आकांक्षाओं के ख़िलाफ़ तुम
अपने स्वाद का शरीर टटोल रहे हो
तब और अब की दूरी में
इतिहास एक लँगड़ी भाषा है
जिसे तुम बार-बार बोल रहे हो
तुम्हारी झुर्रियों में गुम
हो गया है हर रास्ता
बंजर शरीरों से होकर गुज़रता हुआ
समूचा दिन तमाम जगहों पर
गर्द की तरह पड़ गया है
शोर और सिसकियों के बीच
लोग लिपटकर सो गये हैं
बाहर सिर्फ़
पत्ते हिल रहे हैं : जंगल झड़ रहे हैं
गुणगान से लथपथ
बीते हुए वर्षों की जनगणना में
खुद को तलाशते हुए
पिता तुम देख रहे हो
बेरिश्ता चीज़ों की चापलूस नैतिकता में
भागते-हड़बड़ाते लोग
प्रकट या ग़ायब हो गये हैं
एक-दूसरे का संदेह कुतरते हुए
अचानक तुम्हारी जवानी के
रसिक स्वप्न तकिये के नीचे
नोटों की गड्डियाँ बन गये हैं
और तुम्हारे पास सिर्फ़ नींद है
अकेले लालच की तरह बची हुई
ज़िम्मेदारियों के कटघरे में
खुलता हुआ यह दरवाज़ा
तुम्हारे लिए आसमान है
जहाँ वसंत एक खुशख़बरी होकर
चिपक गया है
और धूप तुम्हारी ज़रूरतों को लगातार
चकमा दे रही है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारे-के-सारे दृश्य अचानक
बाढ़ में बदल गये हैं
जहाँ धीरे-धीरे तुम्हारा स्वार्थ डूब गया है
और महज़ लाचारी है
तुम्हारी नाक में गुर्राती हुई
एक मुश्किल की तरह
दूर हो गया है
वह चेहरा पिता
जो षड्यंत्र होकर हर जगह शामिल था
इस महान् और शर्मिंदा माहौल में
हड्डियों का दर्द दबोचता हुआ
दफ्तर और दाँतों के बीच
मैं ग़ायब हो रहा हूँ
और एक वायुमंडल
अगली तरक्की की सूचना बनकर
मेरी पसलियों में घुस रहा है
पेट और प्रतीक्षा में
एकाएक सब-कुछ जम गया है
उन आहटों के अलावा
जो अपराध की हैं
मेरी दिशाएँ हर बार
उन दीवारों से शुरू होती हैं
जहाँ तुम हस्तक्षेप कर रहे हो
रोज़-रोज़ घिसी हुई घटनाओं के पीछे
ग़लतफ़हमी की तरह
तुम्हारे शब्द लपलपा रहे हैं
तुम्हारे एकांत के हाथ
समय के मुँह पर कहीं नहीं पड़ रहे हैं
अपनी अकेली बुश्शर्ट के साथ
तुम रह गये हो
पिता
हलचलहीन
एक अन्तिम ऋतु तुम्हारी
हथेलियों से उतर रही है
और यह रेगिस्तान
मेरे बिस्तर तक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु नानक देव

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज से ५०० वर्ष पहले गुरु नानक देव का आविर्भाव हुआ था। भारतवर्ष के अधिकतर महापुरुषों के समान गुरु नानक का जीवनचरित भी चामत्कारिक कथाओं से ढँका हुआ है। उनकी 'जनम-साखियाँ' तो बहुत मिलती हैं परन्तु सबमें श्रद्धातिरेक के कारण चामत्कारिक कथाओं से ऐतिहासिक तथ्य ढँक गए हैं। इन पुराने विवरणों में कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य है। उनके आधार पर गुरु नानक देव के जीवन के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिल जाती है। पर वस्तुतः गुरुजी के विचारों का सच्चा निदर्शक 'गुरु ग्रन्थ साहब' नामक महान् ग्रन्थ ही है। इसमें गुरुजी के प्रामाणिक उपदेश ही नहीं हैं—उनका शान्त-शोभन, उदात्त और मोहन रूप भी उपलब्ध होता है। कोई आश्चर्य नहीं कि इस महान् ग्रन्थ को गुरु का प्रतिरूप ही मान लिया गया है। वस्तुतः गुरु का जैसा महिमामय व्यक्तित्व और उनका चिन्मय रूप इस ग्रन्थ में अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

गुरुजी का जन्म तालबंडी ग्राम के एक खत्री परिवार में हुआ था। गाँव के मालिक एक मुसलमान रईस (राय सलार) गाँव का वातावरण ही ऐसा था जिससे गुरुजी के बालचित्त पर साम्प्रदायिक सौहार्द का प्रभाव पड़ा था। उन्हें पाठशाला में पढ़ने को भी भेजा गया था और अन्य विद्यार्थियों की तुलना में उनकी गम्भीरता, शालीनता और भगवन्निष्ठा का आभास भी उन्हीं दिनों मिल चुका था। उनकी एक बड़ी बहन थी जिसका नाम नानकी बताया जाता है। नानक का विवाह भी हुआ था। उनकी पत्नी सुलक्खनी थीं। नानक का मन घर के कार्यों में नहीं लगता था। वे साधु-संग, एकान्तवास और अध्यात्म-चिन्तन में लगे रहते थे। माता-पिता इन्हें गृहस्थी के बन्धन में बाँधना चाहते थे। बहनोई जयराम की सहायता से पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ लोदी के एक कर्मचारी के मोदी खाने में नौकरी मिल गई। परमात्मा जिसे अपना बनाना चाहता है उसके लिए सुयोग भी विचित्र प्रकार से दे देता है। कहा जाता है कि उस नौकरी के बन्धन से उन्हें एक विचित्र प्रकार से मुक्ति मिल गई। आटा तौलते समय वे एक-दो-तीन गिनते गिनते जब तेरह पर आए, तो तरह शब्द पंजाबी उच्चारण 'तेरा' पर उनका ध्यान दूसरी ओर चला गया। 'मैं तेरा हूँ' इस भावना ने उन्हें तन्मय कर दिया। हाथ तौलते रहे, मुँह 'तेरा', 'तेरा' की रट में लग गया। सारा भाण्डार तौल दिया गया 'तेरा', 'तेरा', 'तेरा'! यद्यपि यह 'तेरा' वाला अभिप्राय (अर्थात् मोटिव) और भी मध्यकालीन अनेक सन्तों के साथ जुड़ा हुआ है, पर गुरु नानक के मुख से निःसृत वाणियों के प्रकाश में यदि देखा जाए तो इसका अन्तर्निहित मर्मार्थ बिलकुल ठीक लगेगा। कदाचित् गुरु नानक वाली कहानी सबसे पुरानी भी है। इसे वास्तविक मान लेने में बिलकुल हिचक नहीं होती।

नतीजा जो होना था वही हुआ। नौकरी छूट गई। नानक की अध्यात्म-भावना के विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। साधु-संग, भ्रमण और धर्मोपदेश का अवकाश प्राप्त हुआ। उन्होंने कामरूप से लेकर मक्का-मदीने तक की यात्रा की। उन्हें संसार बाँध नहीं सका पर संसार के बन्धन से छुटकारा देने और दिलाने का रहस्य उन्हें अवश्य प्राप्त हो गया। इन सारी यात्राओं में गुरु के मुख से जो अनुभूत सत्य प्रकट हुआ वह अनायास गीत रूप में उच्छ्वसित हुआ। सौभाग्य से उन्हीं के गाँव का एक मुसलमान रागी 'मरदाना' नरावर उनके साथ रहता रहा और यथासंभव उन वाणियों को राग के ढाँचे में बाँधकर स्मरण रखा। निरन्तर मनन से गुरु के अन्तरतर की निर्मल ज्योति जाग पड़ी और वह राम नाम जपते-जपते राममय हो गए।

कुछ साक्ष्यों के आधार पर गुरु नानक का जन्म अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल ३) को हुआ था, ऐसा माना गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर काफी अर्से से उनकी जन्म-तिथि का उत्सव कार्तिक पूर्णिमा को मनाया जाता है। कुछ विद्वान् इस तिथि को ही उनकी सही जन्म-तिथि मानते हैं। आजकल यह उत्सव इसी तिथि को मनाया जाता है। वैसे तो गुरुजी जैसे महानुभाव की जो भी जन्म-तिथि हो वही पवित्र और स्मरणीय है, पर मुझे कार्तिक पूर्णिमा अधिक अर्थपूर्ण लगती है। शरद् ऋतु की इस अन्तिम पूर्णिमा को सारे भारत में न जाने कब से बहुत महत्त्व दिया जाता है। इस तिथि के साथ भारतवर्ष की धर्म-साधनाओं का विशाल और समृद्ध इतिहास जुड़ा हुआ है। कार्तिकी पूर्णिमा शामक ज्योत्स्ना से अधिक निर्मल और पवित्र होती है। गुरु नानक जैसे निर्मल यशः महामानव के आविर्भाव के लिए इस तिथि को अगर उपयुक्त समझा गया तो उचित ही हुआ। अगर उनकी मृण्मय काया के आविर्भाव होने की यही तिथि हो तो यह सोने में सुगन्ध है। वस्तुतः सिख गुरुओं ने मृण्मय गुरु रूप को कभी महत्त्व नहीं दिया। उनके चिन्मय रूप को—ज्ञानमय विग्रह को—ही अधिक महत्त्व देते आए हैं। इसके दो बड़े प्रमाण हैं। एक तो गुरु की वाणी को ही गुरु का स्वरूप समझना और दूसरे गुरु परम्परा में बिन्दु सृष्टि को अधिक महत्त्व न देकर नाद सृष्टि की महिमा पर बल देना। गुरु की परम्परा दो रूपों में चलती है—(१) बिन्दु सृष्टि पुत्र-पौत्र परम्परा का नाम है और (२) नाद-सृष्टि शिष्य-प्रशिष्य परम्परा का नाम है। गुरु नानक के पुत्र थे, पर दूसरे गुरु का स्थान उन्हें न मिलकर शिष्य-प्रशिष्यों को मिला। ऐसा भी हुआ है कि बाद में पुत्र-परम्परा और शिष्य-परम्परा एक-दूसरे से मिल गई है पर उसका कारण योग्यता ही रही है। पुत्र यदि गुरु के जलाए प्रदीप को वहन करने में समर्थ है तो वह भी नाद परम्परा का ही उत्तराधिकारी है। स्वयं को सिख या शिष्य कहने का अर्थ भी नाद परम्परा को ही अधिक गौरव देने की भावना का फल है। इसलिए गुरु की जन्म-तिथि यदि पूर्ण, शामक और निर्मल ज्ञान तथा परमानन्द का विग्रह या प्रतीक शरत् पूर्णिमा के चन्द्रमा के साथ जोड़ दिया गया तो इसमें कोई न तो आश्चर्य है न अनौचित्य। कार्तिकी पूर्णिमा का चन्द्रमा निर्मल और शामक ज्ञान का प्रतीक है—

जगन्तापहरं दिव्यं परमानन्दविग्रहम्।
वन्दे शरच्चन्द्रनिभं गुरुम् ब्रह्मस्वरूपिणम्॥

परन्तु उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मध्यकाल के निर्गुण मार्गी सन्तों में गुरु नानक का ही व्यक्ति शरच्चन्द्र के समान ही स्निग्ध-शामक और आह्लादजनक है। उनके पूर्ववर्ती संतों में कबीर अद्भुत शक्तिशाली व्यक्तित्व लेकर पैदा हुए थे। परन्तु उनके व्यक्तित्व में तीखापन भी है। वे कसकर व्यंग्य करते हैं, तीखी और तिलमिला देने वाली आलोचनाओं से पंडित और मौलवी दोनों पर चोट करते हैं परन्तु नानक का व्यक्तित्व अत्यन्त मृदु और शान्त है। उनकी भाषा में शरच्चन्द्रमा की किरणों की ही भाँति शामक गुण है। उनके व्यंग्यों में भी तीखापन या कटुता नहीं है, यद्यपि चोट करने में भी कम समर्थ नहीं हैं। इसीलिए मध्यकालीन निर्गुणमार्गी सन्तों में सच्चे अर्थों में वे शरच्चन्द्र हैं। उनकी आविर्भाव-तिथि इस पूर्णिमा को मानने के संगत कारण हैं। यह केवल भक्तों की कल्पना नहीं है, सुचिन्तित योजना है। निर्मल आकाश में शुभ्र राजहंस की तरह भ्रमण करने वाला चन्द्रमा ही उनके व्यक्तित्व की ओर संकेत कर सकता है। उसकी मीठी वाणियों में अजीब आकर्षण है, मधुर वचन को वे भक्त के आवश्यक गुण भी मानते हैं।

बाबा बोलिए पति होइ।
ऊतम ते दर ऊतम कहीअहि नीच करम बहि रोइ॥

सच पूछिए तो मध्यकालीन सन्तों की ज्योतिष्कमंडली में गुरु नानक देव ऐसे सन्त हैं जो शरत्काल के पूर्णचन्द्र की तरह ही स्निग्ध, उसी प्रकार शान्त निर्मल, उसी प्रकार शामक रश्मि के भाण्डार थे। कई सन्तों ने कस-कस के चोटें मारीं, व्यंग्य-वाण छोड़े, तर्क की छुरी चलाई, पर महान् गुरु नानक देव ने सुधालेप का काम किया। यह आश्चर्य की बात है कि विचार और आचार की दुनिया में वह इतनी बड़ी क्रान्ति ले आने वाला है। किसी का दिल दुखाए बिना, किसी पर आघात किए बिना, कुसंस्कारों को छिन्न करने की शक्ति रखने वाला, नई संजीवनी धारा से प्राणिमात्र को उल्लसित करने वाला, यह सन्त मध्यकाल की ज्योतिष्क-मंडली में अपनी निराली शोभा से शरत् पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह ही ज्योतिष्मान् है।

जनम-साखियों में गुरु नानक की यात्राओं का बड़ा मनोहारी चित्र बनता है। इनमें कुछ निश्चय ही कल्पना और श्रद्धातिरेक जुड़े हुए हैं। पर वे महान् पर्यटक थे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता और इसमें भी कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इन यात्राओं में उनका प्रधान संबल उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यपरायण सहज जीवन और निरहंकार मधुर व्यक्तित्व ही था। अपने जीवन के सत्तर वर्षों मे लगभग एक-तिहाई उन्होंने यात्रा में ही बिताई थी। उन दिनों की कठिन परिस्थितियों में उनकी यात्राएँ अद्भुत साहसपूर्ण कही जाएँगी। पाँच बार उन्होंने लम्बी यात्राएँ कीं। उद्देश्य साधु संग और भगवद्भक्ति का प्रचार था। पहली यात्रा पूरब की थी। उस समय उनकी आयु ३१ वर्ष की थी। साथ में उनके प्रिय शिष्य मर्दाना थे। इनकी यह यात्रा कामरूप तक की थी। वे सईदपुर, नालन्दा (मुलतान), पानीपत, वाराकुसी, गोरखमाता होते हुए कामरूप गए और फिर अपने स्थान को लौट आए। लौटते समय पाकपत्तन (मांटगुमरी) में शेख फरीद के शिष्य शेख इब्राहीम से धर्मालाप किया। सर्वत्र उनके मोहक व्यवितत्व का प्रभाव पड़ता था। मर्दाना के बीन पर उनकी रचनाएँ श्रोताओं को मुग्ध कर देती थीं। दूसरी यात्रा सन् १५०६ में शुरू हुई। इस बार वे दक्षिण की ओर गए। सिरपा, बीकानेर, अजमेर, आबू होते हुए वे पुरी गए और उधर से नागपत्तन और श्रीलंका तक उनके जाने का विवरण मिलता है। इस बार उनके साथ सैडो और धैवी नाम के दो जाट शिष्य भी थे। तीसरी यात्रा ८ वर्ष बाद सन् १५१४ में शुरू हुई। इस यात्रा में वे उत्तर की ओर कैलास और मानसरोवर की ओर गए। साथ नासू और सीहा नाम के दो शिष्य थे। मानसरोवर में इनका योगियों के साथ सत्संग हुआ। इसी यात्रा में ये तिव्बत और दक्षिणी चीन भी गए। चौथी यात्रा पश्चिम की ओर हुई। वे हाजी के रूप में मक्का गए। बताया जाता है कि इसी यात्रा में वे यरूशलम, दमिश्क और अल्लेप्पो होते हुए बगदाद पहुँचे और अनेक मुस्लिम सन्तों और पण्डितों से सत्संग किया। उनकी प्रेममयी वाणी ने सर्वत्र जादू का असर किया। कहते हैं कि बगदाद में उन्होंने बहोल के शाह को सिख धर्म की दीक्षा दी। पाँचवीं यात्रा में उन्होंने मुख्य रूप से पंजाब का भ्रमण किया। उन्होंने पाकपत्तन, देयालपुर, कगापुर, सुलतानपुर, जलालाबाद, तिरिया आदि स्थानों में धर्म-प्रचार किया। वे जब बटाला होते हुए अमीनाबाद पहुँचे तो बाबर ने उन्हें साथियों सहित गिरफ्तार कर लिया और इस प्रकार बाबर से उनकी भेंट सम्भव हुई। गुरुजी ने अपनी मीठी और स्पष्ट वाणी में बाबर के कुकृत्यों की खरी आलोचना की। बाबर पर उसका प्रभाव भी पड़ा। इस प्रकार उन्होंने अपनी लम्बी यात्राओं से देश का कोना-कोना छान डाला। पड़ोसी देशों की भी यात्रा की और एक ओर जहाँ उन्होंने मनुष्यों के दुःख-कष्ट का अनुभव किया वहीं उनके अन्धविश्वासों और गलत मान्यताओं को दूर करने का प्रयास भी किया। यात्रा-वृत्तान्तों में कई करामाती प्रसंगों की भी चर्चा है। पर उनको हटा देने पर गुरु की अत्यन्त साहसिक प्रकृति, भगवान् पर अखंड-विश्वास, अपूर्व जिज्ञासा और दीन-दलित पर दयाभाव का परिचय अवश्य मिलता है। उनकी वाणी की मोहकता, उनके व्यक्तित्व का आकर्षण और उनकी भगवन्निष्ठा का प्रभाव इन यात्रा-वृत्तान्तों से स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि परवर्ती पुस्तकों में उन्हें शास्त्रार्थी विजेता के रूप में चित्रित करने का भी प्रयास है पर यह उनकी नहीं, उस काल की श्रद्धालु जनता की मनोवृत्ति का प्रतिफलन है। गुरु नानक बहुत वाद-विवाद में नहीं पड़ते थे। वे अपने पवित्र आचरण के द्वारा ही विरोधी को सत्य का साक्षात्कार करा देते थे। कितने ही विरोधियों ने जो उनके चरणों में आत्मसमर्पण किया वह शास्त्रार्थ-वैदुष्य को देखकर नहीं, अत्यन्त प्रभावशाली आचरण और मधुर व्यवहार के कारण ही किया।

गुरुजी अपनी यात्राओं में सैकड़ों प्रकार के लोगों से मिले। विरोधियों से भी और प्रशंसकों से भी; चोरों, ठगों और लुटेरों से भी; पंडितों, योगियों और तांत्रिकों से भी; शेखों, काजियों और मुल्लों से भी—सर्वत्र उनके मृदुल स्वभाव और सत्यशील आचरण ने विजय पाई। कटुता कहीं नहीं आई। विरोध ने वैर का रूप कभी नहीं लिया। यह ऐसी सिद्धि है जिस पर सहज ही विश्वास करना कठिन है, पर है सत्य। ऐसे ही निर्वैर निरहंकार निस्पृह मनुष्य के माध्यम से परमात्मा अपना तेज संसार को देता है। एक भजन में ऐसे भक्त-जन का चित्रण इस प्रकार किया गया है—

जो नर दुख नहिं माने।
सुख असनेह अरु भय नहिं जाके कंचन माटी जाने।
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
हरस सोक ते रहे नियारों नाहिं मान अपमाना।
आसा मनसा सकल त्यागि के जग तैं रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहीं तेहि घर ब्रह्म निवासा।
गुरु किरपा जो इन पर कीन्हीं तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयौ गोविंद सो ज्यों पानी संग पानी।

वस्तुतः यही गुरु के आकर्षक व्यक्तित्व का रहस्य भी है और स्वरूप भी। उन्होंने तथाकथित छोटी जातियों को भी भरपूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मान दिया। भेदभाव तो उनमें लेशमात्र नहीं था। हिन्दू और मुसलमान दोनों को वह समान भाव से स्नेह करते थे। कैसा भेद-भाव ? गुरु ने कभी अपने को किसी से अलग नहीं माना। उन्होंने कहा था कि एक ही ज्योति से संसार उत्पन्न किया गया है। इसमें कौन अच्छा है कौन बुरा—एक जोति ते पग उपजा कौन भले कौन मेंदे।

गुरु नानक का आविर्भाव जिन दिनों हुआ था उन दिनों भारतवर्ष का हिन्दू समाज अनेक प्रकार की जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त था। इसके अतिरिक्त शक्तिशाली इस्लाम धर्म का प्रवेश भी हो चुका था। आपसी भेदभाव पहले से ही बहुत जटिल सामाजिक व्यवस्था को और अधिक उलझाता जा रहा था। धार्मिक साधना के क्षेत्र में रामानन्द, नामदेव और कबीर जैसे कई महिमाशाली व्यक्तित्व प्रकट हो चुके थे जो जाति-पाँति तथा साम्प्रदायिक भेदभाव मिटाने का प्रयास कर चुके थे, पर भेदभाव की मनोवृत्ति कठोरतर सिद्ध हुई थी। जिस किसी ने जाति-भेद को हटाने का प्रयास किया, उसी के नाम पर एक नई जाति और एक नये सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। जिस किसी ने झाड़ू देकर मन्दिर के आँगन को साफ करने का प्रयत्न किया उसी के नाम पर कोई ईंट-पत्थर आँगन में और डाल दिया गया। भेदभाव बहुत ही शक्तिशाली सिद्ध हुआ, अभेद और एकता की बात कमज़ोर साबित हुई। फिर भी महात्मा लोगों ने अपना प्रयास जारी रखा। गुरु नानक ने अपनी समकालीन सामाजिक परिस्थितियों को यदा-कदा चित्रित किया है। तत्कालीन शासकों की निर्दय निरंकुशता और सामान्य प्रजाजन की असहाय स्थिति के प्रति वे सचेत थे। उनकी वाणियों में इस बात का प्रमाण मिल जाता है। परन्तु गुरु नानक बहुत कम अवसरों पर ही उनकी चर्चा करते हैं।

इस विषम परिस्थिति का सामना करने के लिए भी वे मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जागृत करने का ही आह्वान करते हैं। वे निर्भय-निरहंकार और निर्वैर अकाल पुरुष में अखण्ड विश्वास करते थे और उसी विश्वास को प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में जागृत करते थे। अत्याचारी का अत्याचार इसलिए सह लिया जाता है कि साधारण मनुष्य के मन में भय और आशंका का भाव रहता है। भयवश और लोभवश मनुष्य क्या-कुछ नहीं करता। विरूप परिस्थितियों में गुरु नानक भय को छोड़कर सत्य पर अडिग रहने की बात कहते हैं। कहते तो और लोग भी हैं पर इतिहास साक्षी है कि गुरु के अनुयायियों ने भय का सही अर्थों में त्याग किया था। उनके ऊपर घोर अत्याचार हुए। उन दिल दहलाने वाली कहानियों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं, पर गुरु नानक के शिष्यों ने प्राणों को हथेली पर रखकर मृत्यु का तिरस्कार कर, काल के विधान को तोड़कर सत्य पर अटल रहने की साधना की है। कितनी अतल गहराई से यह महावाक्य निकला होगा जो पीढ़ियों तक भय को चुनौती दी है—

मरणै की चिन्ता नहीं जीवन की नहि आस।

समाज की कुरीतियों और अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए वे बँधी-बँधाई बोलियों का नुस्खा नहीं बताते। वे ऐसी महान् धर्म-साधना का निर्देश करते हैं, जिसे पाकर मनुष्य को कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता है। वे भगवद्-भक्ति और त्यागपरायण निर्भीक जीवन की बात कहते हैं और सम्पूर्ण रूप से सर्वात्मना समर्पित जीवन को मुख्य सम्मान मानते हैं।

स्मरणीय है कि उत्तर मध्यकाल में भक्ति का आन्दोलन विराट् जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ था। सिख-गुरुओं ने निराकार निरंजनपरक भक्ति मार्ग का प्रचार किया। इस बात में अन्यान्य निर्गुणमार्गी सन्तों से एक बात में विशिष्ट बने रहे। मध्यकाल में भाष्यों-टीकाओं और मन्त्रों से उपलक्षित भक्ति सम्प्रदायों का बड़ा ज़ोर था। कोई भी भक्ति सम्प्रदाय तब तक मान्य नहीं होता था जब तक किसी-न-किसी प्रस्थानत्रयी समर्थित सम्प्रदाय का आश्रय न ले लेता था। गुरु नानक और उनके भक्त कवियों ने इस पराधीनता को अस्वीकार किया। नाभादासजी ने अपने भक्तमाल में उन्हीं निर्गुणमार्गी सन्तों को स्थान दिया जो इन सम्प्रदायों से सम्बद्ध माने जाते थे। कबीरदास को इसलिए स्थान मिला कि वे रामानन्द के शिष्य थे और इस प्रकार रामानुज सम्प्रदाय से दूर से सम्बद्ध थे। गुरु नानक को स्थान नहीं मिला, क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी से नहीं जोड़ा जा सका। गुरु के अनुयायियों, भक्तों और सन्त-कवियों ने इस बात की परवाह न की। उन्होंने उन समस्त सन्त कवियों की बानियों का आदर किया जो अनुभव-सिद्ध सत्य के गायक थे। सम्प्रदाय या आचार्य ग्रन्थ विशेष के समर्थन के लिए उन्होंने रुकना उचित नहीं समझा। यह विशेष दृष्टि उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। इसमें स्वाधीन चिन्तन और आत्मानुभव—हेतुक उपलब्धि पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल दिया गया है। पंजाब में बहुत महत्त्वपूण भक्ति-साहित्य लिखा गया, पर हिन्दी को सबसे बड़ी देन इन सन्तों की स्वाधीन चिन्तना ही मानी जाएगी। प्रस्थानत्रयी क्या है—

'प्रस्थानत्रयी' वैदिक धर्म के आधारभूत माने जाने वाले मुख्य तीन ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों भागों का नियमानुसार तथा तात्विक विवेचन किया गया है। ये तीन हैं, उपनिषद्, वेदान्त सूत्र और गीता। प्रस्थानत्रयी का दिनों-दिन अधिकाधिक प्रचार होने पर वैदिक धर्म के लोग उन मतों और सम्प्रदायों को गौण अथवा अग्राह्य मानने लगे, जिनका समावेश उक्त तीन ग्रन्थों में नहीं किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के पतन के बाद वैदिक धर्म के जो सम्प्रदाय (अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि) हिन्दुस्तान में प्रचलित हुए उनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य को, प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों पर (अर्थात् उपनिषद्, वेदान्त सूत्र और गीता पर) भाष्य लिखकर, यह सिद्ध कर दिखाने की आवश्यकता हुई, कि इन सब सम्प्रदायों के प्रचलित होने के पहले ही जो तीन 'धर्मग्रन्थ' प्रमाण समझे जाते थे, उन्हीं के आधार पर हमारा सम्प्रदाय स्थापित हुआ है और अन्य सम्प्रदाय इन धर्मग्रन्थों के अनुसार नहीं हैं। ऐसा करने का कारण यही है कि यदि कोई आचार्य यही स्वीकार कर लेते कि अन्य सम्प्रदाय भी प्रमाणभूत धर्मग्रन्थों के आधार पर स्थापित हुए हैं, तो उनके सम्प्रदाय का महत्त्व घट जाता—और, ऐसा करना किसी भी सम्प्रदाय को इष्ट नहीं था। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की यह रीति जब चल पड़ी, तब भिन्न-भिन्न पण्डित अपने सम्प्रदायों के भाष्यों के आधार पर टीकाएँ लिखने लगे। यह टीका उसी सम्प्रदाय के लोगों को अधिक मान्य हुआ करती थी जिसके भाष्य के अनुसार वह लिखी जाती थी।

इस पृष्ठभूमि में गुरु नानक की स्वाधीन चिन्तना का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जिन दिनों सारा भारतवर्ष अपनी बात को आप्त वाक्यों द्वारा समर्थित सिद्ध करने का प्रयास कर रहा था, व्याकरण और मीमांसाशास्त्र की बताई विधियों का सहारा लेकर हर प्रतिकूल बात का अर्थ बदलने में व्यस्त था, गुरु नानक और उनके अनुयायियों ने इस बन्धन को अस्वीकार कर दिया। वे सीधी बात को सीधी भाषा में कहते थे। यह आवश्यक नहीं कि वह परम्परा से एकदम विच्छिन्न हो, पर यह भी आवश्यक नहीं कि पद-पद पर वह उसके समर्थन का मुहताज हो। क्या है वह गुरु का अनुभूत सहज सत्य ?

गुरु ने परमात्मा को सत्य रूप माना है। वह अतीत का सत्य है, वर्तमान का सत्य है और भविष्य का भी वह त्रिकालातीत भी सत्य है।

आदि सचु, जुगादि सचु। है भी सचु नानक होसी सचु।

सत्य का अर्थ ही 'है' है। परम्परा क्रम से हम जिस सच्चिदानन्द को सुनते आए हैं उसके तीन तत्त्व हैं, सत्, चित् आनन्द। उसकी सत्ता त्रिकाल में है इसलिए वह सत् है। काल हमारी सीमित दृष्टि का आभासित तत्त्व है। इसलिए केवल यह कहना कि वह अतीत, वह वर्तमान और भविष्य में बना रहता है, बहुत कम करके कहना है। वह काल से परे है—अकाल रूप है। वह अयोनि है, स्वयंभू है—

एक ओंकार सति नाम करता पुरुष निरभउ निरवैर
अकालमूरति अजूनी सैंभं गुरु परसादि'

सो, गुरुजी परम प्राप्तव्य को 'सत्य रूप' मानते हैं। जो सत्य रूप है वह सत्य से ही प्राप्त हो सकता है, मौन से, व्रत से, उपवास से, कृच्छ्र आचारों से उसे नहीं पाया जा सकता। सिद्धियों से, सांसारिक समृद्धियों से, धन से, मान से, वह अलभ्य है, अलह है।

सोचै सोचि न होवई,
जो सोची लख वारि।
चुपै चुप न होवई
जे लाय रहां लिवतारि।।
भुखियाँ भुखि न उत्तरी
जे बन्ना पुरिआं भारि।।

उसके पाने का मार्ग है, उसी के नाम-गुण का श्रवण, उसी का मनन और उसी का ध्यान—श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

श्रवण का बहुत माहात्म्य है।

फिर मनन भी आवश्यक है—

निदिध्यासन के लिए प्रमुख साधन 'पंच' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'पंच' या 'पंज' शब्द का प्रयोग गुरुजी ने अन्यत्र भी किया है। जान पड़ता है यह संस्कृत 'प्रजा' का पंजाबी रूप है : शुभ बुद्धि ही 'प्रज्ञा' या 'पंजा' है—

पंच परवाण पंच परधानु।
पंचे पावहि दरगहि मानु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचे सोहिहि दरि राजानु ।
पंचा का गुरु एक धियानु ।।

प्रज्ञा ही प्रमाण है, प्रज्ञा ही प्रधान है । प्रज्ञा से ही दरगाह में मान मिलता है । प्रज्ञा का ध्यान एकमात्र गुरु ही होना चाहिए । जिस मनुष्य की प्रज्ञा एकमात्र गुरुपरक होती है वही स्थितप्रज्ञ होता है ।

गुरु नानक का परमात्मा पर अखण्ड विश्वास था । वे मानते थे कि हमारे प्रत्येक श्वास-प्रश्वास का हिसाब उसके पास है । ऐसा भक्त ही सच्चे अर्थों में निर्भय हो सकता है । जब उसकी मर्जी के बिना कुछ भी नहीं हो सकता तो मृत्यु का भय और जीवन का लोभ दोनों ही मिथ्या सिद्ध होते हैं । भक्त न तो मरण की चिन्ता से उद्विग्न होता है न जीवन के प्रलोभनों से विचलित—

मरणै की चिंता नहीं, जीवन की नहीं आस ।
तू सर्व जिया प्रतिपालही लेखे सासि गिरासि ।।

भय का अस्तित्व ऐसे भक्त के लिए है ही नहीं । केवल एक बात का ध्यान उसे बना रहता है । कहीं ऐसा न हो कि मन सत्य मार्ग से विचलित हो जाए । परन्तु जिसे सत्य का साक्षात्कार हो गया है—सत्य, जो स्वयं परमात्मा का स्वरूप है उसका यह भय मिट जाता है । सत्य का भय उसे परमात्मा के और निकट ले आ देता है । वह और भी मगन होकर भगवद्रस का पान करने लगता है । जिसने ज्ञानलभ्य इस महारस का पान कर लिया है, उसकी सांसारिक माँगवृत्ति निवृत्त हो जाती है—

मन वैरागी घरिवसै सच भय राता होइ ।
ज्ञान महारस भोगवै बाहुहि भूख न होइ ।।

यह ज्ञान महारस केवल गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है । शास्त्रों के अध्ययन से, बाह्य अनुष्ठानों से और अर्थहीन आचारों से वह अलभ्य है । शास्त्र विवेक दे सकते हैं, ज्ञान को जीवन का अविच्छेद्य अंग नहीं बना पाते । गुरु नानक कहते हैं—

पढ़ि पुस्तक संध्यावादं । शिल पूजसि बगुलसमाधिं ।
मुखि झूठ विभूषत सारं । त्रैपालनिहाल विचारं ।
गलि माला तिलक लिलाटं । दुई धोती वस्त्र कपाटं ।
जो जानसि वरम्ह करमं । सभ फोकट निश्चै करमं ।
कहु नानक निश्चै ध्यावै । बिन सतगुरु बाट न पावै ।

अरे ओ पंडित, तू पुस्तक पढ़ता है । संध्या-वंदन करता है, शिला की पूजा करता है और बगले की तरह अर्थहीन समाधि लगाता है ! भाई मेरे तेरा मुख सत्य से नहीं मिथ्या से विभूषित है, तेरे विचार निस्सार हैं । तू गले में माला और ललाट पर तिलक देता है, पर तेरा हृदय धौत वस्त्र और उत्तरीय के दो कपाटों से बन्द है—तू केवल ऊपरी दिखावा कर रहा है । भाई मेरे जो तू ब्रह्म का विचार जानता तो इन सारे कर्मों की व्यर्थता भी जान जाता । नानक कहते हैं कि निश्चित रूप से समझ ले सत्यात्मक गुरु के ध्यान के बिना मार्ग नहीं मिलता ।

सत्य ही परमात्मा का रूप है । परन्तु सत्य क्या है ? बहुत प्राचीन काल से इस देश के मनीषियों ने इस पर बहुत ऊहापोह किया है । महाभारत में ऐसे बीसियों प्रसंगों का उल्लेख करके पुराण मुनि व्यास ने इसे शुद्ध बुद्धि द्वारा ग्राह्य होने की ओर इशारा किया है । केवल एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है । सनत्कुमार के प्रसंग में सत्यवादिता जैसे अत्यन्त निर्विवाद धर्म के बारे में कहा गया है कि सर्वत्र सत्य बोलना भी अच्छा नहीं है । जहाँ सत्य बोलने से लोक-कल्याण में बाधा पड़ती हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिए । क्योंकि 'सत्य बोलना प्रशस्त है', यह ठीक तो है, परन्तु सत्य से भी बड़ी वस्तु है प्राणिमात्र की हितचिन्ता । इसीलिए सत्य वही है, जिससे सर्वभूत का आत्यन्तिक हित या कल्याण होता हो, वह नहीं जो मुँह से बोला जाता है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वेदेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तम्, एतत्सत्यं मतं मम ।।

शान्ति ३२९-१७

शास्त्रों में ऐसे और भी प्रसंग हैं, जहाँ सर्व प्राणिमात्र की कल्याण भावना को धर्म के मूल तत्त्वों अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह (मनुस्मृति १०-६३) आदि से श्रेष्ठ बताया गया है । ऐसे कथनों का तात्पर्य यह हुआ कि सर्व भूतमात्र की कल्याण बुद्धि से किया हुआ कार्य ही धर्म कार्य है । उसके अनुसार सामाजिक कल्याण के अनुकूल सत्यादि धर्म ग्राह्य है और प्रतिकूल होने पर अग्राह्य है । सत्य या अहिंसा, इसलिए धर्म नहीं है कि वे सत्य और अहिंसा हैं, बल्कि इसलिए कि उनसे प्राणिमात्र का कल्याण होता है । जहाँ प्राणिमात्र के कल्याण के साथ सत्य या अहिंसा समझी जाने वाली वस्तु का विरोधी हो, वहाँ समझना चाहिए कि वह तथाकथित सत्य और अहिंसा वस्तुतः सत्य और अहिंसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। इसलिए तुलाधार ने जाजलि को उपदेश देते हुए कहा था कि जो व्यक्ति प्राणिमात्र के हित में नित्य रत है, वही धर्म को जानता है। (शान्ति २६१-९)।

स्वयं गुरु नानक ने प्रज्ञा या शुद्ध बुद्धि पर जोर दिया है, ऐसी प्रज्ञा जो गुरु-केन्द्रित हो, गुरु ही जिसका एकमात्र ध्यातव्य हो। यहाँ गुरु स्पष्ट ही अन्तरतर की महाज्योति का नाम है जिसके प्रकाश से सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है। अपनी-अपनी संकीर्ण सीमाओं के भीतर हम जो कुछ देखते हैं वह वास्तविक सत्य नहीं है। वास्तविक सत्य अपनी छोटी अहमिका या 'हउम' को मिटाकर विश्वात्मा के साथ एकमेक होकर प्राप्त किया जा सकता है। तभी सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है।

मनुष्य अपने दृष्टिकोण से सुख-दुख को देखता है। मगर सुख-दुख का कोई एक ही मानदण्ड समस्त प्राणियों के लिए नहीं है। शास्त्र का यह कथन कि—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।

अर्थात् अपने ही समान जो प्राणिमात्र के दुख-सुख को देखता है वही वास्तव में देखता है, यह भी विचार सापेक्ष है। मुझे पानी में डूबे रहने से कष्ट होता है, इसलिए मछली को भी कष्ट होगा, यह कहना नितान्त उपहासास्पद है। वस्तुतः इस वाक्य का ऐसा अर्थ करना ही ठीक नहीं है। इसका तात्पर्य है कि अपनी अन्तरात्मा को जिस प्रकार स्वयं को प्रतिकूल परिस्थितियों में कष्ट और अनुकूल परिस्थितियों में अनुभूति होती है वैसा ही सबके लिए सोचना चाहिए। व्यक्ति-विशेष की अनुकूल परिस्थितियाँ अलग-अलग होंगी। इस प्रकार के वाक्यों का सारी दुनिया के साहित्य में उल्लेख है पर उपरले स्तर की सच्चाई है। जिस व्यक्ति का हम उपकार करना चाहते हैं, उसका सचमुच उपकार कर रहे हैं या नहीं, इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। ऊपर के उदाहरण से इतना तो स्पष्ट है कि उपचिकीर्षु (उपकार करने का इच्छुक) का अनुभव प्रमाण नहीं। रही यह बात कि उपकार्य (जिसका उपकार किया जा रहा है) का अनुभव प्रमाण हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं जँचती, क्योंकि हैजे के रोगी से पूछो तो वह ठंडा पानी पीने से ही अपना उपकार मानेगा, परन्तु वह उसके लिए हानिकर है। सही बात तो यह है कि उपकार करना, सुधार करना आदि बातें बहुत गहराई तक नहीं जातीं, क्योंकि ये भी सीमित अहंकार की देन हैं।

गुरु नानक उस काल के नाथ साधकों की भाँति स्वीकार करते हैं कि यह मनुष्य का शरीर समस्त ब्रह्माण्ड का ही एक छोटा प्रतिरूप है। जो कुछ इस पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है, 'जोइ-जोइ प्यंडे सोइ ब्रह्माण्डे'। इसका अर्थ यह है कि अगर अपने अन्तरतर की ज्योति को पहचान लिया गया तो ब्रह्माण्डव्यापिनी महाज्योति को पहचान लिया जा सकता है। वस्तुतः मनुष्य उतना ही जानता है जितना उसको अन्तरतर के चैतन्य से एकमेक हुआ रहता है। हम जब कुछ नई बात जानते हैं तो होता सिर्फ यह है कि हमारे चैतन्य पर पड़ा हुआ एक पर्दा हट जाता है। परन्तु जानना ही बहुत बड़ी चीज़ नहीं है। बड़ी चीज़ है ज्ञान को जीवन का अविच्छेद्य अंग बनाना। सत्य जब आचरण में रूप ग्रहण करता है तो धर्म बनता है। जो चीज़ केवल जानकारी के रूप में कही जाती है वह 'कथनी' मात्र है। 'करनी' के साथ जब तक वह एकमेक नहीं हो जाती तब तक वह भार मात्र सिद्ध होती है। वही पुरुष महात्मा होता है जिसकी कथनी और करनी में भेद नहीं होता। परन्तु इतना होने के बाद भी 'सत्य' 'हित' नहीं बनता। कोई महात्मा बहुत सच्चा है, पवित्र है, भगवद्भजन में निरंतर लीन है, जीवन्मुक्त है तो हमारी श्रद्धा का पात्र है। वह प्रणम्य है। पर साधारण मनुष्य के लिए वह दूर की चमकीली वस्तु ही है। उसे देखकर हमें प्रसन्नता होती है। परन्तु ततः किम्? मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा था—'ये नाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्' अर्थात् मैं जिस बात से स्वयं अमृत नहीं बन जाती उसे लेकर मैं क्या करूँगी? कोई बहुत बड़ा सिद्ध हो गया, अच्छी बात है, पर साधारण सांसारिक जीवों को क्या मिला? जब सत्य जीवन में इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि वह अन्तरतर को परिपूर्ण करके बाहर भी ज्योति विकीर्ण करने लगता है तो उसके प्रकाश में साधारण जन को भी अनायास प्रकाश मिलता है। अन्धकार में भटके हुए प्राणियों को रास्ता दिखाई देने लगता है। ऐसा ही महात्मा 'गुरु' रूप में प्रकट होता है। भगवान् की ज्योति के साथ वह जितना ही अधिक एकमेक होता है उतना ही वह समाज का सही मार्गदर्शन करता है। यह सोचकर नहीं कि मैं मार्गदर्शन कर रहा हूँ। सूर्य कभी नहीं सोचता कि वह मार्गदर्शन कर रहा है। उसकी ज्योति ही ऐसी होती है कि दुनिया अपना मार्ग ढूँढ़ने में समर्थ हो जाती है। उसकी ज्योति भटके हुओं को रास्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाती है। महागुरु ऐसा ही होता है। उसके निर्मल चरित्र में अपनी दीप्ति होती है। वह सत्य और प्रेम की साधना द्वारा स्वयं सत्य और प्रेम का रूप बन जाता है। गुरु नानक ऐसे ही महागुरु थे। उनकी अत्यन्त सीधी भक्ति-भावित वाणियों में कहीं भी इस बात का आग्रह नहीं है कि वे दुनिया को सुधारने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। ऐसा करना स्वयं 'हउम' या क्षुद्र अहमिका का रूप बन जाता है। वे तो सच्चे हृदय से महाग्रहीता के चरणों में समर्पित कर देते हैं—'हे महागुरो मैं तेरी शरण आया हूँ। तू ही पाक परवरदिगार है। तेरी ज्योति से ही समूचा जगत् ज्योतिष्मान् है।' महाग्रहीता को दिया हुआ यह अर्घ्य ही धन्य है। तुलसीदास ने कहा था—'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' (जो तुम्हें जानता है वह तुम-रूप ही हो जाता है)। सत्य इसी अवस्था में आकर प्राणिमात्र को मार्ग दिखाने वाला प्रकाश बन जाता है। ऐसा सत्य केवल 'व्यक्ति सत्य' न रहकर 'सर्वभूत हित' बन जाता है। अहंकार से आच्छन्न बुद्धि द्वारा निर्णीत सत्य सीमा का सत्य होता है, वह सीमित सुख देता है। अपने-आपको सर्वात्मना उत्सर्गीकृत भक्त का सत्य, असीम का सुख होता है, वह प्राणिमात्र का असीम सुख होता है। उपनिषद् में कहा गया है, 'भूमेव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति'। गुरु नानक ने अपने-आपको उसी महाग्रहीता के चरणों में समर्पित कर दिया था। उनका सत्य सर्वजन के सुख का हेतु बना है। नानक महागुरु थे। उनकी ज्योति मानवता को प्रकाश देने वाली ज्योति हुई।

विचित्र है वह रसमय पुरुष। वह रस भी है, रसिक भी, रसास्वादी भी है। वह प्रिया भी है, प्रिय भी है, यह अलबेला प्रियतम प्रभु निखिल विश्व ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके रम रहा है। परम प्रेयान् के इस रूप की बलिहारी है—

आपै रसीआ आपि रसु आपे रावणहारु।
आपै होवै चालड़ा आपै सेज भतारु ॥१॥
रंगि रता मेरा साहिबु रवि रहिआ भरपूरि ॥
आपै बहुविधि रंगुला सखीए मेरा लालु ॥
नित रवै सोहागणी देखु हमारा हालु ॥

अखण्ड प्रेम स्वरूप को जिसने अपना लिया है उसके आचरण में भेदभाव का स्थान कहाँ है। उसकी प्रत्येक गतिविधि भेदभाव को मिटाने में समर्थ होती है। गुरु नानक की प्रेम-साधना समाज में फैली हुई विषमता, छूतछात, साम्प्रदायिकता को दूर करने की अमोघ शक्ति के रूप में अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई।

भारतवर्ष में जाति-भेद और छूतछात का मनोभाव दीर्घकाल से चला आ रहा है। आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व यह मनोभाव और भी तीव्र था। हमारे इस देश में अनेक मनीषी हुए हैं जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थों के ऊपरी भेदों को, नानात्व को मिथ्या बताया है और एक ही अद्वैततत्त्व को सत्य घोषित किया है। परन्तु इस विस्मयकारी चिन्तन के बावजूद सामाजिक भेदभाव और समाज के अनेक वर्गों को अस्पृश्य मानते रहने का क्रम भी ज्यों-का-त्यों चलता रहा है। विचार के सत्य को परमार्थ सत्य और आचार के भेदभाव को व्यवहार सत्य मानकर संगति बैठा ली गई है। विचार और आचार के बीच दरार पैदा करने वाली ऐसी विसंगति की भी संगति लगा लेने का प्रयत्न एक बड़ा करिश्मा ही है पर इस देश में वह जम के बैठ गया है।

गुरु नानक ने इस व्यवधान को दूर करने का सफल प्रयत्न किया था। दीर्घकाल से चले आए हुए एकत्व की—नेह नानास्ति किंचन—की आवाज़ को उन्होंने नई शक्ति दी। मार्ग उनका प्रेम और मैत्री का था। उनका आदर्श निराकार, निरहंकार और निर्वैर सत्यपुरुष था, उनका बल कथनी और करनी के व्यवधान को पाटने पर था, उनका उपाय एकान्त भवन्निष्ठा और अकुण्ठ शरणागति था, उनकी एक विशेष निष्ठा 'गुरु' की शिक्षा पर थी।

कई विद्वानों ने कहा है कि 'गुरु' की मध्यस्थता उन्होंने साभी धर्म से ली। इस धर्म में ईश्वर और जीव के बीच एक पैगम्बर मध्यस्थ का कार्य करता है। यह बात कुछ अनावश्यक आडम्बर के साथ कही जाती है।

निस्सन्देह गुरु नानक के सामने महान् इस्लाम धर्म था। मुस्लिम सन्तों का सत्संग भी उन्होंने प्राप्त किया था और उनके संवेदनशील चित्त पर उसका प्रभाव भी पड़ा था। परन्तु उन्होंने समन्वय का मार्ग अपनाया था। भेदभाव जिसके मन में कभी आया ही नहीं उससे यह आशा करना कि सत्य के निर्णय में वह हिन्दू और मुसलमान का भेद करेगा, एकदम बेबुनियाद बात है। उन्होंने शक्तिशाली इस लाभ के उत्तम सिद्धान्तों को सहज भाव से अपनाया है। सहज भाव से मौलिक तत्त्वों को अपनाना ही सच्चा समन्वय है।

कुछ लोग धर्मों के नाम पर चलने वाले ऊपरी आचारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को एक साथ जोड़ देने को समन्वय कहने लगे हैं। रोजा भी अच्छा और एकादशी भी अच्छी। त्रिपुंड धारण भी ठीक और कृपाण का पहनना भी ठीक। सलाम भी सही और नमस्ते भी सही। इस प्रकार समन्वय आरम्भ किया गया है। समन्वय की यह नीति ठीक नहीं जँचती। समन्वय में तत्तद् धर्मों के उन मूल तत्त्वों का ध्यान रखना आवश्यक है जिनको केन्द्र करके इन बाह्य आचारों को अपनाने लगे, जो भिन्न-भिन्न धर्म के पालन करने वाले ग्रहण करते हैं। समन्वय का अर्थ यह है कि हम मनुष्य की मूल एकता को स्वीकार करें, और उस विशाल मानवता वाली दृष्टि को अपनाएँ जो समग्र मनुष्य जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार की कुशिक्षा, कुसंस्कार और अभावों के बन्धन से मुक्त करके उसे जीवन की उच्चतर चरितार्थता की ओर ले जाने का प्रयास कर रही है। गुरु नानक ने इसी मूल तत्त्व को पकड़ा था।

कार्य और अकार्य, कर्तव्य और अकर्तव्य की क्या कसौटी होनी चाहिए, इस विषय पर अनेक शास्त्र लिखे गए हैं। क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है, यह दीर्घकाल से सामाजिक नैतिकता के मनीषियों का विचारणीय विषय रहा है। गुरु नानक व्यक्तिगत शुचिता और सार्वभाव से आत्मार्पण की महिमा घोषित करते हैं। वे मनुष्य के चित्त से अहंकार, भय और लोभ का उन्मूलन करने पर बल देते हैं। जो चित्त अहंभाव, भय और लोभ से मुक्त होता है वह अनायास सामाजिक मंगल की ओर प्रवृत्त होता है। अहंकार वस्तुतः अपने-आपको सबसे अलग समझने के कारण ही होता है। अहंकार अर्थात् पृथकत्व बुद्धि। गुरु नानक ने कहा है—मन मेरे तू क्षुद्र अहमिका का अभिमान छोड़ दे और हरि-रूप गुरु के शीतल सरोवर का सेवन कर। तभी तू उसके दरबार में आदर पा सकेगा—

मन रे हउमे छोड़ि गुमानु।
हरि गुरु सरवर सेवि तू पावहि दरगहि मानु।

सिरी रागु, महला १

अपने-आपको जगत्-प्रवाह से विच्छिन्न समझने वाले के मन में ही मैं और मेरा अहंकार और ममता के भाव आते हैं। जिसने अपनी आभा को महागुरु के चरणों में समर्पित कर दिया है उसे अहंकार और मिथ्या गर्व हो ही नहीं सकते। 'हे प्रभु तू इतना बड़ा दाता है, देवनहार है कि तेरी भक्ति के भाण्डार में कभी कोई त्रुटि नहीं आती। कहाँ का गर्व और कैसा अहंकार? गर्व करने से कुछ हाथ नहीं लगता। किस बात का गर्व किया जाय? यह जीव भी तेरा, यह शरीर भी तेरा। मेरा है ही कहाँ कि ममता का आकर्षण हो—

तू एवडु दाता देवणहारु।
तोटि नाही तुधु भगति भंडारि।
कीआ गरबु न आवै रासि।
जीउ पिंडु सभु तेरै पासि॥

भक्ति-भावना की विशाल पटभूमि पर लोभ, मोह, भय, भ्रान्ति, अहंकार, ममता की समस्याओं को सुलझाने का यह प्रयत्न बहुत ही प्रशंसनीय है। इसमें परमार्थ और व्यवहार का द्वन्द्व नहीं है, कथनी और करनी का व्यवधान नहीं है और व्यक्तिसत्य और समष्टिसत्य की निरर्थक ऊहापोह भी नहीं है। जो भी अहंकार, भय, लोभ और तृष्णा द्वारा चालित वह मनमुख है इसलिए त्याज्य है। जो भी अन्तरतर की ज्योति के सम्मुखीन है वह ग्राह्य है, गुरुमुख होने से वह स्वीकार्य है। जो मनमुख होता है उसे ममता सताती रहती है, वह पुत्र-कलत्र की धन-सम्पत्ति को अपना समझकर 'तेरा-मेरा' के चक्कर में पड़ा रहता है। इसी का नाम भवजाल है। वह उलझता है, छटपटाता है, वह काम-वासना से विचलित होता है, सम्पत्ति के नष्ट होने के भय से कातर हो जाता है वही असामाजिक हो जाता है—

मनमुखु जाणै आपणे धीआ पूत संजोगु।
नारी देखि विगासी अहि नाले हरखु सु लोगु।

परन्तु जो गुरुमुख होता है, जिसकी चित्तवृत्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तरतर को महागुरु की ओर प्रवृत्त रखती है वह दिन-रात हरि रस का पान करता रहता है—

गुरुमुखि सबदि रंगावले अहनिसि हरिरसु भोगु॥

हरिरस—चरम प्राप्तव्य, समष्टि सत्य, अगजग-व्यापिनी मंगलेच्छा। यही व्यक्तिसत्य है, यही समष्टि-सत्य—जोइ-जोइ प्यंडे सोइ ब्रह्माण्डे।

अन्यायी से भय न पाने वाला ही सच्चे अर्थों में निर्भय है, पर निर्भयता के साथ-ही-साथ निर्वैरता भी होनी चाहिए। नानक ने कहा था डरो मत और डराओ मत। निर्भय भी बनो और निरहंकार भी बनो और निर्वैर होना भी मत भूलो। इसलिए नहीं कि यही सफल जीवन-यात्रा की नीति है बल्कि इसलिए कि सत्यात्मा गुरु स्वयमेव ऐसा है और उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम पाने का यही मार्ग है। दूसरे मार्ग धोखा हैं। गुरु ने कहा दुखियों की सेवा करो, सब पर दया करो, इसलिए नहीं कि इससे समाज की व्यवस्था सुधरती है बल्कि इसलिए जो परमगुरु है उसका ऐसा ही स्वरूप है। गुरु ने कहा, अपने-आपको उलीचकर दे दो, जो कुछ है उसे महाग्रहीता को निछावर कर दो, इसलिए नहीं कि ऐसा करने से सामाजिक मंगल की साधना होती है, बल्कि इसलिए कि वह प्रभु स्वयं महादाता है, परमदेवणहारु है, उसका प्रेम इसी मार्ग से पाया जाता है। अपूर्व है यह तत्त्वज्ञान। यह वह भक्ति है जो सब-कुछ को छापकर सत्य का जयोद्घोष करती है।

इतिहास साक्षी है कि गुरु के इन उपदेशों ने सामाजिक क्रान्ति का द्वारा खोल दिया। वह प्रक्रिया जारी है। आज भी उसकी प्रभाविनी शक्ति कार्यरत है।

पाँच-सौ वर्ष बीत गए। भारतवर्ष के विशाल आकाश के नीचे न जाने कितनी घटनाएँ घटीं। धरती को न जाने कितनी बार रक्तस्नान से सिक्त होना पड़ा, अन्याय और शोषण ने न जाने कितने ताण्डव किए, पर कार्तिकी पूर्णिमा का चाँद अपनी स्निग्ध शामक शोभा उसी प्रकार विखेरता जा रहा है, गुरु की पवित्र वाणी उतनी ही स्निग्ध ज्योति विकीर्ण कर रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु नानक देव : एक समसामयिक मूल्यांकन

अत्तर सिंह

पिछले वर्षों में सिक्ख-अध्ययन इतिहास के गुरु नानक से निष्ठा के गुरु नानक के विशेषीकरण की एक सम्भावना को आँकने की सीमा तक आगे बढ़ चुका है। इसका यह अर्थ नहीं कि गुरु नानक के बहुमुखी भव्य व्यक्तित्व का कोई नया पहलू प्रकाश में आया है या ऐतिहासिक प्रमाणों के ज़रिये कोई ताज़ी क्रान्तिकारी खोज की गई है। वास्तव में ये अध्ययन भी उस कार्य को पूर्ण करने में सक्षम नहीं रहे हैं, जो उन्हें गहरी और उच्च श्रेणी की सार्थक शोध के लिए एक सुरक्षित आधार प्रदान करता। यहाँ तक कि ऐसा विशद ऐतिहासिक अध्ययन-कार्य अभी तक प्राप्य नहीं बनाया गया है जिसकी कि अपने कृत्यों के द्वारा गुरु नानक ने महत्त्वाकांक्षा की थी और जिन्हें प्राप्त किया था। हुआ यह है कि विद्वानों का एक नया सम्प्रदाय आ खड़ा हुआ है, जिनकी खोजें निष्ठा-परक उपदेशों तक ही समाप्त नहीं हो जातीं। गुरु नानक के कार्यों और जीवन के बहुत-से पहलू हैं और यह नयी विद्वत्ता एक ऐसी प्रक्रिया तैयार करने में लगी हुई है, जो कि भजनों की निष्ठा से टकराये बिना भी इनकी एक गहरी और उचित समझ प्राप्त कर सके।

सौभाग्यवश हमारे लिए एक प्रमुख और सर्वाधिक प्रामाणिक आधार, जिसके ऊपर गुरु नानक के व्यक्तित्व की पुनर्रचना सम्भव है, आदि ग्रन्थों में सम्मिलित उनका अपना कृतित्व है। 'जनम साखी' के रूप में जनपरिचित उनके जीवन की कहानियाँ मात्र ऊपरी ढाँचे की रेखाओं को प्राप्य बनाती हैं। यदि हम ऐतिहासिक प्रमाणों पर उनकी निर्भरता जैसी बहसों में न उलझें, तब भी, हम इस सचाई से नहीं बच सकते कि इन साखियों का गुरु नानक एक ऐतिहासिक घटना है, कि वह बाह्य परिस्थितियों में से होने वाले विकास में एक व्यक्तित्व के रूप में, एक अन्तर्मुखी तनाव के रूप में चित्रित नहीं किया गया है। इन साखियों में हम गुरु नानक को अपनी परम्पराओं और अपने समय के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थानों को अस्वीकार करते हुए पाते हैं; अपने सगे स्नेहियों को छोड़ते, अपने माता-पिता, पत्नी और बच्चों को छोड़ते, सामन्त सरदार द्व रा सेवा के लिए मुकदमों का सामना करते मानव के लिए कष्टों के सर्जक राजनीतिक उभारों का सामना करते, सत्य की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए और अपने दर्शन का प्रवचन करते हुए पाते हैं। और एक सम्पूर्ण जीवन से भी बड़े, इन अनुभवों के दौर से गुज़रते हुए गुरु नानक की एक ऐसी मूर्ति हमारे सम्मुख आती है जो लोगों के लिए भावुकता से सम्बद्ध होने से परे है। एक संवेदनशील आत्मा की सारी पीड़ाएँ, एक अन्वेषणशील मस्तिष्क की सारी समस्याएँ, एक जिज्ञासु चेतनता के सारे प्रश्न, और वस्तुतः ही इस मूर्ति में अस्तित्ववादी स्थिति के किसी भी मनोभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। इस बात को स्वीकार करने के लिए हमें स्वयं उनकी रचनाओं और उनके प्रसिद्ध साथी भाई मरदाना द्वारा उनके गायन के लिए रचित रचनाओं से बहुत-कुछ उद्धृत करना पड़ेगा। यहाँ फिर हमारे सम्मुख वही कठिनाई उठ खड़ी होगी कि उनकी रचनाओं को किस दृष्टि से देखा जाय। और यही वस्तुतः गुरु नानक की गुत्थी को समझने के उद्यम की निर्णायक लड़ाई लड़ी जायगी और जीती जायगी।

गुरु नानक की कविताएँ पवित्र पाठ्य-पुस्तकें हैं। उनमें सिक्ख-आन्दोलन को चलाने वाला अमर दर्शन सुरक्षित है। इसके बावजूद इन कविताओं में कल्पना की ऐसी ऊँची उड़ान है, संगीत से इस तरह सन्तुलित हैं, कि इनके माध्यम से तात्कालिक सौन्दर्य-बोध हमारे सामने आता है। इन रचनाओं की धार्मिक प्रवृत्ति और व्यंग्यात्मक टोन के बीच, उनके उच्च नैतिक भक्ति-भाव और कलागत संरूप के बीच, मनुष्य अस्तित्व की विविधताओं पर दृष्टि रखने तथा उनकी बहुरूप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शी ऐन्द्रिय आकर्षणों के बीच, उनकी भविष्य के प्रति और वर्तमान सम्बद्धता के बीच, जो एक प्रकार का तनाव है, अन्तर्विरोध है, उसे गुरु नानक के युग में उनका विश्व से जो सम्पर्क हुआ उससे सम्बद्ध करना होगा। अधिकतर व्याख्याकार और प्रचारक उनकी उन्हीं कविताओं को चुनते हैं जो गुरु नानक के अतिमानवीय वास्तविकता में संलग्न व्यक्तित्व को ही प्रदर्शित करती हैं या जिनमें अपने युग की बुराइयों की आलोचना होती है। उन पंक्तियों और उद्धरणों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, जो इनकी खोज में व्यथा और उल्लास को प्रदर्शित करती हैं। हर समय गुरु नानक बाहरी दुनिया की ओर अपनी दृष्टि रखते हैं, और उस दुनिया की ओर जो पीछे है; वे अपने वस्तुगत या तात्विक ज्ञान का समाधान अपने अन्तर्मुखी दर्शन में या दृष्टि से करते हैं।

कलि कातो राजे कासाई
धर्म पंख करि उडरिआ
कूड अमावस सच चन्द्रमा
दीसै नाही कै चड़िया
हडं भालि विकुन्नो होई
अँधेरे राह न कोई

[समय एक चाकू के समान है और राजा कसाई है, नियम उड़ता हुआ पंख है; झूठों की गहरी अँधेरी रात में मैं सत्य के चन्द्रमा का उगना नहीं देख सकता; मैंने सब जगह तलाश लिया इस अँधियारी में कहीं रास्ता नहीं सूझता। अन्दर जो घमण्ड है न! वही दुःखों का मूल है। हे नानक! अब हम कल पर किस तरह जीवित रहेंगे?]

इन और ऐसे क्षणों में ही गुरु नानक की खोज वास्तविकता के साथ उनकी व्यक्तिगत और व्यक्तिकृत सम्बद्धता प्राप्त कर लेती है। यह सम्बद्धता एकदम प्रामाणिक और ईमानदार है। यह कहना पर्याप्त है कि जागरूकता के इस स्तर पर न केवल उनके समय के परम्परागत धार्मिक विश्वासों बल्कि उनकी अपनी ही भक्ति और निष्ठा पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है। अपने चारों ओर के जीवन के रहस्यों और ईश्वरीय विधान के मध्यस्थ रहकर वे इस पहेली को समझते हैं।

जेते जीअ जीआं का तोहि
कित को साहिबु आवहि रोहि

[सभी जीव तुम्हारे हैं, तुम्हीं केवल उनके हो, फिर हे ईश्वर, यह क्रोध और दैव-दुर्विपाक क्यों?]

या—

एति मारि पई कुतलाणे
तैं को दरद न आया

[क्या तुझे मौत दिखाई नहीं देती? क्या तुझे यह रोना सुनाई नहीं पड़ता? क्या तेरा हृदय दुःख से नहीं भर जाता?]

गुरु नानक के व्यक्तित्व के इस पहलू की ओर आपका ध्यान आकर्षित करके मैं यह कहना चाहता हूँ कि उनकी काव्य-दृष्टि की शुद्धता को उनके धार्मिक संदर्भों और उनकी कृतियों की कथन-शैली के अन्तर्गत ही समाहित नहीं किया जा सकता। और इस रूप में, इस विशिष्ट क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन निश्चित रूप से उनकी मानसिक और आत्मिक प्रतिपादन के अन्तर्विरोधों या तनावों को दुहरायेगा। साथ ही उनके भक्तिमय भजनों के साथ उनके सम्पूर्ण वातावरण को उजागर करने वाली सूक्तियाँ भी हैं। ये सूत्र केवल निष्ठा से नहीं बल्कि गहरे सामान्य ज्ञान से संतुलित यथार्थ की आलोचनापरक दृष्टि से पोषित हैं। गुरु नानक का चमत्कार, यदि व्याख्या इस प्रकार भी की जाये तो, एक नए धार्मिक अनुशासन के कायम करने में नहीं बल्कि धार्मिक निष्ठा और सजगता को सामाजिक परिवर्तन का हथियार बना देने में है। गुरु नानक का युग अधिकारवादी राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थानों का युग मध्य युग था। यह मध्ययुगीन विश्व-नियम एक ओर तो परम्परा के आधिपत्य के प्रति श्रद्धा पर टिका था और दूसरे विधर्मी आचरण के लिए दी जाने वाली सजा के डर पर कायम था। मध्ययुगीन विश्व-नियम के ये दोनों ही पक्ष गुरु नानक द्वारा विवेचित हुए हैं। गुरु नानक मूलभूत अभिधारणा से शुरू करते हैं—

सोचै सोचि न होवई
जे सोची लख बारि
चुपै चुप न होवई
जे लाय रहां लिवतारि
भुखियाँ भुखि न उत्तरी
जे बन्नां पुरीआं भारि
सहस सिआणप लख होवहि
तां इक न चलै नालि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किव सचिआरा होईऔ
किव कूड़ै तुटै पालि

[केवल चिंतन से ही वह नहीं जाना जा सकता चाहे लाख बार चिंतन करो; न मौन से वह जाना जा सकता है, विश्व का कोई धन उसके लिए भूख नहीं मिटा सकता; हज़ारों युक्तियाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं; तब फिर सत्य को कैसे जाना जा सकता है ? झूठे भ्रमों के नक़ाबों को कैसे दूर किया जा सकता है ?]

वे सत्य, रहस्य, ध्यान, अर्जन आदि के विभिन्न रास्तों के नकार पर ही अपनी बात समाप्त नहीं करते। इसके विपरीत गुरु नानक अपनी समस्या को लिए चलते हैं और एक खोज को लेकर सामने आते हैं—

काल नाही जोग नाही नाही सति का ढब
थानिसट सब भृष्ट होय डूबता इव जग

[समय का कोई मूल्य नहीं है, योग, तप की कोई संगति नहीं है, नानक कहते हैं कि सत्य की खोज को भुला दिया गया है। ये वस्तुतः इस विश्व नियम रूपी रिसते जहाज़ के डूबने के चिह्न हैं, कि इसके सभी विश्वास और सभी संस्थान भ्रष्ट हो गए हैं।]

मानव की दृष्टि को धुँधला करने वाले इन सभी कारणों के विरुद्ध कठोर संघर्ष के माध्यम से गुरु नानक ने अपने समय के सभी संस्थानों के आधिपत्य को समाप्त करने का प्रयास किया है और मानव पर छाए उनके भय को दूर करने की कोशिश की है। उन्होंने यह न केवल इनको इन्हीं के आदर्शों के विरुद्ध बताकर किया है बल्कि इन संस्थानों के द्वारा मानव पर किये गए अत्याचारों का भण्डाफोड़ करके, उनके उद्भव और उनकी परिवर्तित प्रकृति को बताकर भी किया है। गुरु नानक ने शासकों के दुष्कर्मों पर ही प्रहार नहीं किया बल्कि उनकी असमर्थता का उद्घाटन करके, और इस प्रकार, मानव को ईश्वर और परिस्थितियों के विरुद्ध भी प्रदर्शित किया। इसी प्रकार उन्होंने न केवल धर्म-विधियों की व्यर्थता को बताया बल्कि धार्मिक ठेकेदार पुरोहितों के पूर्णतया स्वार्थी व्यवहार को भी खोलकर सामने रखा। इन दोनों ही क्षेत्रों में गुरु नानक के प्रयासों का लक्ष्य, अपने समय के संस्थानों को अपदस्थ करने, तथा उनके अतिमानवीय मुखौटों को उतारकर उनके असली मानवीय चरित्र को दिखाना था, जिससे कि आम आदमी उनकी चुनौतियों का मुकाबला करने में समर्थ हो सके। इस परिप्रेक्ष्य में गुरु नानक के व्यक्तित्व के प्रभाव पर विचार करते हुए हम यह स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने अपने अनुयायियों में अपनी दुःखद परिस्थितियों के प्रति आई उदासीनता को किस प्रकार तोड़ा और किस प्रकार उन्हें इतिहास की गति में सक्रिय भाग लेने के लिए उत्साहित कर सके। उनके इस प्रयास का एक और प्रतीक यह भी है कि उन्होंने संस्कृत भाषा और उसकी साहित्यिक परम्परा का परित्याग करके जनभाषा को अपनाया और उसकी नृत्य विधाओं, गीतों को अपने काव्यगत उद्देश्यों का सहायक बनाकर क्लासिकल संगीत की पद्धति के आडम्बरहीन रूप में संस्कारित किया।

अतः हम अनुभव करते हैं कि गुरु नानक की भूमिका का मूल्यांकन उन्हें उनके अपने युग से सम्बद्ध करके ही हो सकता है। ऐसा करने के लिए एक अत्यन्त समृद्ध प्रलेखन की आवश्यकता है जिससे कि उनके वातावरण को पुनरुज्जीवित किया जा सके और देखा जा सके कि उस समय सामान्य व्यक्तियों की भौतिक स्थिति क्या थी और किन विशिष्ट भय और आशाओं, स्वप्नों और असंतोषों से वे अपना जीवन-यापन करते थे। इस विशालदर्शी नाटक में गुरु नानक की भूमिका को तभी सावधानी से विश्लेषित किया जा सकता है और उन्हें विभिन्न स्वायत्त श्रेणियों में रखकर देखा जा सकता है यथा, उनका व्यक्तित्व, उनकी निष्ठा, उनकी विचारणा और उनकी कविता; और तभी हम उनके सम्पूर्ण को एक अगत्यात्मक एकता के रूप में नहीं (जैसा कि अब तक उन्हें प्रस्तुत किया जाता रहा है) बल्कि एक गत्यात्मक अन्तर्विरोध, तनाव के रूप में अनुभव कर सकते हैं। उनके प्रति हमारी श्रद्धा मार्ग का अन्त नहीं होनी चाहिए बल्कि प्रयाण का एक बिन्दु होनी चाहिए। केवल तभी हम उनके द्वारा प्रस्तुत की गई समस्या में भागीदार हो सकते हैं—

किव सचआरा होईऐ ?
[तब सत्य को कैसे जाना जा सकता है ?]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाज़ार में

रमेशचन्द्र शाह

मैं
अनुभूति कर रहा हूँ
रंग और रूप की
परिक्रमा करते हुए
इस
बृहदाकार
स्तूप की···
जहाँ भी जाता हूँ
खोजने
अपना
संसार
वहीं लगा मिलता है
पहले से
मुझको
बाज़ार
मैं
क्या चाहता हूँ
क्या खोजता हूँ
कहीं मेरा यह प्रश्न ही
बिकाऊ न रक्खा हो यहाँ
घबड़ा जाता हूँ
मैं
हर 'भाव' का
भाव पूछता हुआ
आगे
बढ़
जाता
हूँ ।

मेरी जेब में
रस्ते से बीने हुए
पत्थर हैं
जिन्हें मैं
जिस किसी के झोले में
चुपके
रख देता हूँ
जब यह खेल भी
ख़त्म हो जाता है
मैं
जेब की सारी रेज़गारी
हवा में उछालकर
"राम नाम सत्त है" जोर से
चिल्लाता हूँ
और
खुश होता हूँ
कि सारे खरीदार
झोला-झंटा छोड़कर
लगे हैं···
बटोरने···
किसको ख़बर है यहाँ
कौन
कब
किसकी
अर्थी में कन्धा देकर
कैसे
कहाँ
गुम
हो गया !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुद्राओं की भाषा तथा विद्रोह की व्यावसायिकता

विजय मोहन सिंह

पिछले दिनों साहित्य में अधिकांश परिवर्तन 'यथार्थ' के नाम पर हुए हैं, इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि 'यथार्थ' आज के साहित्य का सर्वाधिक व्यभिचारग्रस्त शब्द बन गया है। बीते हुए कुछ वर्षों में अनेक कहानीकारों ने—जिन्हें 'भोगे हुए यथार्थ' के नाम पर पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई, 'यथार्थ' को 'वातावरण' से काटकर पेश किया। जबकि सच्चाई यह है कि केवल वातावरण से जुड़ा हुआ 'यथार्थ' ही यथार्थ हो सकता है—'भोगा हुआ यथार्थ' कहानी का अपने-आप में कोई गुण नहीं है, क्योंकि यह पूरा-का-पूरा तथाकथित 'भोगा हुआ यथार्थ', 'आत्मवंचना' (सेल्फ डिसेप्सन) का एक नमूना मात्र हो सकता है। आवश्यक है कि यह 'भोगा हुआ यथार्थ' (जो मात्र एक आत्मगत उद्घोषणा है) परिवेश-सम्पन्न हो। 'यथार्थ' की यही 'परिवेश-सम्पन्नता' उसे 'प्रामाणिक' बनाती है और 'भोगा हुआ यथार्थ' की सार्थकता केवल यही हो सकती है कि वह लेखक के 'आन्तरिक सत्य' का अंग बन चुका हो।

लगभग यही हाल 'यथार्थ' से जुड़े हुए दूसरे प्रचलित शब्द 'प्रामाणिकता' का हुआ है। 'प्रामाणिकता' की छीछालेदर आलोचकों ने कम कहानीकारों ने ज्यादा की, क्योंकि यह 'प्रामाणिकता' कहानीकारों के लिए लगभग उसी तरह की बैसाखी का काम करती रही जिस तरह 'परम्परा' और आधुनिकता' का सहारा लेकर साहित्य का एक हिस्सा घिसटता रहा है। 'प्रामाणिकता' को कभी 'भोगे हुए यथार्थ' से नत्थी कर बिल्ले की तरह लगाया गया और कभी छायावादी 'अनुभूति प्रवणता' से जोड़कर हर साँस का लेखा-जोखा रखने वाली 'प्रामाणिकता' बताया गया।

'यथार्थ' तथा 'प्रामाणिकता' के नाम पर होने वाले इस 'व्यभिचार' ने केवल 'आलोचना' और विचार की दिशा को ही विकृत नहीं किया है बल्कि कहानी के पूरे स्वरूप को बेमानी और बाज़ारू बना दिया है। ऊपर जिस 'परिवेश-सम्पन्न यथार्थ' की चर्चा की गई है, दरअसल प्रामाणिकता का सीधा सम्बन्ध उसी से है, क्योंकि साहित्य में प्रामाणिकता का प्रश्न साहित्य की उस मौलिक अक्षमता का द्योतक है जिसे बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का साहित्यकार सहसा अनुभव करने लगा है अर्थात् साहित्य को साहित्य के रूप में सार्थक होने की अपेक्षा अपने समय के सन्दर्भ में सार्थक और प्रामाणिक होना है अन्यथा यह बेजान और निकम्मा है। बीसवीं शती के साहित्यकार ने इस सत्य को अत्यन्त तीव्रता तथा व्यथा के साथ अनुभव किया कि सामान्यत: साहित्य का 'अच्छा' या बुरा' होना समाज के लिए कोई 'फ़र्क़' नहीं पैदा करता। तमाम महत्त्वपूर्ण 'निर्णय' उससे अलग होकर ही लिए जाते हैं और साहित्यकार अपने को इस निर्णय-प्रक्रिया के 'बाहर' पाता है।

निरन्तर 'बाहर' होते जाने का यह बोध ही साहित्य में 'प्रामाणिकता' के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण बनाता है। साहित्यकार अपने समय के 'निर्णयों' में अधिक-से-अधिक कितना 'शामिल' हो सकता है, यह उसके साहित्य की प्रामाणिकता' की पहली शर्त है। इस रूप में 'प्रामाणिकता' निषेधात्मक आधुनिकता तथा सम्भावनाहीन अतीत के बीच एक सार्थक और धनात्मक खोज है। 'प्रामाणिकता' एक ओर परिवेश निरपेक्ष साहित्य की प्रतिक्रिया है तो दूसरी ओर परिवेश को बाह्य राजनीतिक स्तर तक सीमित करने वाले 'नारी-साहित्य' की प्रतिक्रिया भी है। 'प्रामाणिक' होने के क्रम में साहित्यकार साहित्य के विरुद्ध सारे षड्यंत्रों के बीच अपने को तथा अपने परिवेश को सार्थक बनाता है।

आज की हिन्दी कहानी 'यथार्थ' और प्रामाणिकता' से उत्पन्न होने वाली 'विडम्बना' से अपने को बचा नहीं पाई है और अपनी वर्तमान स्थिति में वह 'यथार्थ', 'प्रामाणिकता'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा इसी तरह के अनेक उत्सवघोषित शब्दों की व्याख्या बनकर जीने लगी है। अधिकांश कहानियाँ इसी कारण या तो 'मुद्राएँ' हैं या व्याख्या-स्थितियाँ मात्र।

इसलिए यह कहना झूठ नहीं होगा कि कहानियाँ या तो 'फार्मूलों' की भाषा अपना सकती हैं या 'स्लैंग्स' की। वर्तमान सन्दर्भ में यह एक विकल्पहीन स्थिति है और दो बुराइयों के बीच चुनाव करने की दुविधा तक ही पहुँचाती है। यह सही है कि 'स्लैंग्स' की भाषा, भाषा के अनुभवहीन सिद्धान्तों का आश्रय अभिव्यक्ति के लिए नहीं लेती—लेकिन 'स्लैंग्स' की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि वे प्रायः इकहरी भाषा का निर्माण करते हैं और प्रायः उनकी सीमा एक वैयक्तिक 'मैनरिज़्म' के रूप में निर्धारित हो जाती है। लेकिन ज़िन्दगी का यथार्थ कभी इकहरा नहीं होता—रचनात्मकता हमेशा अन्तर्विरोधों की पकड़ में होती है। पर विडम्बना यह भी होती है कि आगे चलकर इन 'अन्तर्विरोधों' के भी 'फार्मूले' बन जाते हैं और भाषा फिर अपने इकहरेपन में टँगी रह जाती है। दरअसल भाषा हमेशा अनुभवों को 'धारणाओं' (कॉन्सेप्ट्स) में बदलती रहती है। भाषा द्वारा वस्तुओं के धारणाओं में बदलने के इस क्रम में धारणाएँ (कॉन्सेप्ट्स) 'अनुभव' से अलग होती जाती हैं और ताज़ा अनुभवों से अलग होते ही 'धारणाएँ' 'फारमूलों' में बदल जाती हैं। अतः अनुभवों को उनकी ताजा स्थिति में पकड़ने के लिए 'स्लैंग्स' का इस्तेमाल काफी दूर तक सहायक सिद्ध होता है।

इधर के कुछ कहानीकारों ज्ञानरंजन, महेन्द्र भल्ला, रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह, गोविन्द मिश्र आदि में 'स्लैंग्स' के आधार पर भाषा गढ़ने का आग्रह दीख पड़ता है, लेकिन वहीं इन्हीं कहानीकारों में से कुछ की कहानियाँ पहले 'अनुभव' की धारणाओं में बदलती हैं फिर अपनी भाषा में उनका अनुवाद करने का प्रयास करती हैं। दूधनाथ सिंह की 'विकल्प'-३ में प्रकाशित कहानी 'सुखान्त' इसका उदाहरण है। कहानी में यथार्थ के सारे जीवित उपकरणों को लेकर एक अविश्वसनीय वातावरण रचा गया है जिसमें उन उपकरणों के बावजूद कहानीकार का सम्पर्क जीवित यथार्थ से टूट गया है और कहानीकार कहानी की अविश्वसनीयता में ही रस लेने लगता है, जबकि कहानी की यह 'अविश्वसनीयता' उसके 'यथार्थ' को अधिक तीव्र करने के लिए निर्मित होनी चाहिए थी। ठीक इसी के समानान्तर उसी अंक में प्रकाशित काशीनाथसिंह की कहानी 'सुबह का डर' में एक प्रचलित अमानवीयता का केन्द्र बनाकर परिवेश का 'इस्तेमाल' किया गया है और उसके बीच से एक विडम्बना को देखा गया है। काशीनाथ सिंह की कहानी में परिवेश का 'इस्तेमाल' है लेकिन उसका ध्यान दूधनाथ सिंह की तरह उस परिवेश में रस लेने की ओर नहीं है बल्कि उसकी अमानवीय परिणति की ओर है। इसी कारण जहाँ 'सुबह का डर' सपाटता की कीमत पर भी 'निच्छल' बनी रहती है वहीं 'सुखान्त' अतर्कित मुद्राओं में खो जाने वाली कहानी बन जाती है।

हिन्दी कहानियों में इधर विकसित होने वाले इस बारीक 'छल' को पकड़ना दिनों-दिन मुश्किल होता जा रहा है और 'भोगा हुआ यथार्थ' तथा 'प्रामाणिकता' के नाम पर अनेक मुद्राजीवी कहानियाँ उत्सवघोषित बनी रही हैं। इस 'भ्रम' का एक सीधा और सामयिक कारण है: कहानीकार अपने परिवेशगत 'यथार्थ' को व्यक्त करने के क्रम में उस 'अलगाव' (यहाँ 'अलगाव' की व्याख्या अप्रासंगिक है) को भी व्यक्त करता है जो उसके और 'यथार्थ' के बीच आ जाता है। अतः कहानीकार के 'यथार्थ' में इस 'अलगाव' को भी शामिल समझना चाहिए। लेकिन यहीं कहानीकार उस विडम्बना का भी शिकार होता है जो कहानी तथा उसकी भाषा में 'मुद्राओं' को जन्म देती है, क्योंकि तभी यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि कहानीकार उस 'अलगाव' को व्यक्त कर रहा है या अपने और 'यथार्थ' के बीच के 'अन्तराल' को अपनी 'मुद्राओं' से भरने की कोशिश कर रहा है। पिछले दिनों लिखी गई अनेक कहानियों में 'अलगाव' के नाम पर केवल 'अलगाव की मुद्राओं' को व्यक्त किया गया है।

कहानी की भाषा में 'मुद्राओं' की सृष्टि एक ओर इस 'अलगाव' के नाम पर हुई तो दूसरी ओर 'प्रतिबद्धता' के नाम पर। 'प्रतिबद्धता' ने 'अलगाव' से कम मुद्राएँ कहानी की भाषा को नहीं प्रदान कीं। कभी-कभी आश्चर्य होता है कि एक ही लेखक की भाषा में इस तथाकथित 'अलगाव' और 'प्रतिबद्धता' दोनों की मुद्राएँ प्राप्त हो जाती हैं। इस 'अलगाव' तथा 'प्रतिबद्धता' के मुद्राधारी लेखकों की संख्या '६० के बाद की कहानियों में विशेष रूप से बढ़ी है, क्योंकि जहाँ '६० के बाद कहानियों में परिवर्तन की 'पहचान' उत्पन्न हुई वहीं उस 'पहचान' की रूढ़ियाँ भी उसी तेज़ी से बनीं। वैसे एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तर पर कहानी की भाषा हमेशा से 'मुद्राओं' की भाषा रही है, क्योंकि कहीं-न-कहीं 'कहानी' की शुरुआत ही एक मौलिक 'छल' से होती है और मुद्राओं से घिरा हुआ यह कहानी का 'छल' क्रमशः कहानी का 'स्वभाव' बनता गया। कहानी-सम्बन्धी समस्त आन्दोलनों ने कहानी के इस 'छली स्वभाव' से ही अपने को मुक्त करने का प्रयास किया, लेकिन 'छल-मुक्ति' के इन आन्दोलनों ने कहानी को एक 'छल' से दूसरे 'छल' तक ही पहुँचाया और 'सामयिकता की रूढ़ियों' ने 'रूढ़ियों' की जगह ले ली।

मुद्राओं की इस भाषा की शुरुआत इस दौर में नए सिरे से हुई है—न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि सामाजिक तथा राजनैतिक स्तर पर भी यह पूरा-का-पूरा दौर मुद्राओं का दौर रहा है। हिन्दी कहानीकार ने मुद्राओं की भाषा में जीना आज़ादी के साथ उत्तराधिकार में पाया है। दरअसल इस दरम्यान कहानी में नए सिरे से उत्पन्न होने वाली मुद्राओं को कहानी की अपनी विशेष स्थिति के साथ जोड़कर भी देखा जा सकता है: लिखना शुरू करते ही आज के कहानीकार के सामने छपने की समस्या आती है और छपना शुरू होते ही वह पाता है कि वह 'बाज़ार' में खड़ा है—उसकी कहानी बाज़ार के लिए और बाज़ार के द्वारा लिखी जाती है। 'व्यावसायिकता' के द्वारा अगर कोई विधा सबसे अधिक 'भ्रष्ट' हुई है तो वह कहानी है। साहित्य की व्यावसायिकता को समझने वाले जानते हैं कि व्यावसायिकता 'विद्रोह' की भी होती है और जब 'विद्रोह' व्यापार बन जाता है तो कहानीकार रूढ़ियाँ तोड़ने के बजाय रूढ़ियाँ तोड़ने की मुद्राएँ धारण करने लगता है। पिछले दिनों 'धर्मयुग' जैसी व्यावसायिक पत्रिकाओं में विद्रोह, विघटन और अलगाव व्यक्त करने वाली अनेक कहानियाँ सम्पादकीय टिप्पणियों के साथ छापी गई हैं जिनमें दावा किया गया है कि वे छद्म यथार्थ का पर्दाफाश करने वाली कहानियाँ हैं जबकि वे मूलतः अलगाव, विघटन आदि का व्यापार करने वाली मुद्राधारी कहानियाँ हैं। यह अकारण नहीं है कि तमाम असुविधाओं तथा आंतरिक असंगतियों के बावजूद पिछले दिनों की सही अर्थों में महत्त्वपूर्ण कहानियाँ छोटी पत्रिकाओं द्वारा ही प्रकाशित की गई हैं। इस सन्दर्भ में 'कथा'-१ में प्रकाशित ज्ञानरंजन की कहानी 'घंटा' का उल्लेख किया जा सकता है 'घंटा' में 'स्लैंग्स' की भाषा का तिलमिला देने वाला इस्तेमाल तो मिलता ही है, साथ ही सुविधा तथा स्वतंत्रता के बीच खड़े कहानीकार के ठेठ रूप को भी वह कहानी बड़ी बेबाकी के साथ पेश करती है। नितान्त व्यक्तिगत धरातल पर घटित होती हुई भी यह कहानी पूरी तरह सम्पृक्त रचना है जो सुविधा की तरफ ललचाई निगाह की हास्यास्पद विसंगति को परत-दर-परत खोल देती है। यह कहानी इसलिए भी उल्लेख्य है कि एक निगाह में वह पूरी तरह मुद्राओं की भाषा का उदाहरण पेश करती हुई नज़र आती है लेकिन ग़ौर करने पर इस भाषा की ढकोसलेबाज़ी 'मुद्राओं' की पोल खोलने के लिए विशेष रूप से निर्मित लगती है। वस्तुतः यह कहानी आज की कहानी की मुद्राओं की कहानी कहती है और इस रूप में लगातार तिलमिला देने वाले आघातों से भरपूर बनी रहती है।

मुद्राओं की भाषा में लिखी गई उत्सवघोषित कहानियों से अलग लेकिन उनके ठीक समानान्तर ही उन कहानियों की भाषा भी विकसित होती रही है जो प्रायः बिल्लों की ओट में नहीं लिखी गई है। रामकुमार, रामनारायण शुक्ल और अशोक सेकसरिया की कहानियों की भाषा ऐसी ही रही है जो कदम-कदम पर मुहावरे गढ़ती कहानियों की तुलना में ठंडी और बेअसर समझकर अनदेखी जाती रही है। शोर मचाने वाली बिल्लेदार कहानियों के प्रति शीघ्र ध्यान जाने की क्रिया के पीछे हिन्दी कहानी का एक निश्चित ऐतिहासिक सन्दर्भ भी रहा है: हिन्दी कहानी का पाठक प्रारम्भ से ही बँगला कहानी का पाठक रहा है और काफी दिनों तक उसे आधुनिकता भी बँगला आधुनिकता के रूप में ही प्राप्त होती रही है। 'दुलाईवाली' बंग महिला तथा 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' की बंगाली भावुकता काफी दूर तक हिन्दी के कहानी पाठक का संस्कार बनी रही है। इसी कारण छलहीन सच्चाई व्यक्त करने वाली कहानियाँ ठंडेपन तथा बेअसरी का पर्याय मानी जाती रही हैं और स्थितियों को भावुकता की चिकनाई के साथ बेलकर बढ़ाई गई व्याख्यात्मक कहानियाँ रचनात्मक प्रभावात्मकता की कसौटी मानकर उदाहरण बनाई जाती रहीं। किसी-न-किसी रूप में कहानी को पसन्द करने की यह संस्कारबद्ध परम्परा हिन्दी की हर नई-से-नई कहानी के साथ जुड़ी रही है। इसी कारण यदि पिछले वर्षों की कुछ चर्चित कहानियों को एकत्र कर देखा जाय तो पता चलेगा कि रूढ़ियों से मुक्त होने के तमाम दावों के बावजद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें से अधिकांश कहानियों में सँवारे हुए आरम्भ, अन्त और भाषा में प्रयत्नपूर्वक ध्वनित होने वाले गुण मिलेंगे। जिन कहानियों ने अनायास आरम्भ, अन्त, चरम स्थिति की रूढ़ियों तथा भाषा के चमत्कारपूर्ण छलों को छोड़ा वे प्रायः 'राजमार्ग' से परे रखी गई। इसका मुख्य कारण यह था कि यह 'चुनाव' हमेशा अतीत रुचि के सम्पन्न पाठकों और आलोचकों के द्वारा ही किया गया तथा आमतौर पर उसे स्वीकृत मानकर उन कहानियों के स्थान नियत कर दिये गए।

निश्चित रूप से यह सब 'ऐयाश प्रेतों का विद्रोह' या कोई सुनियोजित षड्यंत्र नहीं था बल्कि 'मोहभंग' के नाम पर एक 'भ्रम' की निरन्तरता थी जो किसी-न-किसी रूप में आज भी चल रही है। भाषा के स्तर पर इस 'छल' को पकड़ पाना आसान नहीं है, बल्कि एक अलग भ्रम की शुरुआत करने वाला भी सिद्ध हो सकता है, लेकिन इतिहास का एक छोटा-सा अंतराल भाषा के स्तर पर ही इस 'भ्रम' को काफी दूर तक तोड़ता चला जाएगा। यह आश्चर्य नहीं कि यह प्रक्रिया एक सीमा तक शुरू भी हो चुकी है और जिसने 'भोगा हुआ यथार्थ', 'प्रामाणिकता' तथा ऐसे अनेक मुहावरों के साथ आने वाली स्वीकृत कहानियों को सहसा उघाड़कर रख दिया है।

यही कारण है कि यह अपेक्षाकृत 'मद्धिम' कहानियों का दौर है जो सीधे-सीधे बिना किसी दावे के साथ ज़िन्दगी में उतरतीं और 'इतिहास की प्रौढ़ता' के साथ अपने को संयुक्त कर लेती हैं। 'इतिहास की प्रौढ़ता' को कहानी के सन्दर्भ में समझने के लिए 'घंटा' कहानी का एक उदाहरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा : **"मैंने ग़ौर किया कि पहले से स्थिति बेहतर अवश्य हुई है। पहले मैं केवल मुस्कुराता था। जैसे संसार एक चूतियापा है और मैं उसे समझ गया हूँ। हालत यहाँ तक पहुँची कि इस मुस्कुराहट के कारण मैं घोंघा समझा जाने लगा था। इस शाकाहारी मुस्कुराहट से सत्ता का तो कुछ बिगड़ता नहीं। दमदार मुस्कुराहट तो राजा की होती है, महंत की होती है, औरत की होती है और खतरों से मुक्त जिनका चमन है उनकी होती है। मुस्कुराहट गई तो अब उल्टी आने लगी है। तोड़-फोड़ मचने लगी है। भरपूर तरीके से ऐसा ही होता रहे, यह भी आसान नहीं है क्योंकि लोकतंत्र का रोमांस और नागरिक भावना को पता नहीं कब अन्दर ऐसा कचर दिया गया है कि तोड़-फोड़ तो दरकिनार हो जाते हैं बस बचा रह जाता है एक कुनकुना बुदबुद।"**

'घंटा' कहानी के पूरे स्वर के बावजूद ऊपर का उदाहरण केवल व्यंग्य नहीं है बल्कि अपने समय के सन्दर्भ में सार्थक होने की 'ऐतिहासिक प्रौढ़ता' से जुड़ा हुआ है। उसे सपाट या आरोपित 'वक्तव्य' भी नहीं कह सकते क्योंकि कहानी की भीतरी स्थितियों में बहता हुआ यह 'वक्तव्य' अचानक फूट पड़ता है। यह बोध विकास का बौनापन ही कहा जायगा कि एक हद तक ज्ञानरंजन जो काम 'स्लैंग्स' के सहारे कर लेते हैं वही काम चमत्कारहीन विच्छलता से करने वाले कहानीकारों को कभी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया। मसलन पत्नी के अत्याचारों से पीड़ित अथवा प्रेमिका की विमुखता से व्यथित नायकों का जो सत्कार कहानियों में आज तक किया जाता रहा है वह आश्चर्यजनक है लेकिन जो कहानियां मध्यमवर्गीय विवशताओं तथा विसंगतियों को प्रौढ़ता के साथ बिना किसी उच्छल उत्तेजना के पेश करती रही हैं उन्हें एक सिरे से चर्चा के बाहर रखा गया। रामनारायण शुक्ल, अशोक सेकसरिया और एक हद तक कामतानाथ की कहानियों के साथ प्रायः यही होता रहा है। एक अस्वाभाविक उत्तेजना का अभाव संवेदना की प्रौढ़ता का द्योतक होता है और यदि कहानी को आवश्यक रूप से उस अस्वाभाविक उत्तेजना से जोड़कर ही देखने की प्रक्रिया चलती रही तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि कहानी मौलिक रूप से अपनी विधा की सार्थकता केवल किशोर विचारों को वहन करके ही प्रमाणित कर सकती है और इस रूप में यह 'विधा' क्रमशः प्रौढ़ जगत् के लिए अनुपयुक्त तथा अनावश्यक होती जायगी। हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में इस समस्या पर नये सिरे से सोचना चाहिए क्योंकि वह या तो मुद्राओं की भाषा में 'प्रौढ़ता' का दम भर रही है या प्रौढ़ों को रिझाने वाली अपनी मौलिक 'तुतलाहट' को भी बरकरार रखती जा रही है। एक तरह से यह कहानी के समझने-बूझने की समस्या भी है जो इस दरम्यान बहिष्कृत रखी जाने वाली अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता से भी जुड़ी हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्सवाद और समकालीन बूर्ज्वा विचारधाराएँ (१)

इतिहास : संयोग और सार्थकता

सुरेन्द्र चौधरी

पिछले तीस वर्षों में इतिहास के भीतर जो परिवर्तन हुए हैं और इन परिवर्तनों से जिस अनुपात में हमारा चिंतन और जीवन प्रभावित हुआ है उसके प्रकाश में अगर मार्क्सवाद के सम्मुख कुछ नई समस्याएँ पैदा हो गई हैं तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। प्रश्न यह है कि ये नई समस्याएँ कहाँ तक मार्क्सवाद के लिए वास्तविक चुनौती बनती हैं और कहाँ तक कोरे विरोध के रूप में कुछ समय-सम्बन्धी प्रपंच खड़े किए गए हैं। बूर्ज्वा दुनिया जिस आत्यंतिक संकट और आत्म-विघटन से होकर गुज़र रही है, उसके भीतर यह आवश्यक है कि आत्मरक्षा के लिए वह चेष्टापन्न हो। इस चेष्टा का विस्तार ही मार्क्सवाद के विरोध को जन्म देता है। वैसे पूँजीवादी दुनिया में कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो पूरी ईमानदारी से अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने की चेष्टा करते हैं, मगर प्रचलित बूर्ज्वा विचारधाराओं को भीतर अपनी संगति नहीं बैठा पाने के कारण जिन्हें उस विरासत का सही अन्दाज़ नहीं है, जो उन्हें मिलती है। वे मार्क्सवाद का कोरे सैद्धांतिक स्तर पर विरोध करते हैं। वस्तुतः दर्शन उनके लिए वस्तुओं के सत्य के रूप में महत्त्व न रखकर विचार का सत्य बन जाता है। हम विस्तार से इन स्थितियों पर विचार करेंगे। अभी यहाँ इतना ही कहूँ कि जिन दो भिन्न स्तरों पर मार्क्सवाद का विरोध किया जाता रहा है उनके स्रोत उस समाज में ही हैं जो एक व्यवस्था के विघटन के भीतर स्वयं भी आहत है।

आज से लगभग आठ-नौ वर्ष पहले सार्त्र ने 'युग के दर्शन' के रूप में मार्क्सवाद को स्वीकार कर तथा अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद की विचारधारा मानकर संपूर्ण पूंजीवादी (बूर्ज्वा) विचारधाराओं की नींव पर ही जैसे चोट की थी। इस धक्के को बूर्ज्वा विचारधाराएँ सह नहीं सकीं जिसका परिणाम समस्त पूँजीवादी देशों में युवा पीढ़ी के आन्दोलनों में देखा जा सकता है। मगर इससे विचारधाराओं की बाहरी स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। बाहर से अब भी ये मार्क्सवाद का विरोध उसी ज़ोर से कर रही हैं। प्रस्तुत लेखमाला में मेरा उद्देश्य **समस्त बूर्ज्वा विचारधाराओं का विवेचन करना नहीं है**। मैंने अपने विवेचन को **उन मौलिक स्तरों तक सीमित कर दिया है** जहाँ मार्क्सवाद और बूर्ज्वा विचारधाराओं की टकराहट समकालीन मानस को प्रभावित करती है या **प्रभावित कर सकती है**। इसीलिए दर्शन के कोरे सैद्धांतिक सवालों पर मैंने अनावश्यक चर्चा नहीं की है। वह बहस हमें उस विस्तार में ले जाती जहाँ हमारा मूल उद्देश्य पीछे छूट जाता है।

मार्क्सवाद विरोधी बूर्ज्वा विचारधाराओं से समय-समय पर हमें टकराने की आवश्यकता न होती अगर उनसे कुछ **'ज्ञानात्मक निष्कर्ष निकाले न जाते** और उन्हें मार्क्सवाद-विरोध का एक घिनौना हथियार न बनाया जाता। मुश्किल यह है कि बूर्ज्वा विचारधाराएँ इन्हीं दो स्तरों पर मार्क्सवाद का विरोध करती पाई जाती हैं। इस लेखमाला में मैंने उन ज्ञानात्मक निष्कर्षों को पहचानने की कोशिश की है जिन्हें हमारे विरोधियों ने अपने मौलिक विवेचन में उपलब्ध किया है और जिनके आधार पर वे दावा करते हैं कि मार्क्सवाद को अन्तिम रूप से उन्होंने ध्वस्त कर दिया है। हम जानते हैं कि पिछले सवासौ वर्षों के इतिहास में मार्क्सवाद को हर दशक में इसी तरह बूर्ज्वा विचारधाराएँ अंतिम रूप से ध्वंस करती रही हैं और फिर भी वे नए सिरे से उसे ध्वंस करने की आवश्यकता भी महसूस करती रही हैं।

पिछले समय में मार्क्सवाद का विरोध कुछ तथाकथित भौतिकीविदों और गणितज्ञों ने किया था। भाख इसी तरह के भौतिकीविद थे। मगर इधर तीस वर्षों के भीतर मार्क्सवाद का विरोध विज्ञान की ओर से उतना नहीं हुआ है जितना ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में हुआ है। **यह भी एक विशेष स्थिति**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जिसके भीतर हमारी परिचर्या सीमित होती है। विज्ञान की तुलना में 'ज्ञानात्मक क्षेत्रों' में निष्कर्ष निकालने की छूट होती है। संभवतः इसीलिए जितने ज्ञानात्मक निष्कर्ष आज निकाले गए हैं, उतने शायद पूरे मार्क्सवाद-विरोध के इतिहास में नहीं मिलेंगे। फिर भी ये **ज्ञानात्मक निष्कर्ष** अपने **स्वरूप में एक नहीं हैं और न उनकी संगति की कोई सामान्य जमीन** ही है। इसीलिए आज जब हम बूर्ज्वा विचारधाराओं पर विचार करने लगते हैं तो सबसे पहली समस्या उस अनिश्चित विस्तार की होती है जिससे हमें साक्षात्कार करना है। स्पष्ट है कि इस अनिश्चित विस्तार से टकराने की कोई सार्थकता नहीं है। अधिक-से-अधिक हम इन ज्ञानात्मक निष्कर्षों के उन मौलिक आधारों पर विचार कर सकते हैं जिनका संबंध '**विधि की परिकल्पना**', 'वास्तविकता और संभावना', 'अनिवार्यता और आकस्मिकता', 'इतिहास और स्वतंत्रता' आदि से है। इसका दूसरा पक्ष अधिक ठोस और ज्ञान क्षेत्र से बनता है। इस पक्ष में '**आधार और अधिस्थापत्य**' से संबद्ध विषयों-विचारों पर हमने विस्तार से लिखा है। मुख्यतः वर्ग-संघर्ष पर इसका अन्तिम पक्ष उस **भाववादी सौन्दर्यशास्त्र** का है जिससे आज अधिकांश रचनात्मक चिंताधाराएं प्रभावित हैं।

इस प्रकार मैंने मार्क्सवाद के 'भौतिक दर्शन', 'समाज-दर्शन' और 'सौन्दर्य-शास्त्र' के संदर्भ में समस्त बूर्ज्वा विचारधाराओं की टकराहटों को समेटने की चेष्टा की है। स्पष्ट है कि बूर्ज्वा **विचारधाराओं के अनिश्चित विस्तार के सम्मुख मेरी जानकारी की सीमाएँ** हैं और मैं अपनी सीमाओं के प्रति सहज सजग हूँ। मगर प्रश्न उस अनिश्चित विस्तार से अधिक 'ज्ञानात्मक निष्कर्षों' को है जिन्हें आज के वैचारिक व्यावहारिक संदर्भ में मैं विचारणीय मानता हूँ। इसीलिए अपनी सीमाओं के बावजूद मैंने यह साहस किया है। विषय की प्रस्तावना में मुझे अपनी ओर से दो-चार बातें मुख्यतः करनी हैं। पहली और मुख्य बात जो किसी दर्शन-पद्धति के सम्बन्ध में की जाती है वह कल्पित समग्रता की ज़मीन से की जाती है। यह 'कल्पित समग्रता' मूलतः हमारे मानसिक संयोजन का अंग होती है और आवश्यक नहीं है कि उसके भीतर ढूंढे गए कारणों को वस्तु-प्रक्रिया से संगत माना ही जाए। मूल समस्या वस्तुतः यहीं से उत्पन्न भी होती है। मार्क्सवाद के आलोचकों ने सामान्य रूप से द्वंद्ववाद की सीमा का निर्देश करते हुए यह कहा है कि 'इसके (मार्क्सवाद) भीतर की अधिकांश दार्शनिक अनिश्चितताओं के मूल में **बौद्धिक द्वन्द्ववाद** और **कारणत्वमूलक अनिवार्यता** के बीच निरंतर बदलाव है।'[1]

लेनिन के समय से जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन मार्क्सवाद-विरोधी विचार-सरणियों में आया है उसकी ओर मैं ध्यान खींचना चाहूँगा। स्पष्टतः पिछले तीस वर्षों में मार्क्सवाद विरोधी मुद्दे में एक स्थानांतरण लक्षित किया जा सकता है। बीसवीं सदी के प्रारंभ में मार्क्सवाद-विरोधी जो अभियान शुरू हुआ था उसमें **मार्क्सवादी पद्धति की आलोचना पर उतना बल नहीं था।** उसका विरोध सम्पूर्ण मार्क्सवादी चिंतन के रूप से था, अर्थात् भूत-द्रव, भौतिक संयोजन, भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के स्वरूप, मूल तत्त्व को आधिभौतिकता आदि को लेकर यह संघर्ष प्रारम्भ हुआ था। माख और ऐवेनेटियस जैसे विचारकों ने मार्क्सवाद पर जो आघात किया था उसका मूलपक्ष यही था। वैसे **विस्तार और व्यावहारिक पक्षों** पर भी वे आक्षेप करते थे। किन्तु बीसवीं सदी के मध्य में आकर यह आलोचना **पद्धतियों पर आकर ठहर** गई। निश्चित रूप से आज की मार्क्सवाद-विरोधी विचारधाराएँ पद्धति, व्यवहार और ऐतिहासिकता, अनिवार्यता आदि के प्रश्न से ज्यादा लगाव रखती हैं। आज 'आत्मा' या चेतना की आद्यरूपता पर बहस नहीं की जाती और न इस ज़मीन से मार्क्सवाद की आलोचना की जाती है। मार्क्सवाद-विरोधी आलोचना का यह रूपांतरण अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण संकेत है। इसके साथ ही साथ **मनोगत विचार और वस्तुगत जगत् के एकात्म** को लेकर पुरानी बहसें नए अन्दाज़ में की जाने लगी हैं। विश्व-रेखांकन, प्राकृतिक दर्शन, द्वन्द्ववाद पर की जानेवाली बहसें अब द्वन्द्ववाद के 'गणितीय विरोध' पर आकर केन्द्रित हो गई हैं।

इनकी तुलना में इतिहास के केन्द्र में द्वन्द्ववाद ने कुछ आकस्मिक और महत्त्वपूर्ण मुद्दे पैदा किए हैं। इसी तरह वर्ग-संघर्ष और विकास की धारणा को भी कई दृष्टियों से आज परीक्षणीय बनाया जा रहा है। इस सम्बन्ध में हम एक मार्क्सवाद-विरोधी विद्वान् का एक उद्धरण यहाँ देना चाहेंगे।

१. रेमोंद ऐरों—'दि फ़िलासफी ऑव हिस्ट्री' शीर्षक निबन्ध। 'फ़िलासफिकल थॉट इन फ्रांस एण्ड यूनाइटेड स्टेट्स' (१९५०)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने लिखा है—"इस सबमें सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि ऐतिहासिक परिवर्तन के मार्क्सवादी सिद्धांत की कभी निर्णायक रूप में आलोचना हुई ही नहीं। उसकी विजय इसलिए होती रही कि उसके विरोधियों ने उसकी असंगतियों और आत्म-विरोधों को कभी उद्घाटित ही नहीं किया।"[1]

मार्क्सवाद-विरोधियों का यह नया अभियान सम्भवतः इसीलिए इतिहास के क्षेत्र में आज अधिक रुचि लेने लग गया है। तनिक विस्तार में यहाँ इस पूरे आलोचना-क्षेत्र को हम देखें। फोन माइज़ेज के अनुसार ही अब तक मार्क्सवाद के 'ऐतिहासिक परिवर्तन' सम्बन्धी वर्गवादी सिद्धान्त का निर्णयात्मक विश्लेषण और आलोचना न होने का कारण भी हम समझें। और साथ-साथ इस निर्णयात्मक विश्लेषण से उन्होंने जो 'ज्ञानात्मक निष्कर्ष' निकाले हैं उन्हें भी हम यहाँ बहुत संक्षेप में देख लें।

उनका कथन है कि मार्क्सवाद-विरोधियों की समझदारी की मौलिक चूक उसी बात से स्पष्ट है कि वे मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद और फ्रायड के 'चित्तविश्लेषण' या मनोविश्लेषण को जोड़कर देखते हैं जबकि ये नितान्त परस्पर-विरोधी धारणाएँ हैं। फिर कैथोलिक दर्शनों के उस व्यावहारिक रुझान को वे कोसते हैं जिसमें मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण को आत्मसात् करने की चेष्टाएँ की जा रही हैं।[2] अब हम उनके 'ज्ञानात्मक निष्कर्षों' पर ध्यान देंगे। अपनी पुस्तक 'सिद्धान्त और इतिहास' के चौदहवें अध्याय में उन्होंने उन 'ज्ञानात्मक निष्कर्षों' की व्याख्या की है जिन्हें यह सम्पूर्ण विवेचन उपलब्ध करता है। उनके अनुसार प्राकृतिक विज्ञानों में सम्भाव्य घटनाओं की भविष्यवाणी के दो आधार हैं—एक सामान्य और दूसरा सांख्यिकीय (Statistical)। मगर ये दोनों ही विधियाँ सत्यापक (Apodictic) नहीं मानी जा सकतीं क्योंकि ये अनुभव पर आधारित हैं। अनुभव केवल अतीत या व्यतीत का होता है। भविष्यत् घटनाओं की भविष्यवाणी के लिए इन अनुभवों का उपयोग तभी हो सकता है जब हम यह मान लें कि पदार्थों (वस्तुओं) के संक्रमण में और शृंखला में कोई अपरिवर्तनीय, आत्मिक एकरूपता है, **अर्थात् सरल और विस्तारसूचक आगमन** (Ampliative induction) **प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञानात्मक आधार है।**[1] इस आगमनात्मक विधि का प्रयोग इतिहास अर्थात् मानवीय कर्मों के क्षेत्र के लिए उसी रूप में नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन के दूसरे विरोधी विद्वान का कथन है कि "इतिहास दर्शन के भीतर इतिहास का दैवीकरण अनिवार्यतः परिवर्तन और क्रान्ति का अबौद्धिक (हेतु) जस्टिफ़िकेशन बन जाता है। इतिहास के इसी दैवीकरण ने मार्क्सवादी दार्शनिक लूकाच को बोल्शेविक क्रान्ति के अबौद्धिक दैवीकरण के लिए बाध्य किया।"[2] एक तीसरे आलोचक के अनुसार इतिहास-चिंतन में अनिवार्य रूप से सभ्यताओं के मार्क्सवादी नियम की सैद्धान्तिक बहस बन्द हो गई है।[3] मार्क्सवादी ऐतिहासिक सिद्धान्त पर की जाने वाली इन बहसों पर यहाँ विचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है। यहाँ केवल उनकी दिशाएँ ही मैंने निर्धारित-इंगित की हैं।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को कुछ लोग प्रारम्भ से ही अपूर्ण और साधारण मानकर खारिज करने की चेष्टा करते रहे हैं। सम्भवतः सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र इतिहास-दर्शन के समानांतर का क्षेत्र है जिसमें बूर्ज्वा विचारधाराएँ नये आवेश से मार्क्सवाद से टकराती मालूम पड़ती हैं। प्रस्तुत अंश में हमने विस्तार से इन बूर्ज्वा सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं, सिद्धान्तों और धारणाओं की चर्चा की है। इस सम्बन्ध में हम एक फ्रेंच विद्वान का महत्त्वपूर्ण वक्तव्य संक्षेप में उद्धृत करना चाहेंगे। उन्होंने लिखा है—

> "युग की केन्द्रीय समस्या जिस अनेकार्थी धारणा में मूर्त हुई वह मानवीय परिस्थिति ही थी।"

इसी मानवीय परिस्थिति के सन्दर्भ में हमारा सौन्दर्यशास्त्र एक नए भावात्मक संकट से गुज़र रहा है। ऐसी स्थिति में इस मानवीय परिस्थिति की मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी धारणाओं पर विचार करना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। यह क्षेत्र तत्त्व-मीमांसा का क्षेत्र नहीं है। मगर इतिहास और समाजदर्शन का क्षेत्र तो यह है ही—मानवीय भाव-संपदाओं को इनसे अलग नहीं किया जा सकता। मार्क्स-

१. फोन माइजेज, 'थियरी एण्ड हिस्टरी', पृ० १५२ (१९५८-लन्दन)।
२. उपरिवत्, पृ० १५२-१५३।

१. उपरिवत्, पृ० २०३।
२. प्रोसिडिंग्स—११वीं अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन परिषद्—जैकोव तौबे का 'एपाथियोसिस ऑव हिस्टरी' शीर्षक निबंध।
३. इतिहासचक्र, डॉ० लोहिया, पृ० २८ (हिन्दी अनुवाद, १९६८)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाद के समानान्तर चलने वाली और मार्क्सवाद के समीप आने वाली धारणाएँ प्रसंगात् यहाँ चर्चा का विषय नहीं बनाई गई हैं। उन पर पूरी गम्भीरता से विचार किया गया है। इस प्रकार यह लेखमाला एक व्यापक और सर्वांगीण उद्देश्य को ध्यान में रख कर लिखी गई है।

सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं को लेकर जो विचारणाएँ प्रकाश में आई हैं वे कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। शब्दावली और विषय-स्वरूप के परिवर्तनों के बावजूद सौन्दर्यशास्त्र के भीतर मौलिक रूप से चलने वाला संघर्ष ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। यानी संघर्ष की वस्तु (Content) लगभग वही है। संघर्ष का क्षेत्र ज़रूर कहीं बढ़ा है और कहीं घटा है। जिन मौलिक निष्कर्षों की ओर यह सम्पूर्ण लड़ाई इंगित करती है, वही हमारी परीक्षा के क्षेत्र में आते हैं। अलग-अलग सिद्धान्तों के रूप में देखना न तो सम्भव था और न उपादेय ही। इसलिए हमने सिद्धान्तों की अपेक्षा उनके निष्कर्षों को महत्त्वपूर्ण समझकर उनकी परीक्षा की है।

आशा है, विचारधाराओं की टकराहट में यह लेखमाला कुछ नए क्षेत्रों को उद्घाटित करने में सहायक होगी।

इतिहास का क्षेत्र अकेला नहीं है जहाँ उसके उद्देश्य के प्रश्न पर मतभेद है। ज्ञान के सभी क्षेत्रों में ऐसे विवाद आज चल रहे हैं या चलाए जा रहे हैं। सत्य की खोज बराबर हमें इसी तरह कहीं-न-कहीं ले जाकर छोड़ आया करती है जहाँ हम उसके संघटन को या तो पहचान लेने का दावा करते हैं या फिर उसे अज्ञेय मानकर संयोग अथवा नियति के हवाले कर देते हैं। **हेगेल तक आकर इतिहास की समस्या विश्वात्म अथवा आत्मचेतना में इतिहास के अन्तर्भाव की हो गई थी।** संपूर्ण जर्मन विचारधारा का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने इस अन्तर्मुक्त इतिहासवाद का विरोध किया।[1]

कुछ लोगों का विचार है कि इतिहास विज्ञान की तरह सत्य के संगठन और स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकता, इतिहास की कोई धारणा इतनी पूर्ण और वस्तुगत हो ही नहीं सकती। यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या विज्ञान तथ्यों के संघटन से सत्य की धारणा तैयार करता है या वस्तुतः सत्य के संगठन से साक्षात्कार करता है? खैर, विज्ञान के सत्य सम्बन्धी ज्ञानात्मक दावे पर यहाँ बहस नहीं करूँगा। सवाल को इतिहास तक सीमित रखूँगा। समकालीन बूर्ज्वा विचारधारा इस प्रश्न पर आत्मविभाजित मालूम पड़ती है कि इतिहास के कारणत्व की व्याख्या किस रूप में संभव है। इस सवाल को जर्मन विचारक फ़ोन माइज़ेज ने अपनी पुस्तक 'सिद्धान्त और इतिहास' में इस तरह सामने रखा है[1]—

"ज्ञानात्मक रूप से प्रकृति की विशिष्टता इस बात में देखी जाती है कि उसमें तथ्यों के उत्पादन और क्रम में एक अनिवार्य और निश्चयात्मक स्थायित्व है। दूसरी ओर जिसे हम मानवीय क्षेत्र या इतिहास कहते हैं, उसमें ऐसा कोई निश्चयात्मक और स्थायी क्रम नहीं मिलेगा।"

अपने इस निष्कर्ष को इतिहास-ज्ञान की विधि में तत्काल बदलकर वे कहते हैं[2]—"मरणशील मनुष्य नहीं जानता कि यह जगत् और वह सब जो इसमें समाहित है—किसी अपर ज्ञानशक्ति को किस रूप में ज्ञेय होगा। संभवतः ऐसा उदात्त मानस जगत् के समस्त तथ्यों की संगत, व्यापक और एकात्मक व्याख्या कर सकता। किन्तु मनुष्य—अद्यावधि—हमेशा इन किनारों के आरपार पुल बनाने में बुरी तरह असमर्थ रहा है।"

इस प्रकार बूर्ज्वा विचारधाराएँ इतिहास-विधि को एकात्मक और समाहारक मानने से इनकार करती हैं और एक द्वैत उत्पन्न करती हैं। इस द्वैत के पक्ष में उनका कहना है कि "इस विधि के द्वारा 'सार' (Essences) और आधिभौतिक संयोजन के विरोध को मिटा देना संभव है।"

सार और संयोजन के इस द्वैत ने कोई नया सवाल सामने ला खड़ा किया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। मुझे तो ऐसा लगता है जैसे किसी समय में लगभग तय हो गए प्रश्न को नए सिरे से उठाया जा रहा है। समस्त भाववादी इतिहास धारणाएँ जहाँ तक पहुँच चुकी थीं, वहाँ से यह नई धारणा आगे नहीं बढ़ी मालूम पड़ती। प्रश्न यह है कि बूर्ज्वा चिन्तन के क्षेत्र में यह सवाल बार-बार क्यों पैदा किया जाता है और इस नियति की शत-शत व्याख्याएँ क्यों अनिवार्य हो जातीं

१. कार्ल मार्क्स एवं फ्रेडरिक एंगेल्स—'जर्मन आइडियालॉजी', पृ० ३६-५५ (अंग्रेज़ी संस्करण, मास्को)

१. फोन माइज़ेज—'थियरी एण्ड हिस्ट्री', भूमिका—पृ० ४, (लंदन)।
२. उपरिवत्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। ऊपर से तो ऐसा ही लगता है कि समकालीन चिन्तन इन सवालों को उठाने के लिए विवश है कि अनुभव उसे नए सिरे से उन सवालों से जोड़ रहा है। मगर उससे ज्यादा अनिवार्य और विवशकारी कारण संभवतः यह है कि **मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन का विरोध करना बूर्ज्वा दुनिया के लिए नए सिरे से अनिवार्य हो गया है।**

आज की बूर्ज्वा विचारधारा एक विचित्र संकट की स्थिति में है। यह संकट ज्ञान के क्षेत्रों के आत्मविभाजन का है। वह अपने ही वैज्ञानिक निष्कर्षों से इतिहास-ज्ञान को तोड़कर अलग करता हुआ जब यह कहता है कि—"दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के बीच संवाद एक स्थिति के बाद निरर्थक हो जाता है, क्योंकि वे एक-दूसरे को समझ नहीं पाते"[1]—तो हमें आश्चर्य होना स्वाभाविक है। लगभग चालीस वर्ष पहले बूर्ज्व ज्ञानक्षेत्र में यह संकट नहीं था। कम-से-कम ऊपरी तौर पर इस संकट से राह निकाल ली गई थी। तब सारे निष्कर्ष एक भाववादी मौन में डूब गए थे। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने अज्ञेयता की एक ही मुद्रा ओढ़ ली थी! आज बूर्ज्वा विश्व का संकट फिर इस आत्मविभाजन के प्रकाश में स्पष्ट होने लग गया है—ज्ञान के अलग-अलग क्षेत्रों में संवाद की स्थिति प्रायः नष्ट हो चली है। आज जिस तरह सत्य को अनूदित होता हुआ दार्शनिक नहीं समझ सकता, उसी तरह तथ्यों के ढाँचे के बाहर किसी 'सार' या सत्य की विशुद्ध स्थिति को वैज्ञानिक भी समझ नहीं पाता! यह विरोध यहीं तक सीमित नहीं है, इतिहास के संदर्भ में यह दुर्भाग्य सामान्य विरोध से बड़ा है। यह हमें वहाँ ले जाता है जहाँ कारणत्व की खोज एक बन्द गली में ले जाकर हमें छोड़ देती है। उस बन्द गली को आप कोई भी नाम दे सकते हैं—आकस्मिकता, संयोग या नियति!

ऐल्फ्रेड श्वेत्स (Schuetz) ने कुछ वर्षों पहले इतिहास के सत्य को अपने ढँग से संयोजित करने की एक 'मौलिक चेष्टा' की थी।[2] यह चेष्टा हूसेर्ल और हाइडेगर जैसे विद्वानों से भिन्न थी। यह धारणा सार्त्र और मेरल्यो पॉन्टी की इतिहास-धारणा से भी भिन्न है। इतिहास-ज्ञान और ऐतिहासिक वास्तविकता के भीतर सामंजस्य ढूंढ़ने की यह चेष्टा अपने-आप में विराट कही गई। मैंने यह पुस्तक नहीं देखी। मगर श्वेत्स के भक्त ऐरों ने उसके सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे इस मौलिक और विराट् चेष्टा की रूपरेखा तो बन ही जाती है। ऐरों के अनुसार **इतिहास के सत्ता-ज्ञान का जैसा सार्थक और व्यापक आधार** इस पुस्तक में तैयार हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

इस सार्थक और व्यापक आधार पर एक नज़र देना असंगत न होगा। **ऐतिहासिक ज्ञान और ऐतिहासिक वास्तविकता समुत्पाद्य हैं। उन्हें चेतनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध** में समझा जा सकता है। क्या ये स्थापनाएँ इतनी मौलिक हैं? क्या इतिहास को आत्मचेतना में अन्तर्मुक्त करने की चेष्टाओं से अलग इनमें कुछ है? चेतना के भीतर इतिहास के सत्य को देखने का यह प्रयत्न अगर नया है तो एक सीमित अर्थ में ही। **वर्तमान में अतीत के पुनः संघटन के इस प्रयत्न को ऐतिहासिक ज्ञान की मौलिक उद्भावना** कहना मुझे उचित नहीं मालूम पड़ता। वैसे ऐरों ने अनेक प्रचलित मुहावरों में इस ऐतिहासिक ज्ञान की अनिवार्यता को यों प्रस्तुत किया है[1]—

"मगर यह निश्चित है कि इतिहास-विज्ञान का महत्त्व इसी **स्वतःसंभव ज्ञान में है।** मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी सिर्फ इसलिए नहीं है कि उसका भविष्य एक संभावना है; कि उसे अपनी नियति को चुनना ही है; कि वह एक सामाजिक परिवृत्त में घिरा है; कि वह भौतिक बुद्धि के द्वारा अपने पूर्वजों की विजय का फल भोगता है, बल्कि इसलिए कि वह अपने को दूसरों की तुलना में परिभाषित करता है—अतीत से तुलना के द्वारा।"

मार्क्स ने अपने समय में इस चेतनावाद (तब के विश्वात्मवाद या आत्मचेतनावाद) से जमकर संघर्ष किया था। उसने अपनी पुस्तक 'जर्मन विचारधारा' में इसका हवाला देते हुए लिखा[2]—"ज्यों ही हम इस सक्रिय जीवन-प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं त्यों ही इतिहास मृत तथ्यों का पुंज नहीं रह जाता—जैसा अनुभववादियों के लिए है। **वह किसी कल्पित विषयी की कल्पित क्रिया भी नहीं रह जाता,** जैसा भाववादियों के यहाँ होता है।" चेतनावादियों ने अक्सर इतिहास के कारणत्व की उल्टी व्याख्या की है। या फिर

१. रेमोंद ऐरों—'दि फिलासफी ऑव हिस्ट्री' शीर्षक लेख—मार्विन फर्बर द्वारा सम्पादित-संकलित (१९५०)।
२. ऐल्फ्रेड श्वेत्स—'डर जिन हैफ्ट ऑफ्बो डर जोसियालेन वेल्ट'।

१. रेमोंद ऐरों—'दि फिलासफी ऑव हिस्ट्री' शीर्षक निबंध।
२. मार्क्स—'जर्मन आइडियालॉजी'—पृ० ३८ (मास्को)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने इस 'कारणत्व' को संयोग के हाथ समर्पित कर दिया है। **मानवीय इतिहास मानवीय प्रयत्नों की एक विशिष्ट भौतिक संघटना है**, इसे चेतनावादी स्वीकार नहीं कर सकते।

मार्क्सीय इतिहास-धारणा के विरोध में सामान्यतः दो बातें कही जाती हैं। पहली यह कि मार्क्सवादी इतिहास-शास्त्र जड़ द्वन्द्ववादी है और दूसरा यह कि स्वतन्त्रता और नियति के सवाल को मार्क्सवाद अधूरे ढँग से सुलझाता है, कि उसमें इनके ढाँचों के परस्परावलंबन के लिए गुंजाइश ही नहीं है। दोनों ही आक्षेप विरोधियों की नज़र में अनुभवों की दुनिया से पैदा हुए हैं और ज्ञान के अर्थ से जुड़ते हैं।

इतिहास-सम्बन्धी विचारधाराएँ क्या सचमुच हमें इस जड़ द्वन्द्ववाद से उबारकर किसी गति और परिवर्तन के अनुभव से जोड़ती हैं? क्या इतिहास के 'कारणों' की उनकी व्याख्या सचमुच इतनी पूर्ण है? या कि उनमें 'कारणों' के प्रति निर्मम उपेक्षा का भाव है और वे केवल उसका दृश्य-सत्तात्मक संयोजन करने में लगी हैं? इन सवालों की व्याख्या से ही हमें ऊपरी आक्षेपों का उत्तर मिल जाएगा। वैसे अपनी इस निबन्धमाला में मैं अलग से भी इनका उत्तर देने की चेष्टा करूँगा।

फ्रेडरिक एंगेल्स ने जिस आडम्बरपूर्ण बकवास का हवाला आज से लगभग अस्सी वर्ष पूर्व दिया था, स्थिति उससे ज्यादा आज बेहतर नहीं है। इतिहास के प्रश्न पर जितनी आडम्बर-पूर्ण बहस आज चल रही है, उतनी शायद पहले कभी नहीं चली। इतिहास को संयोग सिद्ध करने वाली विचारधाराएँ इतिहास के आयाम को कहीं स्वयं ही झूठी साबित कर रही हैं। मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का विरोध दो अलग-अलग दृष्टियों से समकालीन चिन्तन में हुआ है। हेगेल और मार्क्स की इतिहास-सम्बन्धी धारणा को एक घोषित कर और उसे 'इतिहास-वाद' की संज्ञा देकर कार्ल पॉपर ने जो कुछ भी लिखा है[1] वह इतना अधूरा, आडम्बरपूर्ण और आत्मविरोधी है कि उस पर फिर से यहाँ विचार करना मुझे आवश्यक मालूम नहीं पड़ता। वैसे कुछ हवाबाज़ इतिहास-लेखक इस इतिहास-विरोध से प्रभावित हुए और **उन्होंने इसका उपयोग व्यक्ति की स्वतंत्रता, व्यवस्था और इतिहास-निरपेक्षता से जोड़कर किया।**

१. कार्ल पॉपर—पावर्टी ऑफ़ हिस्टोरिसिज़्म, प्रेगराइन संस्करण (१९५६)।

कार्ल पॉपर और इसाइया बर्लिन ने युद्धकाल में ही कुछ ऐसे लेख लिखे थे जिनके द्वारा उन्होंने मार्क्सवादी इतिहासशास्त्र का विरोध किया था।

मानवीय स्वातंत्र्येच्छा (!) को सर्वोपरि और आत्म-तंत्र घोषित करने वाले इन विद्वानों ने (!) मार्क्सवाद को व्यक्ति-विरोधी, स्वतंत्रता-विरोधी और अधोमुख कहा। हम सबसे पहले मार्क्सवादी दर्शन के इसी ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करेंगे। **क्या 'कारणत्व' और मानवीय इच्छा और स्वतंत्रता में आधारभूत विरोध है? अगर ऐसा कोई विरोध है तो इस विरोधी परिस्थिति को हम किस रूप में संघटित करके प्रत्यक्ष कर सकते हैं?** किसी कल्पित स्वातंत्र्येच्छा की ओट में सिर्फ विरोध करना अगर लक्ष्य हो तो बात दूसरी है। मार्क्स ने जर्मन आदर्शवाद की आलोचना इसी बिना पर की थी कि उसमें वास्तविक मनुष्य को कल्पित इकाइयों में बदला जा रहा था। इतिहास से ऊपर प्रतिष्ठित किसी धारणा से इतिहास की व्याख्या नहीं हो सकती, इसे मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया था।[1] ऐसी स्थिति में कार्ल पॉपर की यह धारणा कि 'मानवीय व्यवहार में कुछ भी सम्भव है', एक निहायत अर्थहीन और अनैतिहासिक धारणा मालूम पड़ती है। ऐतिहासिक प्रक्रिया इस व्यक्ति-व्यवहार की असामान्यता को लेकर नहीं चलती। ऐसी धारणाओं से मानवीय व्यापार-क्षेत्र परस्पर स्वतंत्र नहीं हो जाता और न हमारा कार्य-क्षेत्र निरर्थक। उसे किसी दैवी (असामान्य) आत्मा की अभिव्यक्ति मानकर आज भी चला जा सकता है, इसमें मुझे पूरा सन्देह है। बेनेडेटो क्रोचे ने भी लिखा है—'व्यक्ति की धारणा हमेशा ही एक सार्वभौम अथवा सर्व-साधारण धारणा है।'[2] व्यक्तिमत्ता की धारणा और व्यक्ति मत्ता एक चीज नहीं है, यह सही है। मगर उससे यह सिद्ध करना कि इतिहास में व्यक्तियों की धारणा से काम चलाया जा सकता है मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ता। इस प्रश्न पर डॉ० लोहिया ने लिखा था[3]—"उद्देश्यों और व्याख्याओं की बात ही क्या, इतिहास के तथ्यों, असलियतों को भी इकट्ठा कर पाना कठिन है...मैं बहुत दिलचस्पी से जानना चाहूँगा

१. मार्क्स का पत्र, १८७७ की रूसी पत्रिका 'ओतेशेस्तवेन्ये ज़िपिस्की' से उद्धृत (इतिहासकार 'कर' द्वारा)।
२. क्रोचे—'एस्थेटिक्स', परिच्छेद ५ (अंग्रेजी अनुवाद)।
३. लोहिया—इतिहास चक्र (हिन्दी अनुवाद), पृ० १३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उस समय गौतम बुद्ध ने कैसा अनुभव किया होगा या उनकी उस समय क्या अनुभूति थी, जब उस युग की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी का परिचय उनसे कराया गया और उसने संघ में शामिल किए जाने का आग्रह किया था। क्या उनके मन में तनिक-सा भी कम्पन हुआ था? हमें कुछ नहीं मालूम, न जान पाना कभी सम्भव है, क्योंकि बुद्ध को छोड़कर अन्य कोई नहीं जान पाया कि क्या हुआ था...।"

प्रश्न यह नहीं है कि ऐसी समस्याएँ युग की निर्णयात्मक समस्याएँ हो सकती हैं या नहीं—प्रश्न सिर्फ इतिहास के सामूहिक कारणों का है। हर अनुभव का एक निश्चित परिवृत्त होता है, विचारों, वस्तुस्थितियों और सम्बन्धों का घेरा होता है। ऐसी स्थिति में अनेक आत्मस्वतन्त्र लगने वाले कारण उतने स्वतन्त्र रह नहीं जाते। मार्क्स की तो बात ही जाने दें, क्या क्रोचे ने भी हेगेल की आत्मवादी या दैवात्मवादी दृष्टि का विरोध नहीं किया? क्रोचे को जोज़िया रॉयस और ब्राडले के साथ हेगेलवादी करार दिया गया है। क्रोचे की आत्मिकता क्या हेगेलीय द्वधात्म से एकदम भिन्न उपपत्ति नहीं है? ऐसी स्थिति में क्या हम ऐसा नहीं कह सकते कि हेगेल का निरर्थक विरोध करने वाले पॉपर जैसे विद्वान् क्रोचे की अपेक्षा ज्यादा हेगेलवादी हैं?

इतिहास में कारणत्व के नियमों की द्वंद्वात्मक और यांत्रिक दोनों व्याख्याएँ हुई हैं। इन दोनों को एक मानकर मार्क्सवाद पर आक्षेप करना एक अज्ञानतापूर्ण प्रयत्न मात्र कहा जाएगा। विषयी और विषय के जिस परंपरित श्रेण्य-विभाजन से इतिहास-धारणाएँ सामान्यतः जुड़ी हुई हैं उसके इतिहास से भी हमारा परिचय है। इस इतिहास को थोड़ा दुहरा लेना अनावश्यक नहीं होगा। **सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का समस्त 'तत्त्वज्ञान' इस भेद को स्वीकार कर ही इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करता है।** इतिहास की श्रेण्य धारणा में मनुष्य और प्रकृति को प्रतिमुख कर देखने की एक सामान्य परिपाटी है। मनुष्य को प्रकृति के विरोध में रखकर ही समस्त इतिहास-धारणाएँ इस काल में निर्मित हुईं। **मार्क्स ने मनुष्य और प्रकृति के इस सरल विभाजन को अपनी इतिहास-धारणा में एक मोड़ दिया।** ड्यूहरिंग मत-खण्डन में ऐंगेल्स ने लिखा[१] : 'स्वाधीनता प्राकृतिक नियमों से स्वाधीन हो जाने के स्वप्नों में निहित नहीं है, बल्कि वह उन नियमों के ज्ञान में, तथा इस ज्ञान की सहायता से निश्चित उद्देश्यों के लिए सुनियोजित ढंग से कार्य करने की जो संभावना पैदा होती है, उस संभावना में निहित है।" इतना ही नहीं, उन्होंने आगे लिखा—"यह बात बाह्य प्रकृति के नियमों के लिए भी सत्य है और उन नियमों के लिए भी जो खुद मनुष्य के शारीरिक और मानसिक अस्तित्व पर शासन करते हैं। नियमों के इन दो वर्गों को हम अधिक-से-अधिक केवल चिन्तन में ही एक-दूसरे से अलग कर सकते हैं।"

यही कारण है कि इच्छा की स्वतन्त्रता का अर्थ हम विषय-क्षेत्र से मुक्ति के रूप में नहीं लेते, बल्कि उस निर्णय की संभावना से लेते हैं जिसमें हम विषय-क्षेत्र का अधिक-से-अधिक अनुकूल उपयोग करते हैं। **इतिहास के बाहर किसी 'सार' की कल्पना मार्क्सवादी नहीं करता, स्वतन्त्रता की भी नहीं।** इतिहास और स्वतन्त्रता शीर्षक परिच्छेद में हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे। स्वतन्त्रता ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, वह ऐतिहासिक विषयों के ज्ञान की आत्मा है। यहाँ ज्ञान की आत्मा को हेगेलीय दैवात्म से मिला कर नहीं देखा जाए। ऐसा समझना उसके मौलिक स्वरूप को आहत करना होगा। आधुनिक प्रकृति-विज्ञान के भीतर यह स्थिति साफ-साफ देखी जा सकती है। **आज ज्ञाता और ज्ञेय के विभाजन से ज्ञान का निश्चय करना संभव नहीं रह गया है।** प्रकृति को हम किसी अपर सत्ता की तरह आज अज्ञेय मानकर नहीं चलते और न उसे मनुष्य-विरोधी ही समझते हैं।

मार्क्सवादी दर्शन और इतिहास-सरणि को विधेयवादी, स्वातन्त्र्येच्छा-विरोधी और न जाने क्या-क्या कहकर हम इस ऐतिहासिक ज्ञान का निषेध नहीं कर सकते। सम्भावना और मानवीय कर्म की ऐसी संगत और वैज्ञानिक व्याख्या पहले कभी प्रस्तुत नहीं हुई। सच्चाई तो यह है कि मार्क्सवाद का विरोध करने वाले विद्वान् भी इस ऐतिहासिक व्याख्या से अपने को बचाने में असमर्थ रहे हैं। **मार्क्सवादी ऐतिहासिक प्रक्रिया में मानवीय व्यापारों और सम्बन्ध-क्षेत्र की संगति और विरोध को समान महत्त्व दिया गया है।** मनुष्य के व्यापारों और सम्बन्ध-क्षेत्र के भीतर से इतिहास-गति को उपलब्ध करने वाली यह धारणा किसी भी यांत्रिक धारणा का अंग नहीं हो सकती।

इतिहास में अनिवार्यता और सार्थकता का प्रश्न

१. ऐंगेल्स—ड्यूहरिंग मत-खण्डन, पृष्ठ १६० (हिन्दी अनुवाद, मास्को।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परस्पर-विरोधी नहीं है । ऐंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' में लिखा है—"······किसी खास प्रश्न के सम्बन्ध में किसी आदमी का मत जितना अधिक स्वतन्त्र है इस मत के सार को उतनी अधिक आवश्यकता के साथ निर्धारित किया जाएगा; जबकि दूसरी ओर, अज्ञान पर आधारित वह अनिश्चयता, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के तथा परस्पर-विरोधी सम्भव निर्णयों में से किसी एक को मनमाने ढंग से चुनती प्रतीत होती है, ठीक अपने कार्य से ही स्पष्ट कर देती है कि वह स्वतन्त्र नहीं है; बल्कि वह स्वयं उसी वस्तु के नियन्त्रण में है जिसका उसे नियन्त्रण करना चाहिए था।"

स्वतन्त्रता और इतिहास के प्रश्न पर इधर अस्तित्व-वादियों ने बहुत-कुछ लिखा है। समकालीन चिन्तन की समस्त धाराओं पर, मार्क्सवाद को छोड़कर इनका थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा है। अस्तित्ववादियों की बुनियादी कमज़ोरी शायद यह है कि वे **विषय और विषयी के सम्बन्ध को ज्ञान-सम्बन्ध मानने से इनकार करते हैं। वे इसे अस्तित्व में सिद्ध मानते हैं।** यह व्यक्तिगत स्तर पर एक 'नाटकीय परिस्थिति' है जिसका केवल विवरण दिया जा सकता है। इस प्रकार, सामान्यतः, अस्तित्ववाद ज्ञान की सार्वभौमता को, मनुष्य के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों को, समय के भौतिक स्वरूप को और ऐतिहासिक परिस्थिति को अनिश्चित और असीमित मानवीय त्रासों में तथा स्वतन्त्र व्यक्ति-निर्णयों में बदल देता है। इन समस्याओं में केन्द्रीय समस्या ऐतिहासिक संयोग की है। इस विचित्र ऐतिह्यता के भीतर 'स्वतन्त्रता' की एक हेगेलीय पूर्ण धारणा बनाई जाती है। मानवीय स्वतन्त्रता को रहस्यमयता से भर देना अस्तित्व-वादियों के अस्पष्ट चिन्तन का परिणाम है। **भाववाद से मुक्ति की उनकी सारी चेष्टाएँ यहाँ आकर व्यर्थ हो गई मालूम पड़ती हैं।** अतीत को 'डेड वेट' मानकर उनकी ऐतिह्यता केवल भविष्य में आक्षेपित होती है। भविष्य में इस प्रकार व्यक्ति को उछालकर वे स्वतन्त्रता की रहस्यवादी धारणा तैयार करते हैं।

रेमोंद ऐरों ऐतिहासिक संघटना की जिस 'दृश्यसत्तात्मक विधि' का निरूपण अपनी पुस्तक में करते हैं उसका हाल में काफी प्रचार हुआ है।[1] ऐरों की पुस्तक काफी जटिल है और उस पर समकालीन जर्मन विचार-वैचित्र्य का प्रभाव कई स्तरों पर लक्षित होता है। यूरोपीय महादेश के बाहर और भीतर उसे इसी रूप में ग्रहण किया गया है। ऐरों की तुलना में मेरल्यो पॉन्टी के इतिहास-सम्बन्धी विचार ज़्यादा गम्भीर, मौलिक और स्पष्ट हैं। इंगलैंड में, जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस पुस्तक का अच्छा स्वागत नहीं हुआ। 'संयोग और सार्थकता' के प्रश्न पर इस पुस्तक में लम्बी बहस चलाई गई है। 'अतीत और इतिहास की धारणाएँ' शीर्षक अध्याय में ऐरों ने इतिहास के क्षैतिज नियमों और सिद्धान्तों पर विचार किया है। दूसरे खण्ड में ऐतिहासिक ज्ञान की विस्तृत चर्चा है। **वस्तुतः पुस्तक का यही हिस्सा बहस की केन्द्रीय प्रस्तावना तैयार करता है।**

इतिहास की नैतिकता का प्रश्न उठाकर यहाँ ऐरों कहते हैं कि यह नैतिकता इतिहासकार को यह छूट नहीं देती कि वह वर्तमान के सन्दर्भ में अतीत को पुनर्गठित करे। इतिहास की ऐसी व्याख्याएँ, ऐरों के अनुसार, इतिहास को धारणाओं में बदल देती हैं। इतिहास की यह धारणा वस्तुपरकता के सारे दावे झूठे कर देती है। इसी सन्दर्भ में समस्त क्षैतिज इतिहास-सिद्धान्तों पर आक्षेप करते हुए ऐरों ने मार्क्सवाद पर भी आक्षेप किए हैं।

ऐतिहासिक परिस्थिति की प्रत्यक्ष जटिलता और मान-वीय प्रयत्नों का इतिहास-विधायक स्वरूप हमें एक केन्द्रीय सवाल के सामने ला खड़ा करता है। इनके भीतर मार्ग ढूँढने का काम इतिहास-दर्शन की केन्द्रीय समस्या है। लेनिन जब अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इम्पीरियो-क्रिटिसिज़्म' लिख रहे थे तब वे न केवल प्राकृतिक दर्शन के सवालों से टकरा रहे थे, बल्कि वे इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धान्त की भी सचेत रूप में रक्षा कर रहे थे। अनेक भाववादी, संशयवादी और जड़-अनुभववादी धारणाएँ इस कालखण्ड में चिन्तन पर प्रभाव डाल रही थीं। ऐसी स्थिति में इतिहास में संयोग और सार्थकता का प्रश्न पूरी गम्भीरता से उभरा था। लेनिन अपने आसपास की दुनिया में डूबकर लिख रहे थे और अपने समकालीन इतिहास पर पकड़ के साथ लिख रहे थे। उनकी लड़ाई सम-कालीन चिन्तन के तीसरे आयाम की लड़ाई थी।

मार्क्सवाद इतिहास को धारणाओं में नहीं बदलता। उसके प्रति पूरी तरह सचेत रहकर मार्क्स ने 'जर्मन विचार-धारा' में लिखा था—"इस उत्पादन-विधि को मात्र व्यक्तियों

१. ऐरों—'इन्ट्रोडक्शन टू द फिलासफ़ी ऑव हिस्ट्री' (अंग्रेज़ी अनुवाद, १९६१)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भौतिक अस्तित्व के पुनरुत्पादन के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए, बल्कि यह इन व्यक्तियों के कर्म-व्यापार के निश्चित रूप हैं जो विशिष्ट ढंग से उनके जीवन को व्यक्त करते हैं—उनके पक्ष में ये स्पष्ट जीवन-विधि हैं।" ऐरों और उनसे प्रभावित दूसरे लोग सम्भवतः इस विशिष्ट जीवन-विधि को इतिहास से उत्पन्न नहीं मान पाएँगे क्योंकि **उनके लिए इतिहास मानवीय कर्म और संयोगों के बीच विभाजित है।** फिर व्यक्ति को 'ऐतिह्यता' के लिए पूरी परिस्थिति भी उन्हें यहाँ नहीं मिलेगी। **जिस 'इण्टर सब्जेक्टिविटी' के भीतर वे समस्त इतिहास और मानवीय स्वतन्त्रता को देखते हैं, वह वस्तुस्थिति के रहस्यवादी रूपान्तर से ही बनती है।**

इस केन्द्रीय प्रश्न के सन्दर्भ में पैदा हुए मतान्तरों पर हम यहाँ बहस नहीं करेंगे। विषय को प्रवृत्ति में बदलकर इतिहास की जो रूपरेखा तैयार की जाती है उसकी सार्थकता पर भी हम अलग से विचार करेंगे। अभी आँरी लेफ़ेव्र के शब्दों में हम यहाँ कहना चाहेंगे—

"निश्चित रूप से ये सामाजिक सम्बन्ध किसी प्रत्यय की तरह अस्तित्ववान नहीं होते और न हवा में होते हैं। इनका भौतिक आधार होता है—उत्पादन की शक्तियाँ, उनके हथियार, यन्त्र और उनका कार्य-संयोजन।"[1]

(क्रमशः)

१. आँरी लेफ़ेव्र—'सोशियालॉजी ऑव मार्क्स', पेंगुइन संस्करण (१९६८)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यिक द्वन्द्व : गुप्त-द्विवेदी संघर्ष के सन्दर्भ में

विष्णुकान्त शास्त्री

साहित्यिक द्वन्द्व दूसरे द्वन्द्वों से कहीं अधिक दिलचस्प होते हैं, कहीं अधिक नाटकीय। साधारण जन की यह धारणा हो सकती है कि झगड़ा करना सुसंस्कृत साहित्यकारों का काम नहीं है, किन्तु सच्चाई यह है कि झगड़ों, दलबन्दियों के लिए साहित्यिक क्षेत्र बहुत उर्वर है। हाँ, इनके लिए साहित्यिकों ने नाम उच्च-स्तरीय रख छोड़े हैं असहमति, मतभेद, नवीन वाद प्रवर्त्तन, मूर्त्ति-भंजन, आत्माभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य आदि-आदि। अपनी सर्वश्रेष्ठता के विश्वासी भावप्रवण साहित्यकार के लिए किसी दूसरे को (विशेषतः किसी समसामयिक को) अपने से बढ़कर मानना कठिन हो जाता है, अतः पूर्वप्रतिष्ठित अथवा समवयस्क प्रतिष्ठाप्राप्त या अपनी प्रतिष्ठा को चुनौती दे सकने वाले नये उभरते साहित्यकार के साथ अपने को समंजित करना उसके लिए लोहे के चने चबाना है। फलतः कई बार वह अपने समवर्ती लेखकों की रचनाओं की तथाकथित दुर्बलता का उपहास करने का प्रलोभन संवरण नहीं कर पाता। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल विच्छिन्न व्यंग्योक्तियों के रूप में तात्कालिक क्षोभ-प्रकाशन को ही साहित्यिक द्वन्द्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती। साहित्यिक द्वन्द्व के लिए दीर्घकालीन ऐसी अनेक आलोचना-प्रत्यालोचना का होना आवश्यक है जिनसे वास्तविक गहरे एवं प्रायः स्थायी मनमुटाव का बोध हो। एक बार ऐसा द्वंद्व छिड़ जाने पर उसका विकास अपने ही नियमों के अनुसार होता है। हो सकता है कि कभी-कभी इनका आरंभ इकतरफे आक्रमण के कारण हो, किन्तु प्रायः मार दुतरफी होती है। ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, विरोधी व्यक्तित्व या शुद्ध साहित्यिक मतभेद इनमें से एक या अनेक हेतु इन द्वन्द्वों के मूल में हो सकते हैं। अपनी उपेक्षा और दूसरे को मिलने वाली प्रतिष्ठा ईर्ष्या को और दूसरे को पछाड़कर आगे बढ़ जाने की भावना प्रतिस्पर्धा को जन्म देती है। अधिक उग्रता इन्हीं दो कारणों के फलस्वरूप उभरती है। द्वन्द्व-ग्रस्त साहित्यिकों को भड़काकर मज़ा लेने वाले भी बहुत बड़े अंश तक ऐसे द्वन्द्व के लिए उत्तरदायी माने जाएँगे। इन्हें साहित्यिक जमालो-बीबियाँ कहना चाहिए। विवेक के क्षणों में द्वन्द्वग्रस्त साहित्यकार चाहते हैं कि द्वन्द्व को स्थगित कर दें या रोक दें, किन्तु प्रायः वे ऐसा कर नहीं पाते। बात यह है कि कृती साहित्यकारों का व्यक्तित्व प्रायः इतना जटिल, उलझा हुआ और परस्पर विरोधी तत्वों से युक्त होता है कि बहुत बार स्वयं उनके लिए आन्तरिक सामंजस्य बनाये रखना कठिन हो जाता है। यह भी देखा गया है कि वे ऐसे द्वन्द्वों में प्रायः तभी प्रवृत्त होते हैं जब या तो स्वयं अच्छा न लिख पाने के कारण या आर्थिक सामाजिक कारणों के फलस्वरूप वे गहरे मानसिक तनाव के शिकार रहते हैं। ये द्वन्द्व प्रतिभाशाली लेखकों के पीड़ित, उलझे हुए, क्रुद्ध, पश्चात्तापयुक्त, क्षुद्र और कभी-कभी आश्चर्यजनक उदार स्वरूप का उद्घाटन करते हैं।

साहित्यिक द्वन्द्व सभी देशों और सभी कालों में होते रहे हैं। इस कथन के प्रमाणस्वरूप डॉ० जान्सन और लार्ड चेस्टरफील्ड, थैकरे और चार्ल्स डिकेंस, इवान तुर्गनेव और दोस्तोवस्की तथा तोलसताय, अर्नेस्ट हेमिंग्वे और शेरउड ऐंडर्सन आदि के द्वन्द्वों का उल्लेख किया जा सकता है। (देखिए, मिरिकलैंड कृत द फाइन आर्ट ऑफ़ लिट्रेरी मेहेम) हिन्दी के सन्दर्भ में ही बात करनी हो तो चन्दबरदाई और भट्ट केदार से आरम्भ कर पद्माकर और ठाकुर से होते हुए निराला और पन्त तक की (उनके बाद के लोगों का नाम लेना खतरे से खाली नहीं है) अनेकानेक साहित्यिक नोक-झोकों की चर्चा की जा सकती है। पर इनमें से अनेक विवाद महत्त्वपूर्ण होते हुए भी दीर्घकालीन आलोचना-प्रत्यालोचना के अभाव में ठीक-ठीक द्वन्द्व संज्ञा के अधिकारी नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में सबसे रोचक, व्यापक और सच्चे अर्थों में प्रखर साहित्यिक द्वन्द्व बाबू बालमुकुन्द गुप्त और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के मध्य हुआ था। यहीं यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि अपने देश में हुए न केवल प्राचीन काल के बल्कि आधुनिक काल के साहित्यिक द्वन्द्वों का भी प्रामाणिक एवं पूरा विवरण प्रस्तुत करना निर्भर योग्य विस्तृत सामग्री के अभाव के कारण कठिन है। विदेशों में जिस तरह साहित्यिकों के जीवन-चरित्र, आत्मकथाएँ, पत्र-संग्रह, रोज़नामचे, उनके जीवन की विशिष्ट घटनाओं के बारे में प्रत्यक्षदर्शियों के विवरण आदि सुलभ हैं, उस तरह की सामग्री यहाँ कहाँ! फिर भी गुप्त-द्विवेदी-द्वन्द्व के बारे में काफी मसाला इधर-उधर बिखरा हुआ है, जिसका उपयोग कर साहित्यिक द्वन्द्व के स्वरूप को स्पष्ट करने की सार्थक चेष्टा की जा सकती है।

"हमने समझ लिया था कि हिन्दी जाननेवालों और हिन्दी लिख सकनेवालों में न्याय का नाश हो गया, पांडित्य डूब मरा, गुणग्राहकता अस्त हो गई, लेखन-शक्ति का उच्छेद हो गया, पर अन्त में आपने हमारे इस नैराश्यपूर्ण भ्रम को दूर कर दिया।"

"क्या हम चिड़िया हैं, जो ये लोग हमारा गला घोंट देंगे?"[1] अपनी समझ से अपने ऊपर हुए अन्यायपूर्ण नृशंस आक्रमण के फलस्वरूप कुछ कातरता, कुछ रोष की व्यंजना करने वाली ये क्षोभपूर्ण उक्तियाँ हिन्दी के परम समर्थ आलोचक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की हैं, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता। फिर भी यह सच है कि गुप्त-द्विवेदी-द्वन्द्व में अपने प्रमुख समर्थक (एक दृष्टि से त्राणकर्त्ता) पं० गोविन्दनारायण मिश्र को लिखे ४-३-१९०६ तथा ११-४-१९०६ के अपने पत्रों में द्विवेदीजी ने ये पंक्तियाँ लिखी थीं—

"वह (पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी) समझते हैं कि हमें सबकी आलोचना करने का अधिकार मिल गया है और हमारी आलोचना कोई करे तो हमारे भाई-बन्धु जाति-धर्म की, भाई-बिरादरी की दुहाई देते हुए चारों ओर से लट्ठ लेकर सहायता के लिए आ धमकें और विद्या से नहीं तो लट्ठ से उसे सीधा कर दें। आत्माराम पर भी वही बीती। वह गरीब लठैतों के दल में घिर गया।"[1] अपनी दृष्टि के अनुसार अपने न्याययुक्त पक्ष के अन्यायपूर्ण खंडन के प्रति क्षोभ और अपनी स्थिति के प्रति सहानुभूति के उद्रेक का प्रयास बालमुकुन्द गुप्त की इन पंक्तियों में स्पष्ट है।

इन उद्धरणों से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि कितना तीखा रहा होगा वह साहित्यिक द्वन्द्व, जिसकी उत्तर वेला में ये दोनों दिग्गज इस प्रकार क्षत-विक्षत हो कराह रहे थे और दूसरों से समर्थन एवं सहयोग की कामना कर रहे थे।

किस बात पर छिड़ा था वह द्वन्द्व, कैसे हुए थे उसमें आक्रमण-प्रत्याक्रमण, क्या निकला था उसका निष्कर्ष, ये सभी सार्थक प्रश्न हैं, किन्तु इनका समाधान करने के पूर्व छोटी-सी भूमिका जरूरी है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८ ई०) तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७ ई०) दोनों समवयस्क थे, दोनों अत्यन्त तेजस्वी, निर्भीक एवं दृढ़चेता व्यक्ति थे, दोनों हिन्दी के निष्ठावान् सेवक, सफल लेखक और मनस्वी पत्रकार थे। केवल इतना ही नहीं, दोनों एक-दूसरे के सहायक और स्नेही भी थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' में द्विवेदीजी की रचनाएँ १८८९ से अप्रैल १९०१ तक समय-समय पर प्रकाशित की थीं। भारतमित्र के 'तेईसवाँ वर्ष' शीर्षक लेख में १९०१ ई० में उन्होंने लिखा था—"हम पं० श्रीधरजी पाठक तथा पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी का हृदय से धन्यवाद करते हैं। हिन्दी पद्य को पथ पर ले जाना आप जैसे लोगों ही का काम है।"[2] दूसरी तरफ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रत्नावली के गुप्त-जी कृत अनुवाद की प्रशंसा करते हुए लिखा था—"हमको आप चाटुकार न समझें, यदि हम यह कहें कि जैसा श्रीधरजी अँगरेज़ी का अच्छा अनुवाद करके पढ़नेवालों के मन को मोहित कर लेते हैं वैसा ही आप संस्कृत का अनुवाद करके मोहित कर लेते हैं।"[3] इसके अतिरिक्त १९०० ई० में जब गुप्तजी का पं० लज्जाराम मेहता से 'शेष' के अर्थ को लेकर विवाद हुआ था तब भी द्विवेदीजी ने वामन शिवराम आप्टे की संस्कृत-अँगरेज़ी डिक्शनरी एवं पंडितराज जगन्नाथ के

१. श्री गोविन्द निबन्धावली (प्रथमावृत्ति पं० गोविन्दन रायण मिश्र को लिखित आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पत्र से, पृ० १।) तथा १-)।

१. गुप्त निबन्धावली (प्रथम भाग), पृ० ४२८।
२. बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ, पृ० १२०।
३. वही, पृ० १२४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस गंगाधर से उनके अनुकूल प्रमाण देकर उनके पक्ष का समर्थन किया था। निस्सन्देह दोनों एक-दूसरे की क्षमता के कायल और प्रतिभा के प्रशंसक थे।

फिर भी विवाद छिड़ने पर गुप्तजी ने द्विवेदीजी के लिए लिखा था—"सचमुच जिस भाषा के ठेकेदार आप जैसे घर-घमंडी हों, उस अभागी का विनाश ही होता है।"[1] और द्विवेदीजी ने गुप्तजी के लिए लिखा—"जो लोग 'ज्ञानलव दुर्विदग्ध' हैं, ईर्षा-द्वेष से जिनका जी जल रहा है, उनको वृहस्पति के बाप की भी बातों में पूर्वापर विरोध और संदिग्ध भाव देख पड़ेगा।"[2]

क्या इस प्रकार की कठोर भाषा के प्रयोग के द्वारा किसी सार्थक विचार-विनिमय की सम्भावना रह जाती है? इसकी ध्वनि से यह स्पष्ट है कि शुद्ध वैचारिक मतभेद की मीमांसा दोनों में से सम्भवतः किसी को अभीष्ट भी न थी। दोनों सिद्धान्तों की ओट लेकर दूसरे को अपदस्थ करना चाहते थे, यद्यपि यह भी ठीक है कि दोनों का घोषित उद्देश्य भाषा-परिमार्जन ही था और इस विवाद से एक हद तक उस आवश्यक किन्तु उपेक्षित पहलू के बारे में विचारक, लेखक और सामान्य पाठक अधिक सचेत हुए भी। किन्तु यह दुःखद सत्य है कि इस द्वन्द्व के कारण जितनी गर्मी पैदा हुई, जितना धुआँ फैला, उतना प्रकाश नहीं।

इस द्वन्द्व का विस्फोट हुआ था नवम्बर १९०५ की सरस्वती में प्रकाशित पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के एक लेख 'भाषा और व्याकरण' के फलस्वरूप। इस लेख में द्विवेदीजी ने भाषा की परिवर्तनशीलता की ओर संकेत करते हुए यह मत प्रतिपादित किया था कि लिखित भाषा की एकरूपता बनाए रखने के लिए सर्वांगपूर्ण व्याकरण का प्रणयन एवं लेखकों द्वारा उसका अनुगमन आवश्यक है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने हिन्दी में अच्छे व्याकरण के अभाव की तथा प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा भी व्याकरण-विरुद्ध भाषा-लेखन की चर्चा करते हुए कुछ सम्मान्य जीवित एवं दिवंगत लेखकों की भाषा पर भी टीका-टिप्पणी की थी। उन्होंने यह आग्रह भी व्यक्त किया था कि वाक्प्रवाह या मुहावरे की ओट लेकर व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों को ठीक नहीं ठहराया जा सकता। सच कहा जाये तो इस लेख के विषय के अनुरूप ही इसकी शैली भी

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४३५।
२. वाग्विलास, पृ० १२४।

गम्भीर और विचार-प्रधान थी एवं इसमें किसी को जान-बूझकर अपमानित करने का भाव नहीं झलकता। व्याकरण-विरुद्ध रचनाओं के उदाहरण देने के पूर्व द्विवेदीजी ने लिखा था—"पर जिनकी रचना के ये उदाहरण हैं उनसे इस कारण हम शत वार क्षमा-प्रार्थना करते हैं—चाहे वे इस समय इस लोक में हों चाहे परलोक में। इसमें बुरा मानने की बात नहीं। हम स्वयं भी बहुधा व्याकरण-विरुद्ध लिख जाते हैं। इसका कारण यह है कि व्याकरण की तरफ लोगों का ध्यान ही कम है।"[1]

किन्तु द्विवेदीजी इसके पहले लाला सीताराम, पं० माधव प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 'ज़माना' सम्पादक दयानारायण निगम आदि से टकरा चुके थे। उनकी विद्वत्ता और दबंगपन से प्रभावित साहित्यसेवी जहाँ उन्हें श्रेष्ठ आलोचक के रूप में स्वीकार करने लगे थे वहीं उनकी कठोरता और अहम्मन्यता से क्षुब्ध साहित्यकार उनके स्फीत दर्प को चूर्ण करने का अवसर खोज रहे थे। इस लेख में भी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गदाधरसिंह, राधाचरण गोस्वामी आदि सम्मान्य लेखकों की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ दिखाई गई थीं, इसका अर्थ उन्होंने यह निकाला कि द्विवेदीजी अपने को इन लोगों से भी बड़ा लेखक मानने लगे हैं। बाबू बालमुकुन्द गुप्त द्विवेदीजी की कठोर आलोचना शैली से पहले से ही असन्तुष्ट थे। लाला सीताराम की उग्र आलोचना से द्विवेदीजी को विरत करने की चेष्टा करते हुए उन्होंने लिखा था—"मेरा मतलब यह है कि किसी अच्छे लेखक से कुछ भूल भी हो तो उस पर अधिक कटाक्ष न होने पावे।"[2] फिर भारतेन्दु आदि की भूलें दिखाना तो उनके भावुक हृदय को अक्षम्य अपराध जान पड़ा। उनकी क्षोभाग्नि में आहुति डाली विशुद्धानन्द विद्यालय के संस्कृत अध्यापक पं० अक्षयवट मिश्र ने। उन्होंने गुप्तजी को सुझाया कि 'भाषा और व्याकरण' के बारे में बड़े-बड़े उपदेश देने और दूसरों के दोष दिखाने के बावजूद द्विवेदीजी स्वयं अस्थिरता के स्थान पर 'अनस्थिरता' जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं जो नितान्त व्याकरण-विरुद्ध है। बाबू भगवानदास हालना के अनुसार "गुप्तजी को यह सुनकर प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा कि यह बहुत अच्छा हुआ, अब द्विवेदीजी को भी ठीक रास्ता

१. वाग्विलास, पृ० ८९-९०।
२. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १२३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखा दिया जायगा।"[1]

इसके बाद गुप्तजी ने अपनी अननुकरणीय व्यंग्यात्मक शैली में आत्माराम के नाम से भारतमित्र में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक दस लेख लिखे। इन लेखों में हिन्दी के पुराने लेखकों की द्विवेदीजी द्वारा बताई गई भाषा-सम्बन्धी कुछ भूलों को तो सही सिद्ध किया गया, कुछ को भाषा की पुरानी धारा के अनुरूप माना गया, कुछ को उपेक्षणीय बताया गया। फिर द्विवेदीजी के उसी लेख के अनेक वाक्यों की धज्जियां उड़ाकर चुनौती दी गई कि 'अनस्थिरता' को द्विवेदीजी व्याकरण द्वारा शुद्ध सिद्ध करें। ये लेख हिन्दी के 'विवादी लेखन' के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रतिपक्षी को महीन काटने में गुप्तजी का जवाब नहीं है। द्विवेदीजी की वाक्य-रचना में चुस्ती की सचमुच कमी थी। शिष्ट भाषा-प्रवाह के जीवन्त रूप के स्थान पर द्विवेदीजी की भाषा किताबी, भारी-भरकम और जटिल होती थी। गुप्तजी ने उस पर भी खूब फब्तियां कसीं। यह लेखमाला यदि इतनी विध्वंसक न होती, यदि अनस्थिरता को शुद्ध सिद्ध करने पर इतना ज़ोर न दिया जाता तो इसी विचार-क्रम में द्विवेदीजी और गुप्तजी की मान्यताओं के आधार पर व्याकरणबद्धता और शिष्ट भाषा-प्रवाह के महत्त्व का तुलनात्मक विवेचन हो सकता था। किन्तु दुर्भाग्य से यह विवाद विचार के स्तर से व्यक्तिगत मानापमान के स्तर पर उतर आया और 'अनस्थिरता' की शुद्धता या अशुद्धता जीत-हार की कसौटी बन गई।

शीघ्र ही यह विवाद दो व्यक्तियों के बीच का न रहकर हिन्दी जगत् के अधिकांश लेखकों का बन गया। द्विवेदीजी के समर्थकों में पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० देवीप्रसाद शुक्ल, पं० गिरिजाप्रसाद वाजपेयी, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि थे, तो गुप्तजी के पक्षधरों में पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० अक्षयवट मिश्र, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू गोपालराम गहमरी आदि प्रमुख थे।

गुप्तजी ने बार-बार चुनौती-भरे स्वर में यह लिखा था कि "अनस्थिरता का फैसला झटपट हो जाना चाहिए, क्योंकि वही सारी लिखा-पढ़ी की जड़ है।" अतः द्विवेदीजी के समर्थक पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने अर्ध सत्य का सहारा लेते हुए हिन्दी बंगवासी में प्रकाशित 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेखमाला में अनरस, अनरीति, अनहोनी जैसे शब्दों के अनुसार ही हिन्दी व्याकरण से 'अनस्थिरता' शब्द को शुद्ध सिद्ध कर दिया। द्विवेदीजीने उन्हीं के तर्कों का सहारा लेते हुए फरवरी १९०६ की सरस्वती में प्रकाशित अपने लेख में गुप्तजी को कड़ा उत्तर दिया। इसका प्रत्युत्तर गुप्तजी ने 'व्याकरण विचार', 'हिन्दी में आलोचना' (सात लेख), आत्मारामीय टिप्पण आदि के द्वारा दिया और यह फब्ती भी कसी कि द्विवेदीजी की अनस्थिरता अँगरेज़ी से भी साबित हो सकती है, क्योंकि उसमें भी अनस्क्रुपुलस, अनथाटफुल, अनसिविलाइज्ड, अनरेड, अनग्रामेटिकल आदि शब्द हैं जिनमें द्विवेदीजी महाराज का 'अन' मौजूद है। इस विवाद के सैद्धान्तिक पक्ष का विस्तृत विवेचन करना हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है।[1] ध्यान देने की बात यही है कि विचार-विवेचन में सत्यान्वेषण के संयत प्रयास के स्थान पर इन आलोचना-प्रत्यालोचनापरक लेखों में वैयक्तिक ऊष्मा की अनियंत्रित अभिव्यक्ति हुई है, व्यंग्यों, कटाक्षों के तेज नश्तर चुभाने की चेष्टाओं में दूसरे पक्ष के सत्यांश को अनदेखा कर दिया गया है।

आलोचना में शालीनता के परम समर्थक गुप्तजी गोविन्द नारायण मिश्र के प्रहारों से बौखलाकर उनके बारे में यहाँ तक लिख गए, "अब एक पहाड़ी खखोडर के पुराने उल्लू की गुड़मगुड़म सुनिये। बहुत दिन से यह गोबरगणेश चुपचाप था। अब उसने बंगवासी के धर्म भवन पर बैठकर अपने पट्ठों सहित बोलना शुरू किया है।"[2] यह संभवतः अपनी तुरुपचाल 'अनस्थिरता को व्याकरण-शुद्ध सिद्ध करने की चुनौती' के कट जाने से उत्पन्न क्रोध का परिणाम था। द्विवेदीजी के बारे में उन्होंने इतना कटु नहीं लिखा था, शायद इसका एक कारण यह भी था कि उन्हें अपने पक्ष की जीत का पूरा भरोसा था और इसीलिए ज़रा ऊँचाई पर खड़े होकर वे एक के बाद दूसरे लेख में द्विवेदीजी की गंभीरता की, 'अपनी छटांक भर विद्या को मन भर करके दिखलाने की' उनकी श्रेष्ठता-ग्रन्थि की खिल्ली उड़ाते चले गए थे। प्रस्तुत है एक

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० ३५६।

१. जो इस विवाद के सैद्धान्तिक पक्ष के बारे में पढ़ना चाहें वे 'बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन' में संकलित हमारा लेख 'हिन्दी आलोचना को श्री बालमुकुन्द गुप्त की देन' पढ़ें।
२. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४८१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण—"द्विवेदीजी आँधी की भाँति उठते हैं किन्तु धूल की भाँति गिरते हैं। आपकी लम्बी-चौड़ी फूँफाँ और हुल्लड़ देखकर तो यही प्रतीत होने लगता है कि न जाने कैसी भारी बात आप कहेंगे, पर पास जाते ही मालूम हो जाता है कि देहातों गुलगपाड़े से बढ़कर कुछ नहीं है।"[1]

द्विवेदीजी इन मार्मिक प्रहारों से पहले तो वास्तव में सन्नाटे में आ गये, फिर जब गोविन्दनारायण मिश्र ने हिन्दी व्याकरण के आधार पर 'अनस्थिरता' को शुद्ध सिद्ध कर दिया तब फरवरी १९०६ की सरस्वती में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से ही दूसरा लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने अपने पक्ष के प्रशंसक विद्वानों की सम्मतियाँ छापीं, अपने पक्ष का समर्थन किया और गुप्तजी की कटु आलोचना की।

एक बानगी देखिये—"शब्दों की व्युत्पत्ति उसे समझाई जाती है, जिसे समझने का शऊर होता है। जो इतना भी नहीं जानता कि 'जीव' और 'जीवन' में भेद है या नहीं, और है तो क्या है, जिसकी आँखें 'प्रकाशन' और 'प्रकटन' को देखकर दुखने लगती हैं, जिसकी समझ में 'ब' और 'व' का अन्तर अभी तक नहीं आया और जिसका पंचभूतात्मक प्रपंच भर्तृहरि का एक श्लोक सही-सही नकल तक नहीं कर सकता, उसका शब्दों की व्युत्पत्ति पूछना मानो तीन दमड़ी को दूकान रखने वाले किसी बनिये-बक्काल का जगत् सेठ राथ्सचाइल्ड या कारनेगी से उनकी सम्पत्ति का हिसाब पूछना है।"[2]

अपने नाम से प्रकाशित रचनाओं में तो वे शिष्टता की सीमा नहीं लाँघ सकते थे, अतः उन्होंने कल्लू अल्हइत के नाम से 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक एक करारा आल्हा लिखा। यह रचना एक देहाती की नाममात्र की अपनी पढ़ाई-लिखाई के बलबूते पर शहर आकर ईर्ष्या और अहंकार के मारे दूसरों की पगड़ियाँ उछालने तथा अन्य कुकृत्य करने की स्वीकारोक्ति है। कहना न होगा कि देहाती के रूप में द्विवेदीजी ने गुप्तजी को ही संकेतित किया है। इसकी कुछ संकेतपूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जिन बभनन का पुरिखन पूजा हमहूँ जिनके ज्वारा हाथ।
हमरिन गारिन के फूलन ते उनहिन के भै बोझिल माथ॥

× × ×

गुन जसु मानबु कौन चीज है सो हम अपन्यौ जानत नाहिं।
अस किरतघ्न और जो ढूँढ़ै मिली न सात बिलाइत माँहि॥

× × ×

पढ़ा गुना हम कुछौ नहींना, जो कुछ सिखा राम का नाउँ।
तहू बिरस्पति जो कुछ ब्वालै वहि मा दौरि घुसारी पाउँ॥

× × ×

हमरी नस-नस बीच बियावै इरखा और लोभ महराज।[1]

फिर अनुताप के क्षणों में वह देहाती स्वयं घोषणा करता है, "साफ कहित है हम ऐसेन का सरगौ नरक ठेकाना नाहिं।" यह पूरा आल्हा गुप्तजी की खिल्ली उड़ाने की दृष्टि से ही लिखा गया है। इससे द्विवेदीजी का उनके प्रति क्षोभ तो व्यक्त होता ही है, उनकी अपनी साहित्येतर सीमा भी प्रकट होती है। विचार के क्षेत्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण का सवाल उठाना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

गुप्तजी कब दबने वाले थे! उन्होंने इसके जवाब में तीन कविताएँ लिखीं 'गुरु घंटाल का स्वप्न', 'गुरुजी का हाल' और 'व्याकरणाचार्य'। 'गुरुजी का हाल' की कुछ चुभती हुई पंक्तियाँ देखिये—

कहो गुरूजी कैसा हाल। रह गई चोटी उड़ गयी खाल।
फैलाये कितने ही जाल। गली नहीं पर मेरी दाल॥
रही हमारी जो कुछ पोल। यारो ने सब डाली खोल।
नाहक मैं उलझा बेतौर। किया नहीं कुछ पहले गौर॥
'टिड्ढाण' की ढाल बनाई। उल्टी सीधी खूब सुनाई।
पर आखिर को मुँह की खाई। अपनी करनी आगे आई॥

गुरूजी की पोल खुल जाने पर सब उनकी हँसी उड़ाने लगे। उनको बेहाल बैठे देखकर उनके भाई-बन्द दौड़े आये।

बैठे थे हम मन को मारे। भाई-बन्द आ गये सारे।
मोटे-मोटे लट्ठ उठाये। बोले—कल्लू कस बुलवाये॥
तो संग को करि सकै मरोरि। अभी देहि हम माथा फोरि।

द्विवेदीजी का सर्वप्रथम प्रभावी समर्थन पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने गुमनाम रहकर किया था, अतः उनकी विशाल काया की चुटकी लेते हुए गुप्तजी ने लिखा—"आये पहले हाथी राम, कोई न जाने जिनका नाम।" पं० माधवराव सप्रे एवं पं० अप्पा शास्त्री ने 'अनस्थिरता' को संस्कृत व्याकरण से भी सिद्ध माना था। संभवतः इसी की ओर संकेत करते हुए गुप्तजी ने लिखा—

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४५२।
२. वाग्विलास, पृ० ३४१।

१. कविता कौमुदी (दूसरा भाग), पृ० ५२८-२९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मरहट्ठों ने रख लई लाज। इससे जान बची है आज।
तो भी कुछ-कुछ हैं गुर्राते। चुपके-चुपके हैं चिचियाते।[1]

द्विवेदीजी के अहंकार पर कटाक्ष करते हुए गुप्तजी ने 'व्याकरणाचार्य' में लिखा—

साधो मैं व्याकरणाचारी।
घर ही के कोने में मिल गई मुझको विद्या सारी।
सबसे अधिक पसन्द मुझे है अपनी ही टिड्ढाँण।।
मेरा कहना तुम भी मानो बाबा वचन प्रमाण।[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस गहरी नोक-झोंक, तेज़-तर्रार उत्तर-प्रत्युत्तर, तीखे व्यंग्य विद्रूप के कारण इस साहित्यिक द्वन्द्व के दौरान प्रकाशित पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बाबू गोपालराम गहमरी आदि-आदि के लेख, पद्य बड़े ही चित्ताकर्षक बन गये हैं और आज भी उनको पढ़ने में बड़ा मज़ा आता है। कितना अच्छा हो यदि इन सबको एकत्र संकलित कर ग्रन्थाकार प्रकाशित कर दिया जाये।

क्या यह सारा विवाद शुद्ध साहित्यिक मतभेद के कारण ही खड़ा हुआ था? यह ठीक है कि द्विवेदीजी और गुप्तजी की भाषा-सम्बन्धी दृष्टि में कुछ अन्तर था, एक का ज्यादा ज़ोर व्याकरण पर था, दूसरे का शिष्ट भाषा-प्रवाह पर, किन्तु क्या उसी के कारण विचार-विवेचन में इतने वैयक्तिक आक्षेप किये जा सकते थे? साहित्यिक द्वन्द्व में तीक्ष्णता का संचार करने वाले दो प्रमुख तत्त्वों के रूप में ईर्ष्या और स्पर्धा की चर्चा इस लेख के आरम्भ में की गयी है। सच्चाई यह है कि वे दोनों तत्त्व इस द्वन्द्व में भी सक्रिय थे।

द्विवेदीजी और गुप्तजी के स्नेहपूर्ण सम्बन्धों में पहला तनाव तब आया था जब लाला सीताराम की द्विवेदीजी द्वारा की गयी कठोर आलोचनाओं के प्रति गुप्तजी ने असहमति प्रकट की थी। फिर २९ जनवरी १९०० ई० के भारतमित्र में हिन्दी शिक्षावली के तृतीय भाग की कड़ी आलोचना करते हुए द्विवेदीजी ने उसमें संकलित 'खिलौना' पुस्तक की एक कविता 'गिलहरी का ब्याह' की भी गलतियाँ दिखायी थीं। 'खिलौना' के लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त थे, सम्भवतः उन्होंने ही रामभजराम के नाम से उसका चुटीला उत्तर लिखकर द्विवेदीजी की आलोचना को निःसार सिद्ध किया। द्विवेदीजी भी रामभजराम पर कुछ ताव खा गये, किन्तु जब उन्हें श्री श्रीधर पाठक से पता चला कि खिलौना के लेखक गुप्तजी हैं तो उन्होंने गुप्तजी को व्यक्तिगत पत्र लिखकर इस मामले को रफा-दफा करना चाहा। गुप्तजी ने अपने पत्र में यह तो लिखा कि 'खिलौना' पर आपके लिखने से मुझे हर्ष है, दुःख नहीं। ऐसी बातों का मुझे ख्याल नहीं होता।[1] पर यह भी लिखा—"आपकी कविता में दोष दिखाने की चेष्टा नहीं की परन्तु आज्ञा हो तो करूँ? पर शर्त यह है कि उसमें अन्य भाव न समझा जावे।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि उनके मन में गाँठ पड़ गयी थी। इसके बाद 'भारतमित्र' में द्विवेदीजी की एक-दो रचनाएँ ही छपीं और जब उनकी एक-दो रचनाओं को मर्यादा के अनुकूल न होने के कारण 'भारतमित्र' में प्रकाशित करने में गुप्तजी ने असमर्थता प्रकट की तो उनको द्विवेदीजी ने वापस मँगवा लिया और फिर 'भारतमित्र' में प्रकाशनार्थ अपनी कोई रचना नहीं भेजी। इस समय तक गुप्तजी और द्विवेदीजी समान स्तर के ही लेखक माने जाते थे बल्कि 'भारतमित्र' जैसे प्रतिष्ठित पत्र के सम्पादक होने के कारण गुप्तजी का प्रभाव अधिक था। क्रमशः आलोचक के रूप में द्विवेदीजी की प्रतिष्ठा बढ़ती चली गयी। १९०३ में वे 'सरस्वती' के सम्पादक नियुक्त हुए और शीघ्र ही 'सरस्वती' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका बन गयी। यह भी उल्लेखनीय है कि द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ रचना भेजने के लिए गुप्तजी से कभी अनुरोध नहीं किया यद्यपि वे अन्य बड़े लेखकों से आग्रहपूर्वक लेख मँगवाते रहे। द्विवेदीजी के सम्पादन-काल के पहले से ही गुप्तजी 'सरस्वती' पर छींटाकशी करते रहे, द्विवेदीजी के सम्पादक होने के बाद भी वह जारी रही, बल्कि उसमें कुछ तेजी ही आयी। इसीलिए द्विवेदीजी ने अपने दूसरे लेख में लिखा था—"जिस काया में घुसकर हमारे शूर समालोचक बाण वर्षा कर रहे हैं, उसकी शुरू ही से 'सरस्वती' पर नेक नज़र रही है। आक्रमण-पर-आक्रमण उस पर होते आये हैं। पर हमने कभी उनकी तरफ ध्यान देने की ज़रूरत नहीं समझी। नहीं मालूम क्यों, कुछ लोगों की आँख में 'सरस्वती'

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ७२१-२२।
२. वही, पृ० ७२२।

१. बा० मु० स्मा० ग्रन्थ, पृ० १२६।
२. वही, पृ० १२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काँटे-सी चुभती है।"[1] यही नहीं उन्होंने गुप्तजी पर 'ईर्षा-द्वेष से जलने' और 'परोत्कर्षासहिष्णु' होने का आरोप भी लगाया। गुप्तजी इससे बहुत मर्माहत हुए और उन्होंने 'हिन्दी में आलोचना' शीर्षक से छह लेख लिखकर अपनी सफाई दी और द्विवेदीजी से विनय की कि इस बहस में वह अपने मुकाबिल को ईर्षा-द्वेष के इल्ज़ामों से रहित करें, चाहे उसे अल्पज्ञ समझते रहें।[2] किन्तु इस लम्बी सफाई के बावजूद यह मानना कठिन है कि उनमें ईर्षा और स्पर्धा की भावना नहीं थी। 'भारतमित्र' की तुलना में 'सरस्वती' बहुत सजधज के साथ, अच्छे कागज़ पर अच्छी तरह मुद्रित होकर प्रकाशित होती थी। मासिक पत्र होने के कारण उसमें अधिक स्थायी महत्त्व की सामग्री जाती थी और हिन्दी जगत् पर उसका गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ता था। इसी द्वन्द्व के समय ही गुप्तजी ने अपने मित्र उर्दू 'ज़माना' के सम्पादक बाबू दयानारायण निगम को एक पत्र में लिखा था—"मेरे जी में हिन्दी का एक माहवार रिसाला निकालने की समाई हुई है, जिसकी बड़ी ज़रूरत है। हिन्दी में सिर्फ एक 'सरस्वती' है, जो ऊपर से परी बनी हुई है, मगर अन्दर से···।"[3] सम्पादकों ने इस पत्र का इतना ही अंश छापा है, किन्तु इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस वाक्य का शेषांश कैसा रहा होगा। भीतर की बात तो यह थी किन्तु अपनी सफाई में गुप्तजी ने लिखा था—"सरस्वती का हमारे यहाँ बड़ा आदर है।···एक चिकने कागज़ की उत्तम टाइप की बढ़िया तस्वीरोंवाली ठीक समय पर निकलने वाली हिन्दी मासिक पत्रिका किस हिन्दी प्रेमी की आँखों में काँटे-सी खटकेगी? बेहतर हो कि चुभती का हम वह अर्थ लें जो शहरवालों के रोज़मर्रह में आता है। शहरवाले अपनी बहुत पसन्द की प्यारी चीज़ को चुभती हुई कहते हैं।"[4] गुप्तजी की चुलबुली शैली की दाद देनी पड़ती है कि इस सफाई में भी वे एक गहरी चोट कर गये हैं, 'सरस्वती' के अन्य गुणों की प्रशंसा करते हुए उसमें प्रकाशित सामग्री की चर्चा भी न करना वैसा ही है जैसे किसी विद्वान की प्रशंसा उसकी विद्वत्ता के लिए न कर उसके ठाठ-बाट के लिए करना। द्विवेदीजी को नीचा दिखाने की, उनका मान-

१. वाग्विलास, पृ० १३२-३३।
२. गुप्त निबन्धावली, पृ० ५०५।
३. बा० गु० स्मा० ग्रन्थ, पृ० २०६।
४. गुप्त निबन्धावली, पृ० ५११-१२।

मर्दन करने की भावना 'भाषा की अनस्थिरता' आदि लेखमाला में अत्यन्त स्पष्ट है, शाब्दिक सफाई का पर्दा डालने की लाख चेष्टा करने पर भी उसे ढाँका नहीं जा सकता।

दूसरी तरफ द्विवेदीजी का अहंकार भी कुछ कम न था। लाला सीताराम पत्तनलाल, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० माधवप्रसाद मिश्र और स्वयं बाबू बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं और कार्य-पद्धति की उनकी आलोचना रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक थी। उनमें दूसरों की अज्ञता और अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन का भाव झलकता ही नहीं उबलता रहता था। बाद में उन्होंने अपने को बहुत हद तक संयत कर लिया था। इस संयम के पीछे 'भाषा की अनस्थिरता' द्वन्द्व का अनुभव भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। १९२८ ई० में वाग्विलास की भूमिका में विवादी लेखन की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था—"आत्माभिमान, परद्वेष मद, मत्सर आदि भी विकार हैं। उनके वशीभूत होकर मनुष्य कभी-कभी सकारण और कभी-कभी अकारण भी दूसरों पर आक्रमण कर बैठता है, उन्हें अपदस्थ करने की चेष्टा करता है और उनकी कुत्सा करके अपने प्रेरक विकारों का विजृम्भण करने लगता है। यह बात वह वाणी द्वारा, लेख द्वारा तथा और तरह से भी करता है।"[1] यह पूरी भूमिका केवल द्विवेदीजी के ही नहीं समस्त विवादी लेखन के मनोविज्ञान को समझने में बहुत सहायक है। विवादी लेखों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होनेवालों को वृद्ध एवं अनुभवी द्विवेदीजी की यह स्वीकारोक्ति स्मरण रखनी चाहिए—"यदि आलोचक को मनुष्य स्वभाव का यथेष्ट ज्ञान होता और यदि वह सहिष्णुता से काम लेता जैसा कि उसे चाहिए था तो इन लेखों के लिखे जाने की नौबत ही न आती।"[2] आत्मकथा शीर्षक अपने लेख में द्विवेदीजी ने और भी साफ शब्दों में स्वीकारा है—"इस अहंकार नामक शत्रु का शिकार मैं चिरकाल तक हो चुका हूँ। यह उसी की कृपा का फल था जो कभी मैंने किसी सभा की खबर ली, कभी किसी लाला या बाबू पर वचन रूपी शर-सन्धान किया, कभी किसी ग्रन्थकार या ग्रन्थ-प्रकाशक पर अपना रौब जमाया।"[3] द्विवेदीजी के साहित्यिक अभियानों से सामान्य परिचय रखनेवाले भी यह आसानी से समझ सकते हैं कि उस सन्दर्भ में

१. वाग्विलास, पृ० ५।
२. वही, पृ० ८।
३. संचयन, पृ० ३२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभा, लाला और बाबू का अर्थ है काशी नागरी प्रचारिणी सभा, लाला सीताराम तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त।

किन्तु वृद्ध गुरुजनों के पश्चात्ताप से उमंग और साहस से भरे महात्त्वाकांक्षी तरुण विशेष कुछ सीखते हैं, इतिहास इसकी गवाही नहीं देता। फलतः साहित्यिक द्वन्द्व समय-समय पर ज़ोर-शोर से छिड़ता ही रहता है और छिड़ता ही रहेगा। यह ठीक है कि उससे धूल बहुत उड़ती है, किन्तु यह भी ठीक है कि अतिरंजना और एकांगिता के बावजूद उससे विचार्य विषय के विविध पक्ष भी सामने आते हैं और लोगों को चटखारा लेने का आनन्द भी मिलता है। साहित्यिक प्रगति के लिए वैचारिक द्वन्द्व तो अनिवार्य ही हैं। द्वन्द्व की प्रकृति ही ऐसी है कि उसे वैयक्तिक आक्षेपों से मुक्त रखना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। ज्ञानियों की चेतना को भी जो महामाया बलपूर्वक द्वन्द्व-मोह में प्रवृत्त कर देती है, उससे निस्तार पाकर निर्द्वन्द्व हो जाना किसी बिरले भावयोगी के लिए ही सम्भव है, लेकिन तब तो वह सृष्टि की स्थिति से परे चला जाता है। सर्जना के लिए द्वन्द्व अनिवार्य है अतः साहित्यिक द्वन्द्व को कोसना बेकार है, हाँ उसके स्तर को ऊँचा उठाते रहने की चेष्टा अवश्य होती रहनी चाहिए।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्वेतवाद के अँधेरे में नीग्रो चेतना

जॉन एल० कूपर

अमेरिका सामाजिक समस्याओं से घिरा मुल्क है। इन समस्याओं में श्वेत और अश्वेत के बीच की समस्या अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। हालाँकि इस समस्या को राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि अनेक परिप्रेक्ष्यों के आधार पर देखा जा सकता है, किन्तु तथ्य यह है कि श्वेत और अश्वेत के बीच फर्क का प्रमाण दोनों वर्गों के भीतर वर्णभेद के अन्तर और भिन्नताएँ हैं। ऐसी बात नहीं कि कोई अपनी उस सामाजिक-आर्थिक पद्धति की उपेक्षा कर सकता है जो अंध-हठधर्मिता और पक्षपात तथा ऐसे ही अन्य तत्त्वों को दो वर्गों के बीच जारी कर परिपोषित तथा स्थिर करती है बल्कि ये व्यवस्थाएँ तो मनुष्य के मस्तिष्क की ही उपज हैं। इस कटुता को जो अपनी क्रियात्मकता में विरासत से प्राप्त है, यदि उसके मूल प्रारूप और उद्देश्य के आधारों पर देखा जाय तो यह हमें बहुत पीछे उन व्यक्तियों के विचारों की ओर ले जाती है जो अपनी इस निर्मिति में बेहद सक्रिय थे।

श्वेत और अश्वेत के बीच स्थित समस्या का एक समाजशास्त्री कैसे अध्ययन करे—वह इसे निश्चित ही आर्थिक, राजनैतिक और शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही देखेगा। परन्तु क्या ऐसा प्रयास समस्या के मूल और उसके मूलभूत कारणों को आलोकित कर सकता है ? सम्भवतः केवल ऐसी स्थिति में ही जब वह काफी चतुर द्रष्टा हो। पर मेरे विचार से इस समस्या का अध्ययन किसी दी गई संस्था के परिप्रेक्ष्य से नहीं किया जाना चाहिए, इसे मानवीय, आत्मिक और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए, जो इस सामाजिक यथार्थ में अस्तित्ववान है। और अगर कोई अश्वेत को, उसकी स्थापित व्यवस्था और खासतौर से श्वेत लोगों के खिलाफ नफरत और गुस्से के प्रदर्शित रूप को समझने का प्रयास करता है तो उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह पूरी समस्या को 'मानवीय दृष्टि' का आधार लेकर अध्ययन करे। ऐसा माना गया है कि समाज मनुष्य की निर्मिति रहे हैं तथा उनका विकास मनुष्य की परिकल्पनाओं के मुताबिक होता आया है, ठीक वैसे ही जाति, वंशगत वर्ण-घृणा, पक्षपात, अपमान आदि भी उसी परिकल्पना की परिणतियाँ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति जन्मने के बाद वंशगत तेजस्विता और अनिवार्यता के अनुरूप सामाजिक बनता है। सामाजिक होने की प्रक्रिया में यह वंशगत कारक बहिर्व्यक्त हो जाता है। इस तरह के अनेक व्यक्तियों से बाहर अभिव्यक्ति पाये अनेक कारक समूहीकृत हो जाते हैं। यही समूहीकरण एक सामाजिक सत्य या सामाजिक यथार्थ बन जाता है। हालाँकि एक व्यक्ति अपनी निजी सामाजिक चेतना के यथार्थ को ही समाज में व्यवहृत करता है। समाजों के इसी सामूहिक सक्रिय प्रदाय द्वारा ही सामाजिक यथार्थ का रूप व्यक्तियों के समूह को शक्तिशाली नियमित शक्ति और यहाँ तक कि बाहरी दुनिया को भीषण रूप से भयभीत करने की क्षमता से सम्पन्न कर उस समाज में विरोध की क्षमता पैदा करता है। एक व्यक्ति समाज में अपने जिस यथार्थ को हस्तान्तरित करता है वह समाज में प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित हो जाता है। इसीलिए एक व्यक्ति को वह प्रत्यक्ष उपस्थिति फिर से अपने विचार-जगत् से गुज़ारनी पड़ती है, लेकिन उस रूप में नहीं जिस रूप में एक व्यक्ति की हैसियत से उसने अपना निजी यथार्थ समाज में मिलाया था बल्कि उस 'सामूहिक चेतना' के रूप में उसे अन्तःस्थ करना होता है जैसे वह कोई सामाजिक क्रिया-व्यवहार हो। व्यक्तिगत यथार्थों का यह समूहीकृत रूप (चाहे व्यक्ति इसे नापसन्द ही क्यों न करता हो) व्यक्ति के निजी मौलिक यथार्थ से ज्यादा सच बन जाता है। पीटर एल० बर्गर ने कहा भी है कि हम तब तक किसी तथ्य को सामाजिक नहीं कहेंगे जब तक कि वह प्रत्यक्ष उपस्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न हो और जब तक वह व्यक्तियों को विवश न कर दे कि यह प्रत्यक्ष यथार्थ है।

निजी सत्यों का समूहीकरण ही सब लोगों के लिए सामाजिक यथार्थ बनता है। इसलिए भी कि मनुष्य अव्यवस्था में व्यवस्था खोजता है और एक प्रत्यक्ष समाज सामाजिक यथार्थ के रूप में मनुष्य को बसने के लिए व्यवस्थित दुनिया प्रदान करता है। परन्तु आज के समाजों की प्रक्रिया में, उनके कार्यकारी रूपों में व्यक्ति का समग्र यथार्थ सामूहिक सामाजिक सत्य को पुष्ट करने वाला होना अनिवार्य है।

जिन जटिल समाजों में आज हम रहते हैं उनमें एक व्यक्ति हमेशा अपने को सामाजिक व्यवस्था का आश्रित पाता है जो उसे बुनियादी सच्चाइयों से परिचित करा सके। किन्तु इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि वह यह खोजता है कि समाज उसे सार्थकता और उद्देश्य की चेतना भी दे। समाजों का यह जटिल रूप मानव-जीवन की समग्रता को छूता जरूर है। निजी और सामाजिक ज़रूरतों का जहाँ तक मामला है, समाज में कोई व्यक्तिगत और सार्वजनिक विभाजन नहीं है। उनमें एकता है। वह हर रास्ता, जिसे व्यक्ति परम्परागत ढंग से देखता है, जिसके द्वारा वह अपनी स्थिति का अन्दाज़ा लगाता है, सामाजिक सच्चाइयों के रूप में ढल जाता है। इसलिए जब समाज एक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत सच्चाइयों के ऊपर सामाजिक यथार्थ को स्वीकार करने के लिए विवश करता है तो व्यक्ति समाज को ऐसे प्रारूप के रूप में भी स्वीकार कर लेता है जिसमें वह अपने-आपसे साक्षात कर सकता है या अपनी निजी स्थिति से परिचित हो सकता है।

अमरीका में काला आदमी भी इसी तरह के सामाजिक यथार्थ से घिरा हुआ है जो उसे विवश करता है कि वह अपने को न पहचाने और स्वीकृत सामाजिक यथार्थ में अपने को किन्हीं कारणों से जान-बूझकर उपेक्षित और अदृश्य समझे। राल्फ़ एलिसन ने इस संदर्भ में कहा है—"मैं एक न दिखने वाला इन्सान हूँ। नहीं मैं उन प्रेतों की तरह नहीं हूँ जिनकी प्रेत-छायाएँ एडगर एलन पो के पीछे थीं और न मैं हालीवुड सिनेजगत का 'एक्टोप्लाज़्म' हूँ। मैं अस्तित्व के तमाम सार से युक्त, मांस-मज्जा-द्रव्य-चर्मयुक्त इन्सान हूँ और मेरे बारे में कहा जा सकता है कि मेरा मस्तिष्क भी है। मैं दृश्य हूँ, समझा जा सकने वाला हूँ, सिर्फ इस मायने में कि लोग मुझे देखकर अस्वीकार कर सकें। आपने सरकस में शरीरहीन सिर देखे होंगे, ठीक ऐसे ही मुझे लगता है जैसे मैं कठोर, खंडित शीशों के दर्पणों से घिरा हुआ हूँ। जब वे मेरे पास आते हैं तो वे केवल मेरा परिवेश, अपनी परिकल्पनाओं के टुकड़ों से निर्मित प्रभाव देखते हैं। सिवा मेरे वे सब-कुछ देखते हैं, हर चीज़।

ठीक है कि काले लोग मांस-मज्जा द्रव्ययुक्त, अस्तित्व-सारयुक्त प्राणी हैं, किन्तु सामाजिक यथार्थ में आत्म-बोध और अस्तित्व केवल आदमी की शारीरिक उपस्थिति और निजी सोचने की प्रक्रिया से निर्धारित नहीं होते। इसका निर्धारण उन लक्ष्यों, व्यवस्था के उन मूल्यों के द्वारा होता है जो एक खास सामाजिक-यथार्थ के संदर्भ के अपने ही ढंग के आदर्श से जुड़े हैं। अमेरिका में मनुष्य और मनुष्यता की कल्पना से मतलब श्वेत चमड़ी का आदमी है। हर काम के लिए, ज़रूरत के संदर्भ में वह श्वेत संसार है—ऐसा श्वेत संसार कि जो काले वर्ण के अस्तित्व से रहित है।

सामाजिक यथार्थ कौन-सी अपेक्षाएँ रखता है, इसके विपरीत वह मानव-जाति जो अमेरिका में रहती है, उस मानवीय बिम्ब के अनुसार अमेरिका में काले लोग हैं—वे काले लोग जो मनुष्य हैं, जो यथार्थ रूपाकृति धारण किए हुए हैं। अतः ये काले लोग उस समग्र बिम्ब से अलग कैसे किये जा सकते हैं, आखिर यह सामाजिक यथार्थ समाज की सारी व्यक्तिगत (निजी) सच्चाइयों की सामूहिक निर्मिति है। परन्तु यह जानने के लिए कि ऐसी अवधारणाएँ कैसे सम्भव होती हैं हमें अपने मस्तिष्क में ग्रहण करना होगा कि मानव-चेतना इन्द्रियेतर प्रक्रिया है।

काले आदमी में सामाजिक होने की क्षमताएँ ठोस रूप में विद्यमान हैं। श्वेत की तरह उसे भी सामाजिक विधान में अपना निजी सामाजिक दाम लगाना है। यह एक सहधर्मी प्रकृति है। और क्योंकि यह उसके स्वभाव का एक ऐसा अंग है जिस पर उसका अपना कोई नियन्त्रण नहीं, यह एक ऐसी चीज़ है जो उसे अवश्य करनी चाहिए। यह व्यक्ति के वंशगत अवचेतन के विकास का एक पक्ष है। जब समाज व्यक्ति के निजी यथार्थ को अपने में समाविष्ट कर लेता है, जो नितान्त निजी होता है, तब वह उसे सामूहिक यथार्थ अंश के रूप में विस्तृत कर लेता है। और उस एकीकृत रूप को व्यक्ति इकाई पर थोप देता है। काला आदमी भी अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निजी चेतना में सहज सामाजिक नहीं बन पाता बल्कि उल्टे वह इस अनुभव के लिए बाध्य हो जाता है कि वह एक विशेष निजी चेतना का अंग है। एक आदमी सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया का आत्म-विश्लेषण तथा आत्मबोध के लिए एक ज़रूरत समझता है, समाज उसे यह अहसास देता है कि उसका विकास होगा। वह मानसिक रूप से प्रौढ़त्व प्राप्त करेगा। वह इसके विपरीत समाज की इस भूमिका को अपनी शक्ति भर अस्वीकार करेगा क्योंकि उसे लगता है कि समाज एक सही विकास से उसे अवरुद्ध कर रहा है। जैसा हम कह चुके हैं समाज एक व्यक्ति को अपना यथार्थ स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है, काले आदमी के मामले में एक दूसरी बात उभरती है, उसे वह स्वीकार नामंजूर करना चाहिए, जिसे वह इसलिए स्वीकार करता है कि उसके सामने कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

गोरे आदमी की दुनिया में काले आदमी को अपने आत्म-बोध की रूपाकृति को बदलना होगा और वह बदलाव भी प्रतीकात्मक बदलाव होगा—काले और गोरे आदमियों की इन्हीं संज्ञाओं के भीतर विरासत में प्राप्त ऐसा प्रतीकधर्मी गुण है जो एक गुणधर्मी विरेचन उत्पन्न कर सकता है। मूल-रूप से काले और गोरे आदमी का विचार मात्र प्रतीकात्मक है। मानवता की इकाई के नाते सब मनुष्य समान गोत्र के हैं। गोरे और काले जैसी संज्ञाएँ मात्र वे सुविधाएँ हैं जिनसे मनुष्य निजी जागरूकता से उठकर अपनी व्यक्तिगत सच्चा-इयों को सामाजिक यथार्थ में प्रसारित करता है। वर्ण एक व्यक्तिगत पहचान है, रंगग्राही आँखें उस निजता को व्यक्ति तक सीमित कर देती हैं। वर्णान्धता तो चिकित्सा का विषय है। किन्तु इसी के साथ सवाल यह उठता है कि काले-गोरे वर्णों की पहचान अगर व्यक्तिगत है तो फिर काले और गोरे रंगों की आम स्वीकृति क्यों है। लोगों द्वारा यह मंजूर किया जाना कि यह गोरा है, यह काला है, मतलब ही यह रखता है कि काले और गोरे अमरीकी समाज की एक दृश्य सच्चाई है। उदाहरण के लिए अमरीकी झण्डे में लाल, सफेद और नीले तीन रंग हैं, लेकिन अमेरिका में किसी भी आदमी को क्षे मूल गोरे और कोले रंगों को उनके विशेष संदर्भों में, दूसरे क्षर्थों के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। मानसिकता और सामाजिकता दो ऐसे बिन्दु हैं जो एक व्यक्ति को अमरीकी सामाजिक पद्धति में भागीदार बनाते हैं।

एक समाज में चेतना के रूपाकार और सामाजिक व्यवस्था इस तरह से निर्मित होते हैं कि वह व्यक्ति को, मनुष्यता का प्रतिनिधित्व करने वाली उस आदर्श व्यवस्था में भागीदार बनने और स्वीकार करने के लिए अनुप्रेरित करती है। अमरीका में आदर्श समाज गौरांग वर्ग है। काला आदमी अपने-आपको प्रतीकात्मक ढंग से उस समाज से जोड़ सकता है, यथार्थ में वह 'गौरांग वर्ग' के मनुष्य की व्यवस्था है। तथ्य यह है कि गोरे आदमी के दावे का समर्थन करने वाला एक समाज है जबकि काले आदमी के अपने अस्तित्व के लिए सिर्फ व्यक्तिगत दावे हैं। मार्क्सवादी विश्लेषण के मुताबिक हम एक पूर्ण भौतिकवादी समाज को स्वीकृति दे सकते हैं, तमाम समाजों को बेशक नहीं, जो व्यक्ति से व्यक्ति-गत यथार्थ की जगह सामूहिक यथार्थ स्वीकार करने का आग्रह करता है। यह बात उस समाज में रहने वाले मनुष्य की मानवीय जागरूकता निर्धारित करती है। इस सिलसिले में काला आदमी अपनी मानवीय दृष्टि को अस्वीकार करने की जागरूकता स्वीकार कर रहा है, जबकि चेतकर उसे वह अस्वीकार करना चाहिए जो उसकी जागरूकता को अस्वीकार करता है क्योंकि उसके पास न तो कोई मनोचेतना है और न सामाजिक व्यवस्था की समाजीकृत कोई प्रक्रिया जो उसे स्वीकार करने की छूट दे। खासतौर से ऐसे समाज में जहाँ आत्मबोध के सभी रास्ते समाज में केन्द्रित माने जाते हैं और व्यक्तिगत तथा सामाजिक ज़रूरतों में विभेद नहीं होता, वहाँ गोरे समाज के बीच काला आदमी अदेखा रह जाता है क्योंकि उसके पास अपनी निजी अस्मिता की पहचान का मूल्यों और गन्तव्यों के पारिभाषिक वृत्त का कोई रास्ता उस व्यवस्था में नहीं होता, जबकि तथ्य है कि मनुष्य के रूपाकार में एक निजता हर समय विद्यमान होती है। और इसी तथ्य के मुताबिक काले आदमी को भी अपनी समग्र क्षमताओं का, अपने स्वभावानुसार प्रदर्शन करना चाहिए क्योंकि वे काले आदमी को दूसरी तरह से अपने को व्यक्त करने का मौका नहीं देंगे। नीग्रो की वर्ण-चेतना को उस समाज की बाहरी रूपरेखा से अलग अपने को पूर्ण रूप से बदलना है जिसमें वह खुद को जोड़ता है क्योंकि उस समाज ने उसके और गोरे आदमी के यथार्थ को समूहीकृत कर डाला है। काले आदमी द्वारा सामाजिक विधान से निषेध का तर्क उसके काले वर्ण पर निर्भर करता है, व्यक्ति के वंशानुक्रम प्रभावों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सक्रियता का मतलब है अपने काले वर्ण को अस्वीकार करना। चाहे यह एक व्यक्ति-विशेष (काले आदमी) की चेतना दुर्घटना की नहीं है, परन्तु ऐसा लगता है कि काला आदमी अपनी निजता के निर्माण में है और अपने आत्मबोध के प्रभाव को शक्तिशाली बना रहा है। परन्तु ऐसा मान लेना कि काला आदमी अपनी निजता को शक्तिशाली बना रहा है केवल कल्पित सुरक्षा है जिसे असफल होना ही है क्योंकि यह निजता सिर्फ बेमानी अपील है, जो आगे चलकर एक व्यक्ति के निजी अहंकार को क्षीण करने में सहायक होती है।

राल्फ ऐलिसन की घोषणा कि वह 'अदेखा' है, स्पष्ट करती है कि वह 'अदेखा' इसलिए है कि गोरे लोग उसे अस्वीकार करते हैं। परन्तु जब कोई व्यक्ति ज्यादा संवेदनशील होता है वह अपने को जानने में सक्षम होता है, उस युगचेतना से युक्त होकर जो उसकी पहचान की चेतना है। हमारे वर्तमान समाज में ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यही है कि एक व्यक्ति निर्वैयक्तिक होकर समाज को देखे और अपनी निजता का कोई परिणाम खोजे जो एक 'खुशफहम यन्त्रमानव' बनाने से बचाए। चाहे निजता का लघुतम परिणाम ही क्यों न हो, चाहे वह निजी स्वप्नों में क्यों न आता हो, ज़रूरी है। आखिर स्वप्न भी सर्जन की भूमिका निभाते हैं। मैं तो यहाँ यह सवाल करूँगा कि क्या काले आदमी को स्वप्न लेने की सीमित फुरसत और आज़ादी के बारे में पता भी है? 'निजता' के बोध के अभाव में कोई आदमी सिर्फ बेमतलब सपने देख सकता है। जहाँ तक मेरा अपना अनुभव है, मैं कहना चाहूँगा कि ज्यादातर काले लोगों के सपने बेमतलब हैं। ज्यादा-से-ज्यादा उनके सपने 'श्वेत होने' के हैं अर्थात् वे उनके अपने 'आत्मबोध' के सपने नहीं हैं बल्कि उस 'प्रतीक' के सपने हैं जिसका लक्षण और जिसके मूल्य 'श्वेतवाद' का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जब कोई सर्जनशीलता के संदर्भों से जोड़कर बात करता है तो वह निश्चित रूप से सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में अपना तर्क देता है। सौन्दर्य-चिन्तन सदैव सर्जनशील व्यक्ति के लिए एक अनुप्रेरण के रूप में काम करता है। अपने ही अर्थों में यह एक पुरस्कर्ता अनुप्रेरक है। सौंदर्यशास्त्र क्योंकि मूलतः व्यक्तिवादी है, वह हर आदमी (मानव) को यथार्थ को ग्रहण करने की निश्चित धारकता देता है। यथार्थ की यह धारणा सौंदर्यशास्त्रीय धारकता है। और यही धारकता आदमी को सृष्टि की समग्रता की चेतना की निजता देती है, जो छोटे अनुभव-क्षेत्रों से सामाजिक परिवेश के अनुभवों तक संचरित होती है। देखना यह है कि सामाजिक यथार्थ के सन्दर्भ में इस सौन्दर्यशास्त्रपरक धारणा का काले आदमी के लिए क्या अर्थ है? इसका मतलब है कि काले आदमी की सामाजिक परिवेश द्वारा निर्धारित ऐन्द्रिय चेतना संभवतः एक खंडित पूर्णता है। यानी जो वह सुनता है वह असली आवाज़ की आवाज़ नहीं है, जो वह देखता है वह बिम्ब का असली बिम्ब नहीं है। इस तरह उसकी बिम्ब-ग्रहण-क्षमता तब ज्यादा विरूप और खंडित मालूम पड़ती है जब गोरी दुनिया के प्रतीकों से और सामाजिक सच्चाई के मूल्यों का उसे सामना करना पड़ता है।

अनुभव या धारणा की यह विरूपता ही काले आदमी को उस विद्यमान सामाजिक यथार्थ से परे कर देती है। ज्यादा दुःखदायी स्थिति यह है कि काला आदमी सामाजिक यथार्थ के 'वस्तुरूप' को आसानी से स्वीकार कर लेता है। यह विचार कि काले आदमी का जीवन गोरे आदमी की जातिवादी सक्रियता से मुश्किल बन गया है 'श्वेताश्वेत' की समस्या का सत्व या सार या केन्द्र नहीं है। सिर्फ इतना ही कि अश्वेत का अस्तित्व एक सामाजिक यथार्थ है, इतनी घातक सच्चाई है कि उसके मुकाबले में जातिवादी आक्रामकता उतनी घातक नहीं है।

सामाजिक सच्चाई को अस्वीकार कर अपने लिए एक किस्म की आत्म-पराजय की दुनिया बनाना अपनी खातिर राक्षसी दुनिया बनाना है। काले आदमी के व्यक्तित्व में संक्रमणकालीन द्वन्द्व की स्थिति बनाये रखने वाली शक्तियाँ इस दुनिया का उपयोग करती हैं। काले आदमी का व्यवहार उसे 'न्यूरोटिक' के नज़दीक ले आता है क्योंकि काला आदमी अपनी 'निजता' की खोज में निरन्तर भाग रहा है, वह अपनी उपस्थिति का ही भक्षण कर रहा है। जब भी काला आदमी विरोध प्रकट करता है वह अकेला पड़ जाता है। 'अकेलापन' उसकी नियति बन जाती है। काले आदमी को हीन बनाने वाली इस प्रक्रिया में अपनी असुरक्षा से सुरक्षा की ओर का आग्रह तथा बलात् आत्म-ग्लानि से नैराश्य की ओर जाना जैसी स्थितियाँ हैं।

काले आदमी की हीन भावना सामान्य भावना नहीं है। गोरी दुनिया में अपने अस्तित्व की रक्षा से लेकर आत्म-पराजय की भावना तक में काले आदमी को अपनी शारीरिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगति तक के लिए कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। शरीर की प्रगति की चेतना एक निषेधात्मक क्रिया है। वह अन्य पुरुष जैसी चेतना है। चाहे काला शरीर निश्चित वातावरण की अनिश्चितताओं से घिरा हुआ है। उसमें यह बोध कि वह भी श्वेत दुनिया का हिस्सा है, जागता नहीं है। वह गोरे आदमी पर बोझ नहीं बनना चाहता और वह यह सोचता है कि यह गोरे आदमी की दुनिया है —वह क्यों इसके बीच में आये। अगर मूल्य के रूप में स्थित श्वेतवाद विलुप्त हो जाय तो काले आदमी की वर्ण-चेतना का आग्रह भी खत्म हो जायेगा, ये दोनों विरोधी होने की वजह से ही कहीं अन्दर जुड़े हुए हैं। काले आदमी का कालापन केवल इसलिए स्पष्ट है क्योंकि वह गोरी दुनिया में रहता है। पर यह भी सच है कि श्वेतवाद का महत्त्व उसके चारों तरफ घिरे कालेपन से है।

काला आदमी इस गोरे, भौतिक संसार के ठीक बीच में स्थित है। बीच में स्थित ज़रूर है लेकिन एक भटकते हुए पिण्ड की तरह वह अपनी ही चेतना के भटकाव में भटकता हुआ पिण्ड है। अपना एक भयानक बिम्ब बनाता हुआ, वह नीग्रो रूपाकृति को धीरे-धीरे बन्द करता हुआ इसी प्रक्रिया में अपना आत्मबोध क्षीण करता जा रहा है। अन्तिम रूप से यही कहा जा सकता है कि इन प्रक्रियाओं द्वारा वह एक ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति पैदा कर रहा है जो काले रूपाकार और बाहरी दुनिया की सरहदें साफ-साफ कर देती है।

यौन और यौनाचार एक ऐसा माध्यम है जिसमें आदमी अपने-आपको पहचानता है। दो व्यक्तियों के बीच सबसे ज्यादा आत्मीयता यौन-समागम के अवसर पर होती है। अपनी निजी-से-निजी पद्धति में यौन अगर कोई रूपाकृति ग्रहण करता है तो वह कलात्मक ही नहीं सृजनात्मक भी हो सकती है। दूसरे शब्दों में यौन-समागम के परिणामस्वरूप जो सौन्दर्यवृत्ति जागती है वह किसी भी व्यक्ति की निजी कलात्मक उपलब्धि कही जा सकती है। माना जाता है कि हर सृजनात्मक क्रिया किसी-न-किसी तरह की आत्म-स्वीकृति और आत्मबोध की प्रक्रिया के साथ जुड़ी होती है। काले आदमी के सिलसिले में सौंदर्यवृत्ति और यौन-सम्बन्धों की निजता से उपलब्ध सृजन-दृष्टि बहुत ही मजेदार तथ्य प्रस्तुत करती है। काले वर्ण की वजह से काला आदमी आत्म-पराजय की भावना से पीड़ित है परन्तु इतने पर भी यौनाचार द्वारा उसके 'आत्मबोध' की आवश्यकता है। अपने को पहचानना एक जरूरी क्रिया ही नहीं है, आदमी के अस्तित्व के लिए भी वह जरूरी है। यौन-सम्बन्धों के बारे में भी काले आदमी की विचारणा इस बात यानी अपनी पहचान से जुड़ी हुई है। दूसरे आदमी के साथ सम्भोग का मतलब 'श्वेतवाद' को भोगना है। श्वेतवाद का बिम्ब ही सामाजिक यथार्थ में प्रतिनिधित्व पाने वाली मानवता है। और इस विचारणा का साफ-साफ मतलब है एक काले आदमी को 'गोरी' औरत की चाह। चाहे औरतें गोरी हों या काली परन्तु अपनी चाह की परितृप्ति के लिए इस यौनावेग का लक्ष्य 'गोरी' औरत है। आप इसे बेशक एक परिकल्पना कह सकते हैं किन्तु एक काले आदमी द्वारा 'गोरी' औरत के साथ यौन-सम्बन्धों की चाह सचमुच में, अपने ही तरीके से, गोरी दुनिया से जुड़ना और गोरा बनना है। मनुष्य की चेतना के गठन में यौन-सन्तति-सृजन के अतिरिक्त एक ऐसा मूल्य है जिसके द्वारा वह सौंदर्यात्मक वृत्ति की प्रतिक्रिया का बोध पाता है। क्योंकि काला आदमी यह सोचता है कि मनुष्यों की दुनिया में उसकी 'ऐसी स्थिति' गोरे आदमी द्वारा निर्मित है अर्थात् जैसा वह है वैसा 'गठन' गोरी व्यवस्था द्वारा बनाया गया है, इसलिए काला आदमी गोरी औरत के गर्भाशय में प्रवेश करने की आकांक्षा लिए हुए है, जिससे वह एक नया समीकरण प्रस्तुत कर सके, श्वेतवाद के साथ मिला-जुला एक वर्ण-समीकरण।

हमारा अमरीकी समाज पूंजीवादी समाज है। यह एक ऐसा समाज है जिसका उद्देश्य मुनाफा कमाना है—वह मुनाफा जो नागरिकों द्वारा खरीदी चीज़ों से मिलता है। उस मुनाफे के लिए वह विज्ञापन द्वारा व्यक्तियों को खरीदार बनाता है। यह क्रिया एक समाज की सामाजिक अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है। इतने ज्यादा उत्पादकों का ग्राहकों को खींचने का यह क्रम, डालर कमाने की कोशिश है जिसमें 'यौन' एक महत्त्वपूर्ण भूमिका 'आकर्षक विज्ञापक' बनने के रूप में अदा करता है। चाहे उत्पादक कुछ भी हो, पुरुष खरीदार को आकर्षित करने के लिए सदैव कोई सुन्दरी 'गोरी औरत' उस विज्ञापन में होगी। फिल्मों, पत्रिकाओं में, हर जगह, गोरी औरत का बिम्ब यौन-सौंदर्य का बिम्ब है। काले आदमी की चेतना में हर दिशा से आया यह बिम्ब अपनी जगह बनाता है। वह इस सौंदर्य-बिम्ब की उपेक्षा नहीं कर सकता, तब तक जब तक वह किसी किस्म के उन्मादी रोग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रस्त न हो। हालाँकि शताब्दियों तक गोरी औरत द्वारा घेरी सुन्दरता की ज़मीन के बीच अब काली औरत ने भी जगह बनानी शुरू की है, किन्तु इसमें आश्चर्य नहीं कि काले आदमी के लिए अब भी सब तरह की परितृप्ति, यौन के सौंदर्यपक्ष के सभी कोणों के लिए गोरी औरत ही वह साधन है जिससे वह पूर्ण परितृप्ति प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें भी आश्चर्य करने की कोई बात नहीं कि काला आदमी नये वर्ण-समीकरण के लिए 'गोरी औरत' के साथ सम्भोग की आकांक्षा लिए हुए है। साधारण-सी बात यह है कि जिसे जानना ज़रूरी है कि गोरी औरत सिर्फ गोरे बच्चे को गर्भ में धारण करने वाली औरत नहीं है, बल्कि तर्क-सिद्ध बात यह है कि काला आदमी उस गर्भाशय में प्रवेश कर पुनर्जन्म की चाहना लिए हुए है।

परन्तु सच्चाई यह है कि जो काला आदमी गोरी औरत का सहवास पा भी लेता है, वह ज्यादा स्पष्टता से अपने 'कालेपन' की सच्चाई खोल देता है। हो सकता है यह बात केवल सामान्यीकरण हो। कुछ ऐसे काले लोग भी होंगे जो गोरी औरत के सहवास से पुनर्जन्म की इच्छा पर विजय पा लेते हैं, पर मैं कहना चाहूँगा कि ऐसे लोग बहुत कम हैं। धीरे-धीरे हर वर्ण के बीच से ऐसे लोग कम हो जाएँगे क्योंकि उनका व्यक्तित्व परिवेशगत सामाजिक यथार्थ से हमेशा अलग इकाई के रूप में स्थित होता है।

अधिकांश काले लोगों के लिए गोरी औरत का सहवास और पुनर्जन्म की वह धारणा (जैसा कि प्रतीकात्मक ढंग से मानी जाती है) नामुमकिन है, काले आदमी की यह कुंठा गुस्से में बदल जाती है और इस आत्मपीड़ा का गुस्सा आदमी की अन्तरंग अपहचान का परिणाम बनकर दूसरी दिशाओं में रूप पाता है। वह अपने 'कालेपन' को सब बातों के लिए बाधक ही नहीं दोषी भी पाता है और उस बाधा के सही अपराधी को नहीं पकड़ पाता। वह अपने ही द्वारा निर्मित उन राक्षसों से घिर जाता है जिनसे वह मुक्ति पाना चाहता है। काले आदमी की नियति चिन्ताग्रस्त, असंतुलन-भ्रष्ट चेतना की उपलब्धि है, जिसके लिए वह अभिशप्त है।

आत्मपराजय का भूत दूसरी भूत छायाओं को जन्म देता है। वह पूरी नीग्रो-चेतना पर असर डालता है। 'श्वेत-वाद के साथ सम्भोगरत' कामना में अगर सिर्फ यौनावेग हो तो काले आदमी के लिए अपने उस 'गुस्से' यानी यौन-तृप्ति की क्रिया काली औरत की तरफ मोड़ने में ज्यादा आसानी है। किन्तु वह उस प्रतीकात्मक पुनर्जन्म, अपनी आत्म-पराजय से मुक्ति पाने और अपने कालेपन को यथार्थ की स्वीकृति दिलाने में सहायक नहीं हो सकता।

अमरीकी समाजशास्त्री ग्रिअर और काब्स ने 'ब्लैक रेज' नामक अपनी पुस्तक में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि काले आदमी के गुस्से को शान्त करने का काम काले वर्ण की माँ करती है। माँ का प्रयत्न अपने बच्चे की रक्षा होता है, वह उसे जीवित रहने की शिक्षा देती है, वह गोरी दुनिया की खुशामद और दासता सिखाती है। वह माँ काले आदमी को मनुष्यता के मुताबिक आदमी बने रहने से कम बनकर रहना सिखाती है। इसका लक्ष्य सिर्फ अपने बच्चे को जिन्दा रखना होता है। इस बात में किसी तरह का अपमान नहीं है क्योंकि अमेरिका का इतिहास इस बात का गवाह है कि काली दुनिया में (अमरीका के काले लोगों में) माँ के डर का तर्क पूरी तरह प्रविष्ट है।

काले आदमी द्वारा माँ की उपेक्षा अभी अवचेतन में जमी है। वह सोचता है कि माँ भी कहीं-न-कहीं श्वेतवाद को जमाने वाली शक्ति है, वह ऐसी शक्ति है जो उसके कालेपन को उस पर थोपती है। क्योंकि माँ की इस भूमिका से वह धीरे-धीरे परिचित होता है, वह धीरे-धीरे काली औरत को माँ की विशेषताओं से जोड़ देता है। यही कारण है कि आत्म-घृणा को काला आदमी काली औरत के प्रति अपने व्यवहारों में हस्तान्तरित कर देता है।

हमारे समाज में एक किस्म की आत्मीयता का अभाव है। गोरे और काले बच्चों में, इस आत्मीयता से वंचित होने के कारण वह सामाजिक भावना नहीं जागती। वह अपनी ही व्यक्तिगत पर-निर्भरता का शिकार होता है। इन्हीं कारणों से अमरीकी आदमी आत्मीयता और आवेग के मामलों में कच्चा है। वह अपने हितों के विपरीत भी क्रियाशील हो सकता है। काले बच्चों को ज़रूरत अपने 'व्यक्ति' के विकास की है। जब उन्हें विकास के मौके अपने पारिवारिक परिवेश के प्यार और विश्वास से नहीं मिलते तो वे एक तरह से पंगु हो जाते हैं। वे 'आत्मबोध' का सामान्य रूप भी नहीं जानते।···अगर काले बच्चे को परिवेश की अनुकूलता और अपने संरक्षकों का उचित प्यार और मार्ग-निर्देशन मिले तो वे अपनी 'निजता' से परिचित हो सकते हैं। उस वक्त से भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले जब वे अपने और पराये का बोध कर सकें। परन्तु पहले तो बच्चे के संरक्षक ही अपने 'आत्म-बोध' से परिचित नहीं होते, वे अपनी 'निजता' को व्यक्तिगत ढंग से जानने की कोशिशों में लगे होते हैं। बच्चा भी धीरे-धीरे अपने पितृ-स्वभाव का अनुकरण करने लगता है। सामाजिक सच्चाई को जाने बिना संरक्षकों की संकेतात्मक स्वीकृति मिल जाने पर बच्चा भी उसी 'वर्ण-भेद' की क्रूरता से परिचित हो जाता है और अपने बचाव और अस्तित्व के लिए उन्हीं पुराने नुस्खों का अनुकरण आरम्भ कर देता है। बच्चा समाज में अपनी उपस्थिति इन्हीं व्यतीत लक्षणों के रूप में देने के लिए बाध्य हो जाता है। उसके लिए अपनी 'वर्ण-क्षमताओं' को सीमित मान लेना ही तटस्थ यथार्थ को 'निजता' की चेतना में रूपान्तरित करना बन जाता है। अगर आप काले आदमी से उसकी 'वर्ण-चेतना' का पक्ष निकाल दें तो आप उससे वह तरीका छीन लेते हैं जिससे समाज उसे खुद को स्पष्ट करने की अनुमति देता है।

अमरीका में काला आदमी भयातंक में जीने वाला प्राणी है। वह मनोविभ्रम की अन्तहीन स्थिति में रहता है। मोटे तौर से कहा जा सकता है कि वह उस हर चीज़ से डरता है जो उससे बाहर है तथा उस हर चीज़ से नफरत करता है जो उसके अन्दर है, जो कालेपन की प्रतीकधर्मी है। निरन्तर भयातंक के बीच रहने से उसकी चेतना भयातंक की चेतना है। बाहरी दुनिया उसके लिए तप है। काले आदमी के जाने के लिए कोई जगह बाकी नहीं, इस पर भी उसका ऐसे सामाजिक यथार्थ के सामने जीना पीड़ादायक है। उसे ऐसे जीना होगा, क्योंकि आदमी को एक समाज से जुड़ा होना होता है, उसका हिस्सा बनकर सामाजिक बनना होता है। इतिहास इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि उसे अपने सामाजिक अस्तित्व के सह-अस्तित्व को स्वीकृति देनी होती है। एक बलशाली आदमी के तरीके से उसे अपनी सामाजिक प्रक्रियाओं से उस तटस्थता का प्रदर्शन करना होता है जो आत्म-पराजित व्यक्तित्व बनाती है। उसे गोरे आदमी के बिम्ब से परे उसी सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक चेतना के ढाँचों में अपने को व्यक्त करना होता है। कहना न होगा कि समस्या यही है कि काले आदमी को ऐसी सामाजिक व्यवस्था में अपनी 'निजी चेतना' को दूसरी दिशाओं की तरफ मोड़ना होगा।

काले आदमी की चेतना, एक सच्चे मार्क्सवादी लहजे में—सामाजिक यथार्थ द्वारा निर्धारित है। यह समाज-व्यवस्था, अभी अपनी निर्मिति में है, वर्ण-भेद पैदा करती है तथा गोरे आदमी की कल्पना से एक दीवार खड़ी करती है तथा काले आदमी पर वर्ण-चेतना थोपती है, क्योंकि वह शारीरिक रूप से आदमी की द्वन्द्वात्मक स्थिति का रूप है। कालापन व्यक्तियों पर थोप दिया जाता है। ये वे काले लोग हैं, जो गुलाम थे। ये वे लोग हैं जिनके कोई दावे नहीं हैं, साधारण लोग हैं। आज काले राष्ट्रवाद का जन्म 'नीग्रो-चेतना' के रूप में फैल रहा है जो गोरे आदमी के समाज का विरोधी है। इसीलिए यह नारा फैल रहा है कि 'काला-खूबसूरत' है। और उसे अपने वर्ग की अर्थनीति पर नियन्त्रण करना चाहिए। एक भौतिकवादी समाज में, मार्क्स के मुताबिक नागरिक रहते हैं व उनकी चेतना उस व्यवस्था के भौतिक उत्पादन द्वारा निर्धारित होती है—लोग अपने-आपको पहचानने की प्रक्रिया में जाग रहे हैं, उनकी मानवीय चेतना उत्पादन के साथ अपनी पहचान भी कर रही है। अमेरिका एक 'उपभोक्ता' देश भी है, जीवन इस व्यवस्था के 'पदार्थ' की स्थिति में शुरू और खत्म होता है। काले लोगों की ज़िन्दगी भी शुरू होती है और खत्म हो जाती है। काले लोगों की चेतना के अनेक पहलू हैं। इस निबन्ध में हमारा लक्ष्य 'चेतना' के उन पहलुओं को छूना रहा है जिनके मनमाने अर्थ लिए गए हैं। तर्कहीनता और विवेकहीनता द्वारा कभी भी तथ्यात्मक सच्चाई का दर्शन नहीं किया जा सकता। काले आदमी देश के मूल प्रवाह से जुड़े हुए हैं किन्तु जितने हैं वे किसी भी तरह पूरे नहीं हैं। मनुष्यता की दुर्दशा के कारण अमेरिका धीरे-धीरे डूब रहा है, आज़ादी और सच्चाई से दूर डूब रहा है, उसका यह डूबना ही काले आदमी की समस्या को जटिल बना रहा है। चाहे काला और गोरा मनुष्य की अपनी परिकल्पनाएँ हैं, यह सच है कि कालेपन से जिस तरह (काले आदमी की चेतना ने) काले आदमी को दास बनाया है, श्वेत भी गोरे आदमी को दास बनायेगा। ये दोनों न केवल समस्याओं बल्कि परिणामों के घेरे में बंधे वर्ग हैं, दोनों में से बिना किसी एक के आज़ाद हुए दूसरा आज़ाद नहीं हो सकता।

अनुवादक : गंगाप्रसाद विमल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोलिश कवि ज़्विग्निएव की पाँच कविताएँ

अनुवाद : गिरिधर राठी

□ दो बूँद

जब जंगल जल रहे हों तब गुलाबों पर रोने की फ़ुरसत कहां—स्लोवात्स्की

जंगलों में आग लगी थी
लेकिन उन्होंने
गुलदस्तों की तरह
अपनी गर्दनें हाथों से लपेट लीं

लोग दौड़ पड़े खंदकों की ओर—
उसने कहा उसकी बीवी के बाल ऐसे हैं
जिनकी गहराइयों में छुपा जा सकता है

एक कम्बल में ढँके हुए
उन्होंने फुसफुसाये बेहया शब्द
प्यार करने वालों का भजन

जब स्थिति बहुत बिगड़ गयी
वे एक-दूसरे की आँखों में कूद गये
और उन्हें ज़ोर से भींच लिया

इतने ज़ोर से कि जब लपटें बरौनियाँ छूने लगीं
तब भी उन्हें अहसास नहीं हुआ

अंत तक वे बहादुर रहे
अंत तक वे वफ़ादार रहे
अंत तक वे एक-जैसे रहे
चेहरे के कगार पर अटकीं
दो बूँदों की तरह

□ चीज़ें

बेजान चीज़े हमेशा ही सही होती हैं और, दुर्भाग्य से, उन पर कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता। मैंने कभी भी किसी कुर्सी को पैर बदलते या बिस्तर को पिछली टाँगों पर खड़े होते नहीं देखा। और मेज़ें, जब वे थक जाती हैं तब भी, अपने घुटने मोड़ने की हिमाकत नहीं कर सकतीं। मुझे शक है कि चीज़ें उपदेश देने की नीयत से, हमें अपनी चंचलता पर निरंतर झिड़कने के लिए ऐसा करती हैं।

□ काठ का पाँसा

काठ के पाँसे का वर्णन सिर्फ़ बाहर से हो सकता है। इसीलिए हम अभिशप्त हैं इसके सार से हमेशा-हमेशा अनभिज्ञ रहने के लिए। यदि तेज़ी से दो टुकड़ों में इसे काट दें, तब भी तुरंत ही इसका अंतस् एक दीवार बन जाता है और बिजली की तेज़ी से एक रहस्य चमड़ी में रूपांतरित हो जाता है।

इस कारण पत्थर की गेंद, लोहे की छड़, काठ के घन के मनोविज्ञान की नींव रखना, असंभव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

□ मुर्ग़ी

मुर्ग़ी इसका सबसे अच्छा दृष्टांत है कि लगातार आदमियों के साथ रहने का फल क्या होता है। वह पक्षियों का फुर्तीलापन और लोच बिलकुल खो चुकी है। उसकी पूँछ उसके उभरे हुए चूतड़ पर ऐसे तनी होती है जैसे फूहड़ रुचि वाला कोई बड़ा-सा टोप। हर्षातिरेक के उसके विरल क्षण, जब वह एक टाँग पर खड़ी हो जाती है और अपनी झिल्लीदार पलकों वाली आँखें मटकाती है, निहायत ही उबकाऊ होते हैं। और तिस पर, एक अकथ्य रूप से हास्यास्पाद चीज़—सफ़ेद, धब्बेदार अंडे—पर, गाने की वह पैरोडी, वे गला-फाड़ प्रार्थना-गीत !

मुर्ग़ी कुछेक कवियों की याद दिलाती है।

□ सम्राट्

बहुत पहले की बात है। एक सम्राट् था। उसकी आँखें पीली-पीली और जबड़ा खूँखार था। वह मुसाहिबों और सिपाहियों से भरे एक महल में रहता था। अकेला। रात को वह उठ-बैठता और चीखने लगता। कोई भी उसे प्यार नहीं करता था। उसे सबसे ज्यादा पसन्द था शिकार और आतंक। लेकिन वह बच्चों और फूलों के साथ तसवीरें खिंचाता था। जब वह मरा, तो किसी को भी हिम्मत नहीं हुई कि उसके चित्र हटा दे। देखिये, शायद अभी भी आपके घर उसका मुखौटा पड़ा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

ख़त्म नहीं होती हरी दूब

विष्णु खरे

यह हिन्दी कविता का दुर्भाग्य ही रहा है कि इसमें लगातार ढर्रे से अलग लिखते आ रहे कवियों की ऊपरी प्रवृत्तियों को ही ग्रहण कर उन्हें एक सुविधाजनक लेबल लगाकर अलग कर दिया जाता रहा। पिछले कुछ वर्षों में यह साज़िश शमशेरबहादुर सिंह के साथ 'कवियों का कवि' विशेषण जोड़कर की गई, और इसके बाद 'हल्के-फुल्केपन' का लेबल लगाकर भवानीप्रसाद मिश्र की कविता से छुट्टी पाने की कोशिश हुई। इधर एक ऐसा ही सुनियोजित कार्यक्रम मुक्तिबोध को भी साहित्यिक लिम्बो में भेज देने का बनाया जा रहा प्रतीत होता है।

भवानीप्रसाद मिश्र (न केवल अपनी कविता में बल्कि) आयु में भी एक प्रौढ़ कवि हैं और उन्होंने हिन्दी कविता के कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। किन्तु प्रारम्भ से ही उनकी अपनी शैली रही है जिसने बहुत धीरे-धीरे हिन्दी कविता को कहीं-न-कहीं प्रभावित अवश्य किया है। वे सरल शब्दों तथा सरल शिल्प के कवि रहे हैं—यह भी कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में शिल्प ढूंढ़ना उतना ही कठिन है जितना बोलचाल की भाषा में—यद्यपि उनमें बोलचाल की भाषा में कोई दोष मौजूद नहीं है। 'अँधेरी कविताएँ'[1] के पूर्वगामी दो संग्रहों में भवानीप्रसाद मिश्र की वही तस्वीर नज़र आती थी जो उनके आलोचकों ने उन्हें बख्शी थी और जिसके आदी उनके पाठक हो चुके थे—एक भले आदमी की जो मध्यम मार्ग पर चलता है, जो पाठकों की समझ पर कतई दबाव नहीं डालता, जो रोजमर्रा की कविताएँ लिखता है, जिसके पास कोई फैशनेबल दर्शन नहीं है और जिसकी पंक्तियां काव्य-प्रवृत्ति, आन्दोलन, स्कूल, सत्य अथवा सिद्धांत को उजागर करने के लिए उद्धृत नहीं की जा सकतीं। सहयोगी कवि खुश थे, एक ऐसा भी कवि है जो उनका प्रतियोगी नहीं है, आलोचक उनकी कविताओं को देखकर राहत की साँस लेते थे, और पाठक जिसे 'जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ' ठीक-ठीक समझ में आता था, कम-से-कम एक कवि को समझ पाने के गर्व से पुलकित होता था।

१९६८ में उनका दूसरा संग्रह 'चकित है दुःख' प्रकाशित हुआ था जिसने यदि उनकी 'भवानी भाई' वाली इमेज को कमोबेश गहरा ही बनाया था। किन्तु यदि 'हाइ-डसाइट' या सहारा लेने दिया जाय, उस संग्रह की कुछ कविताओं में निस्संदेह कुछ ऐसा था जो उनकी कविताओं में आमतौर पर नहीं पाया जाता था—'कई बार / लगता है / बहुत लम्बी खिंच रही है / जीवन की शाम···चाहता हूँ इसलिए / कि अब न जिए / कुछ भी मेरा / न शरीर / न शरीर से किए हुए काम / मेरा तमाम / डूब जाए अपार लहराते हुए किसी सागर में' (लगता है···चाहता हूँ) 'अभी मैं लगभग एक विदूषक हूँ / किन्तु यह नाटक चुके / तो कौन जाने मेरा मन / हँसने-हँसाने पर न रुके' (इसके बाद) 'पहाड़ के ढलान पर / किसी ने मुझे धक्का दे दिया / और मेरी ज़िन्दगी ही बदल गई / मेरी टाँग टूट गई / और अब मैं लँगड़ाकर चलने लगा हूँ / अभिव्यक्ति अब / थोड़ी कोशिश से हुआ करेगी' (अभिव्यक्ति) 'मन में / अँधेरे का / एक धब्बा था / जो / फैलता चला गया / और सब अँधेरा है' (अंधेरे का एक धब्बा) 'जैसे आज / जब शाम को / नक्कारे पर चोट पड़ी / तो न जाने कितनी गहराई में पड़ा हुआ दर्द / जैसे तड़पकर / उठ खड़ा हुआ' (जैसे आज) 'मज़ा आएगा / जब कमज़ोर और अकेला एक आदमी / गायेगा गीत / निराशा का गली-गली में / गूँथकर अँधेरे की कली-कली में / बुझती हुई चिनगारी की किरनें! / और भी मज़ा आएगा / जब ताकतवर लोग बगलें झांकेंगे / जब एक अँधेरा खाएगा /

१. 'अँधेरी कविताएँ', भवानीप्रसाद मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, मूल्य ५ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे सवेरा झांकेंगे' (समाधि से लौटकर)।

निस्संदेह 'अँधेरी कविताएँ' पढ़ते हुए भवानीप्रसाद मिश्र की वह तस्वीर, जिसके हम अभ्यस्त थे, धुँधली पड़ती है और एक दूसरी ही शख्सियत धीरे-धीरे उसकी जगह लेती है। 'अँधेरी कविताएँ' का कवि जनगणमनरंजन करने वाला विदूषक नहीं है– या कहा जा सकता है कि विदूषक अवश्य है किन्तु चेहरे का बहुरंगा ग्रीन-पेन्ट अब धुल गया है, घंटियों वाली तुर्रेदार टोपी कहीं गिर चुकी है और कानों तक फटी मुस्कराहट के पुछ जाने के बाद बरसों से हँसते-हँसाते चेहरे पर खिंची रेखाएँ अब गहरी दिखाई पड़ रही हैं। भवानीप्रसाद मिश्र जानते हैं कि एक अरसे तक एक प्रत्याशित भूमिका निभाने के बाद उसे बदलना एक जान-बूझकर मोल लिया जा रहा जोखिम है, किन्तु वे यह भी बखूबी जानते हैं कि यदि इस समय न बदला गया तो शायद देर हो चुकी होगी—'शब्दों में कहना है / और कहना है अभी / शुरू किए देता हूँ / तमाम जोखिमें ली हैं / एक और जोखिम लेता हूँ।'

प्रश्न उठ सकता है कि कौनसी जोखिम ? आखिर किस तरह की कविताएँ हैं ये जिन्हें लिखना कवि एक जोखिम समझ रहा है ? एक कवि जब उस मुहावरे से हटकर लिखना प्रारंभ करता है जिसके अभ्यस्त उसके पाठक तथा आलोचक हो चुके हैं तो वह उन्हें उलझन में डालता है क्योंकि अब तक जो सुविधा उन्हें उपलब्ध थी वह उनसे छिनी जा रही प्रतीत होती है और वे यह देखकर नाराज़ होते हैं कि कवि 'बिहेव' नहीं कर रहा है। अपने सुरक्षित श्रोतावर्ग को अपनी कविता में हुए किसी मूलभूत परिवर्तन के लिए तत्पर करना एक फ़िफ्टी-फ़िफ्टी जोखिम है। खैर, यदि कवि ओजस्वी है तो वह अपने श्रोतावर्ग से गुस्ताखियाँ कर सकता है और उनकी रुचियों को परिष्कृत-परिवर्तित भी कर सकता है। किन्तु समसामयिक हिन्दी कविता में भवानीप्रसाद मिश्र की पिछली और प्रस्तुत कविताएँ एक और जोखिम उठाती हैं। पिछले कुछ वर्षों के एक साथ समाज, राजनीति तथा नकार का लक्ष्य बनी हुई हिन्दी कविता भवानीप्रसाद मिश्र सरीखे कवियों से दूर ही रही है। शब्दस्फीति, अभिव्यक्ति का आत्महंता अराजकतावाद, नारेबाज़ी, विद्रोहबाज़ी तथा आन्दोलनबाज़ी के इस स्वर्णिम युग में, जहाँ अपने साप्ताहिक में अपने तथा अपनों के प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथों को वर्ष के सर्वोत्तम ग्रंथ घोषित करवाना कवियों तथा कवि-आलोचकों का काव्य-धर्म बन गया हो, अपने निजी दुःख को नितान्त ईमानदार कविताएँ बगैर आँखें नटेरे और मुँह पर फेचकुर लाए लिखना एक जोखिम नहीं तो और क्या है। शब्दों के जंगल में, जिसे हिन्दी कविता कहा जाता है, इतनी सरल अभिव्यक्ति एक खतरा ही है—'जो कह सकता हूँ इन दिनों / उसमें न गाने का कुछ है / न मुसकाने का / खाली शामों में / उसे पढ़ा भर जा सकता है / उलझन भरी दृष्टि / उसके बाद गड़ायी जा सकती है / अँधेरापन समेटते हुए / आसमान पर' (शरीर और फसलें, कविता और फूल)।

घोषित रूप से 'अँधेरी कविताएँ' बहुत ही गहरे निथरे हुए दुःख की तथा जीवन के अन्त से साक्षात्कार की कविताएँ हैं, किन्तु भवानीप्रसाद मिश्र ने यह दुःख कुछ इस तरह आत्मसात् किया है कि उसका जो भी अंश कविताओं तक पहुँचता है, वह एक आत्ममुग्ध की रुग्ण चीख नहीं बन पाता, उसमें शिशिर की रात सुदूर बजते हुए किसी अनाम तन्तुवाद्य का संगीत है जो हमारे शरीर पर भय के काँटे नहीं उभारता, एक अकथ उदासी का मौन प्रदान करता है। उसमें कहीं भी घोर निराशा, अतिरंजित भय अथवा मृत्यु-प्रेम नहीं है। इन कठिन क्षणों में भी भवानीप्रसाद मिश्र उस वस्तु को नहीं भूले हैं—जिसने 'मुझे शब्द दिए हैं / और समुन्दर जिससे / लहर लेता है / क्या चीज़ है यह / जिसे छूकर हवा इठलाती है / और पौधा जिसे पाकर फूल देता है / क्या चीज़ है यह / अदम्य और कोमल और कठोर' (बेचारी चेतना)।

दुःख तथा अन्त को स्वीकारती कविताओं की साहित्य में कभी कमी नहीं रही और उनमें से अधिकांश शूरवीरता से परिपूर्ण हैं या छद्म स्वीकारवाद-स्वागतवाद से ? यह शूरवीरता और दर्शन अमावस की रात बस्ती के बाहर संदिग्ध पुल के नीचे से गुज़रने पर बजायी जाने वाली सीटी के बहुत निकट होता है। दुःख का अहसास भवानीप्रसाद मिश्र में भी है किन्तु उसमें न तो दैन्य है न पलायन—एक बहुत साफ़ तथा स्निग्ध स्वीकृति है—'गुलदस्ता / मत रखो मेरे / सिरहाने / एक छोटा फूल / दे दो हाथ में / ज़्यादातर तो इसलिए / कि अब बहुत है / एक फूल भी / बल्कि फूल की पंखुरी / और थोड़ा इसलिए / कि बहुत है अब / गुलस्ता मेरे लिए' (गुलदस्ता)। बहादुरी के समीप ये पंक्तियाँ पहुँचती प्रतीत होती हैं—'अवाक् देखने की / देखते रहने की घड़ियाँ / मगर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब आ गई हैं / तब वह भी बताएँगे करके / लगभग चुप्प गाएँगे / भर देंगे हम शोर से ऊपर सूनापन / दूना मन कर देंगे हम / सिर पर टूटती तकलीफ़ों का / ऐसे / करते ठीक गाने के दिनों का / जैसे गाकर मुक्त कंठ से' (चुप्पी गाएँगे), किन्तु इनके पीछे जो विवशता है तथा विदूषकत्व का पुट है वह इन्हें त्रासद तथा व्यंग्यपूर्ण बनाता है।

भवानीप्रसाद मिश्र की इन कविताओं सरीखी कविताओं में खतरा यह होता है कि कवि जब इन्हें शुद्ध भावनाओं के रूप में सर्वप्रथम अनुभव करता है (और यदि वह एक कमज़ोर कवि तथा कमज़ोर इन्सान होता है तो) वह इनकी करुणा में स्वयं इतना डूब जाता है कि कवि-कर्म के दूसरे तकाज़ों को भूल कच्ची भावुकता को ही कविता के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में हास्यास्पद पतन को प्राप्त होता है। वह सोचता है कि उसे 'विचलित' करने वाले ये भाव निस्सन्देह कविता होंगे ('आह से उपजा होगा गान' इत्यादि) और वह पाठक को भी 'द्रवित' करेंगे। यहीं पर 'द मैन हू सफ़र्स' तथा 'द मैन हू क्रिएट्स' का अन्तर स्पष्ट होता है। कवि, यदि वह वास्तव में कवि है तो, जब अपने 'दुःख' पर कविता लिख रहा होता है तब वह दुःख से उतना ही दूर या पास होता है जितना एक जागरूक कारीगर अपने कच्चे माल के। यह सुख की बात है कि भवानीप्रसाद मिश्र का दुःख 'सन्निपात' अथवा 'समाधि' शैली का नहीं है, यदि उनका व्यक्ति लगातार उसे भोग रहा है तो उनका कवि उसे अभिव्यक्त करने की समस्याओं से निपट रहा है—'पुरानी आदिम/चिनगारी की तरह/फिकना चाहिए/अर्थ पुराने से पुराने शब्दों में से/नये सन्दर्भों में···सन्दर्भ पुराने हो सकते हैं/नये हो सकते हैं/यह संयोग है/कि मन मेरा/आज एक नया सन्दर्भ है/मगर फिकना तो चाहिए/पुराने ही शब्दों से/नये इस सन्दर्भ की चिनगारी।'

यह भी द्रष्टव्य है कि यद्यपि संग्रह में पचपन कविताएँ हैं और किसी में भी शुद्ध आह्लाद नहीं है, किन्तु दुःख का आभूषणीकरण भी अनुपस्थित है। कवि को मालूम है कि दुःख कोई अभूतपूर्व चीज़ नहीं है और न ही अकेले उन्हीं को यह प्राप्त हुई है। यही अहसास शायद उनकी व्यथा को इतना विरल, व्यक्तिमुक्त तथा काव्य-स्वीकार्य बना सका है—'सोचता हूँ/मगर विस्तार में नहीं जाता मैं/इस सोच के/क्योंकि सचमुच जितना हुआ है/उससे अधिक होता रहा है/जब से हुई है दुनिया/तब से।' गुरु-गम्भीर शब्दों से बचने की आदत भवानीप्रसाद मिश्र को आज की कविता के अधिकांश दोषों से बचा ले गई है, इसलिए मृत्यु को इन सीधे शब्दों में स्वीकारते हुए—'घड़ी राख होने की आए/बुरा इसमें कुछ नहीं है/बुरा यह है/कि मन राख होने से घबराये/मैं खुश हूँ कि वह नहीं हो रहा है।' वे शाब्दिक दार्शनिकता से मुक्त होकर कह सके हैं—'याने अब मैं/न कोई क्षण पाना चाहता हूँ/न खोना/पाने और खोने की प्रक्रिया से/उदासीन हो चुका हूँ मैं/और बचे हुए क्षणों में/अगर वे बचे ही हैं/इतना ही चाहता हूँ/कि कोई पकड़ न पाए कि यह आदमी/वक्त काट रहा है!'

एक रचनाधर्मी कृती अपनी रचनाओं में ही जीवित रहता है और उन्हीं में मरता है—'अबाध ठीक बात/कही जा सकती है/केवल अबाध ठीक कविता में/वही कहने के लिए/ज़िन्दगी जीता रहा/और वही कहने के लिए/अब चाहता हूँ/नयी एक ज़िन्दगी / नया एक देह। कविताएँ ही कवि का पलायन होती हैं और शक्ति-स्रोत भी। जहाँ कवि कविता में मरता है, वहाँ कविता में ही उसका पुनरारोहण भी होता है—'मगर ये सब/अर्थात् विकल्प ये सारे/सातवाँ मौसम/शरीर का स्वास्थ्य/अथवा नया देह धारण/सम्भव दिखते हैं/केवल कविता में/कविता में सब-कुछ सम्भव है। जीवन की कविता में अदम्य आस्था रखते हुए, दुःखों से जूझते तथा मृत्यु की आँखों में देखते हुए भवानीप्रसाद मिश्र जानते हैं कि मृत्यु कभी नहीं होती :

खत्म नहीं होता पेड़ों का हरहराना
मरकर मैं क्या करूँगा

खाली गुफा के सामने
मरना होगा तो हरी दूब पर
मरूँगा हरे झाड़ की छाया के नीचे

डायरी के पन्नों पर तब तक
सिर्फ़ तारीख नहीं
रहेगी

कविता की धारा बहेगी
अभी और कुछ दिनों
कुछ पहरों कुछ पलों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुसे हुए शब्दों का एक विशिष्ट मतलब

विष्णु खरे

यदि कहा जाए कि हिन्दी का प्रत्येक अध्यापक साहित्यकार होता है—वह भले ही 'शाला' पत्रिका स्तर का हो या 'धर्मयुग' स्तर का—तो इसे व्यंग्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह एक तथ्य है। मुझे नहीं मालूम कि अमरीका और इंग्लैंड में अंग्रेज़ी के सारे अध्यापक साहित्यकार होते हैं या नहीं (भारतीय अंग्रेज़ी प्राध्यापक तो नहीं होते—जो कि शायद उनकी विवशता ज्यादा है, चुनाव कम) किन्तु देखा यह गया है कि हिन्दी का प्राध्यापक साहित्य लिखने को एम० ए० के आठ लिखित पर्चों के बाद निरन्तर चलने वाला एक नवाँ पर्चा मानता है। सम्भव है कि हिन्दी के आदि-युग में हिन्दी पाठ्यक्रम में अभिवृद्धि करने हेतु तत्कालीन आचार्यों ने इस प्रवृत्ति को न केवल आविष्कृत किया हो बल्कि प्रोत्साहित भी किया हो, किन्तु अब जबकि हिन्दी में साहित्यकार होने के लिए उस भाषा में पढ़ाना तो क्या, उसे ठीक से जानना भी अनिवार्य न रह गया हो, अधिकांश अध्यापकीय साहित्य-सृजन को यदि गैर-ज़रूरी न भी माना जाए तो कम-से-कम उसे एक संयम देने की इच्छा प्रकट करना अनुचित न होगा।

साहित्य-सृजन सरीखे पुनीत कार्य-क्षेत्र से मैं किसी को भी बहिष्कृत नहीं करना चाहता, मैं सिर्फ गलत किस्म के प्राध्यापकों को ही (वे किसी भी भाषा के क्यों न हों) साहित्य-रचना से वंचित देखना चाहता हूँ। सही किस्म की परिभाषा चूंकि कठिन है, अतएव मैं गलत को ही बखानूंगा। गलत किस्म का प्राध्यापक डॉक्टरेट को उन्नति-अस्त्र के रूप में ग्रहण करता है, प्राध्यापकीय पांडित्य प्रदर्शित करने के लिए दो-एक निहायत पाठ्य-पुस्तकनुमा ग्रंथ रचता है, तत्पश्चात् साहित्य की किसी भी विधा में किसी भी कीमत पर 'अमर' होने के लिए (आवश्यक नहीं कि इसी क्रम में) कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रेडियो, टेलीविज़न, फ़ीचर, अनुवाद आदि करता है। इतने पर भी सन्तुष्ट न होकर वह इन विधाओं की गहराई में जाता है—कविता में 'नयी कविता', 'नवगीत', 'अकविता' एक साथ लिखता है, उपन्यास में 'सामाजिक', 'आंचलिक' तथा 'अस्तित्ववादी' उपन्यास लिखता है और कहानी में एक राकेश-कमलेश्वर-भारती स्कूल, दूसरी निर्मल वर्मा स्कूल, तीसरी श्रीकान्त वर्मा स्कूल तथा जोशी-भल्ला-कालिया-बख्शी स्कूल की लिखता है। आलोचक, पहले ही कहा जा चुका है, वह होता ही है। आखिर इतिहास अब बचकर कहाँ जाएगा?

स्पष्ट है कि इतने वैविध्य के तक़ाज़ों का असर (यदि वे वास्तविक हों तो) रचनाकार के मस्तिष्क के लिए घातक हो सकता है। किन्तु हर्ष का विषय है कि ऐसे हर कलात्मक संकट का एक हल मौजूद होता है। साहित्य के इतिहास में अमर होने के तक़ाज़ों के दबाव में लिख रहा व्यक्ति कपड़ों को आत्मा समझ तुरन्त ध्वनियों, शब्दों तथा मुहावरों की ओर दौड़ता है। हिन्दी कविता के पिछले पाँच-छः वर्षों में ही कवियों, कविताओं और कविता-पत्रिकाओं की जो बाढ़ आई है उसका अर्थ यह कतई नहीं है कि भारत एकाएक काव्यमय देश हो गया है। एक खास तरह का पोज़, एक विशिष्ट शब्द-भण्डार और कविता लिखने की वेगवती इच्छा—कविता का इससे ज्यादा आसान नुस्खा और क्या हो सकता था? आधुनिक हिन्दी कविता की एक अदृश्य फ्रेज़-बुक तैयार होती चली गई; शब्दों का एक ऐसा कुआँ प्राप्त हो गया कि जिसके हाथ डोर और बाल्टी लगी वह कविताएँ उलीचने लगा। रामदरश मिश्र की कविताओं[1] में, जो तीन खण्डों में विभक्त हैं, यह भरसक कोशिश की गई है कि आज की कविताओं में प्रयुक्त शब्दों से कोई भी छूट न जाए:

'और 'मैं' के नीचे कुचला हुआ 'मैं'/तड़पता रहता है भीड़ में खोए किसी एकान्त के लिए/जिसे वह अपने को दे दे।'

'मैं तड़फड़ाता, अपने को नोंचता/भागता हूँ/तो एक ऊँची दीवार से टकरा जाता हूँ···और लावारिस कुत्ते की तरह/किसी पहिए से कुचलकर मर जाता हूँ'।

'क्रॉस पर टँगी हैं/सत्य, अहिंसा और न्याय की ऋचाएँ··· कुरसियों पर, तख्तों पर/मुरदे बिछे हैं···मुरदों के हाथों में सड़ते/नोटों के कफ़न से ढँके/न्याय की दुर्गन्ध टकराती है··· भगवान खड़ा किया जाता है/और हर बार उसे मार दिया जाता है···रात भर/भगवान अपनी लाशें बटोरता है।'

'हम सब भीड़ में समाज-समाज चिल्लाते हुए घूमते हैं/ और अकेले में/अपने से पूछते हैं—/समाज?/कहाँ है समाज?'

इन पंक्तियों में इन शब्दों से, उनके विन्यास से, मुहावरों

१. 'पक गई है धूप', रामदरश मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, मूल्य ५ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से तथा विचारों की परिणति से हिन्दी का पाठक इतना अधिक परिचित हो चुका है कि पूरी कविता में सिर्फ़ पाँच-छः शब्दों पर दृष्टिपात करके ही वह उनका रुझान समझ सकता है। ये समस्त कविताएँ कई कवियों द्वारा पिछले कई वर्षों से कही जा रही चीज़ों से न तो कथ्य में भिन्न हैं और न शैली में। ये निहायत परिचित प्रतिक्रियाओं की निहायत परिचित कविताएँ हैं और किसी क्लिशे-प्रेमी पाठक को भले ही आन्दोलित कर सकें, हिन्दी के उस जागरूक श्रोता-वर्ग को संतुष्ट नहीं कर पाएँगी जो इस अभ्यस्त करतब से ऊब चुका है और कुछ नया देखना-सुनना चाहता है।

संग्रह का दूसरा खंड, स्वयं कवि के शब्दों में, गीतात्मक संवेदनाओं की कविता का है और पहला ही 'गीत' हमें चेतावनी दे देता है कि हम उसमें क्या पाने वाले हैं—

मत जाना मीत कहीं और
आज फागुनी हवाओं में बहके हैं बौर

तीसरे गीत की प्रत्येक पंक्ति एक क्लिशे है और 'अरी री' 'मरी री' वाली अत्यंत हास्यास्पद अनुभूति की एक फूहड़ कविता का निर्माण करती है—

चिटक उठी धूप, प्रिय
टूट गयी सीढ़ी
ताल में गिरी मैं
जल में तिरी मैं
अंग-अंग जल हुआ
रही न कहीं की री!

लोग आधुनिक कविता की दुरूहता की बात करते नहीं अघाते, किन्तु मैं पूछना चाहता हूँ कि 'टूट गयी सीढ़ी' तथा 'रही न कहीं की री' इस 'गीत' को किस तर्क से अर्थ प्रदान करते हैं? साफ़ है कि यह और इस तरह के समस्त 'गीत' शब्दों के चटखारे लेकर लिखे गए हैं, जिनके पीछे मिठास पैदा करने के नाम पर शक्कर परोसने की वमनोत्तेजक कोशिश है। एक अन्य कविता में इसी तरह की अर्थहीन, घिसी-पिटी गीतात्मकता है—'कैसा-कैसा लगता है आज / जैसे चौरस्ते पर भरा-भरा घड़ा / कोई फोड़ गया हो।' मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि मैं मतिमंद हूँ यदि कोई यह समझाने को राज़ी हो जाए कि 'कैसा-कैसा लगना' किस तरह 'चौरस्ते पर किसी के घड़ा फोड़ने' से उत्पन्न भावना के समतुल्य है।

गीतात्मकता पैदा करने के सारे फ़ार्मूले (जिन्हें गिनाना निस्सार है) रामदरश मिश्र की कविताओं में मौजूद हैं, किन्तु कदाचित् सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण है शब्दों को जोड़ों में प्रस्तुत करने की छायावादी हरकत। परिणामतः इस संग्रह के गीत 'चलते-चलते', 'पोर-पोर', 'भरी-भरी', 'छोटी-छोटी', 'पीले-पीले', 'कैसा-कैसा', 'भरा-भरा', 'फूली-फूली', 'पीली-पीली', 'कहाँ-कहाँ', 'रात-रात', 'आ-आ', 'लिपट-लिपट', 'अंग-अंग', 'हँसते-हँसते', 'साथ-साथ', 'समा-समा', 'खींच-खींच', 'रिस-रिस', 'तंग-तंग', 'उठ-उठ', 'टकरा-टकरा', 'बुला-बुला', 'दूर-दूर', 'रंग-रंग', 'रह-रह', 'लिख-लिख', 'छन-छन', 'बह-बह', 'लौट-लौट', 'उलीच-उलीच', 'जाता-जाता', 'आती-आती', 'फूल-फूल', 'दिशा-दिशा', 'पाँती-पाँती', 'अक्षर-अक्षर', 'कली-कली', 'हवा-हवा', 'फफ्फ-फफ्फ' आदि पर टिके हुए हैं।

संग्रह का तीसरा खंड हिन्दी कविता के नवीनतम स्टंट—लम्बी कविताओं—का है। मुक्तिबोध सरीखे कवि के लिए लम्बी कविता एक अनिवार्यता होती थी, किन्तु 'अँधेरे में' के बॉक्स-ऑफ़िस हिट होते ही हिन्दी कवियों में छिपा हुआ सफलतागामी बम्बइया इस सोने के अंडे देनेवाली बत्तख़ के पीछे छुरी लेकर दौड़ने लगा, परिणामतः लम्बी कविता की यह विधा दिल्ली में जगह-जगह लगे हुए 'मेरा प्रयोग कीजिए' मार्का कूड़ेदानियों में बदल गई। यदि आपके मस्तिष्क में कुछ ऐसे अनुभव हैं जिन्हें ऑर्गेनाइज़ कर अर्थवान काव्य-सृजन आपके लिए कठिन हो तो नाटक+वियतनाम+सिनेमा + शिश्न+टेलीविज़न+बीजगणित+पंचांग+जन्मकुंडली+योनि+सन्निपात शैली में सिर्फ़ एक लम्बी कविता लिखना ही पर्याप्त होगा। आज कवि-कर्म इतना आसान इसलिए भी है कि पाठकों को भी कविता के फ़ार्मूले रट गए हैं और पतन, क्रूरता तथा सड़ाँध की एक सतही शब्द-लाघवता उन्हें कविता के बहुत भीतर जाने से रोकती है। चूंकि दौर एक विशेष तरह की प्रगल्भ कविता का है जिसके प्रमुख लक्षण मशीन-युग की भर्त्सना, तथाकथित 'पाश्चात्य' सभ्यता की निन्दा, वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक स्थिति का घृणामय आकलन वगैरह हैं, रामदरश मिश्र की कविताओं में 'सड़क चरमराकर चीख उठती है', 'एक लावारिस लाश पड़ी है / जिसकी अगल-बगल से। सफ़ेद संस्कृति की धाराएँ बह जाती हैं कतराकर', 'टेरेलिन पहने कुछ जवान बाबू', 'मेनहोल में एक बच्चे की लाश', 'पेशेवर धर्मनेता / गीता और रामायण की पंक्तियों को / पान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीक की तरह थूकते हुए', 'कोई गांधी उन्हें रोकता है / तो उसे गोली मार दी जाती है', 'मरी हुई मछलियाँ, सड़े अण्डे, छिपकलियाँ, मक्खियाँ', 'चीखती चिमनियाँ / टूटता हुआ आकाश / झोंपड़ियों को निगलती हुई रातें /···दीवारों पर चिपके पोस्टर कलाओं के', 'ईसा, गौतम, गांधी की प्रतिमाओं की छाया' आदि ठसाठस भरे हुए हैं, भले ही इनमें सम्बन्ध केवल कलाबाज़ियों से ही क्यों न स्थापित किया गया हो।

रामदरश मिश्र की ये लम्बी कविताएँ, उनकी अन्य कविताओं के समान, तथा दूसरे कई कवियों की अधिकांश ऐसी कविताओं के समान, एटीट्यूडिनाइज़िंग से विस्फारित एक रूमानी पोज़ से अधिक कुछ भी नहीं हैं। शाब्दिक पराक्रम तथा एक प्रच्छन्न पवित्रता प्रत्येक पंक्ति में मिलेगी—स्वयं के विषय में कवि कुछ भी नहीं कहेगा, किन्तु इन पंक्तियों से परावर्तित हो एक आत्माभिषेकी उजियाला बार-बार उस पर छा जाएगा। ऐसी कविताओं के सृजन के बाद वह अपना रथ पृथ्वी से कुछ ऊपर चलता हुआ अनुभव करता है। इन कविताओं में कहीं भी यथार्थ को स्वीकार्य कविता बनाने की चिन्ता नहीं है, सब-कुछ ज्यों-का-त्यों दे दिया जाता है, फलतः शब्दों के रूमानी घटाटोप से साक्षात्कार होता है—

तुम्हारी बाढ़ों ने
खेतों में फैले पसीने के फूलों को निगला है
बखारों या गोदामों में बन्द राशियों को नहीं
तिजोरियों और बैंकों में बन्द जड़ सिक्कों को नहीं

और एक गन्दा काला नेता
अपने मशक जैसे मोटे पेट में भरी
गन्दी गैस निकालता रहता है
अपने घिनौने बदबूदार जबड़े से
आग धधकती है
तो वह एक खादी का मुखौटा पहन लेता है

संग्रह की दो लम्बी कविताएँ—'गाड़ी जा रही है' तथा 'फिर वही लोग' रामदरश मिश्र के समस्त प्रलोभनों और पराभवों को उजागर करती हैं। पहली कविता भारत-पाकिस्तान युद्ध से प्रेरित है और उसकी प्रारम्भिक पंक्तियों में बमवर्षा के बाद का यह 'मार्मिक' चित्रण है :

एक गाँव अपने हरे-भरे दामन में झुलस गया है
मंदिरों, गिरजाघरों में झुकी प्रार्थनाएँ
मस्जिदों में सोई हुई अज़ान की ध्वनियाँ
ज़बह कर दी गई हैं

तत्पश्चात् देश की भौतिक-आध्यात्मिक शक्ति का यह 'अभिभूत' कर देने वाला चित्रण :

हमारी सीमाओं की फ़ौज के पीछे
एक लम्बी फ़ौज खड़ी है—
तरह-तरह के हथियार लिए
गांधी, गौतम, राम और कृष्ण के
भरे-बादल से उठे हुए हाथ

इसके बाद हमारी बहादुर सेना की विजय-प्राप्ति का वर्णन तथा साम्राज्यवादी षड्यन्त्रकारियों के साथ चीन की साठगाँठ होने का निर्मम पर्दाफाश है और अन्त में, चूँकि रूमानी कवि का सर्वाधिक प्रिय स्वप्न कुछ भी न करते हुए जो हो रहा है उसका सक्रियतम अंग बनना होता है, ये पंक्तियाँ अप्रत्याशित नहीं हैं :

हमारी गोलियाँ शत्रु के उन्माद पर टूट रही हैं
अँधेरे की घाटियों से गुज़रती गाड़ी का यात्री मैं
आह, मैं
लगातार गोलियाँ बन छूट रहा हूँ।

'फिर वही लोग' इसी तरह की शाब्दिक वीरता, शाब्दिक भावुकता तथा शाब्दिक निरर्थकता से ओतप्रोत एक दुखदायी कविता है। इसकी पंक्तियों में वही सूचीपत्र-नुमा क्रमबद्ध भारतीय पापाचार, अत्याचार, कथनी-करनी भेद, 'भारत दुर्दशा देखी न जाई' आदि का अम्बार लगा हुआ है जिस पर लिखकर हर हिन्दी कवि अपने उत्तरदायित्व से 'इन्सटैन्ट' मुक्ति प्राप्त कर लेता है, इन तथा ऐसी पंक्तियों में कहीं भी स्वयं के अन्दर दूर तक झाँकने की, विरोधाभासों की सही पकड़ की, समूचे मानव-अस्तित्व की हास्यास्पदता तथा त्रासदी की तथा कवि-कर्म की सार्थक-निरर्थकता के अहसास की कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी है। रामदरश मिश्र तथा इन जैसे कवियों का उद्देश्य शब्दों से एक 'प्रभाव' पैदा करना होता है 'अर्थ' नहीं। वे अधिक-से-अधिक शब्दों में अधिक-से-अधिक उपलब्धियाँ चाहते हैं, और शब्दों से अमरत्व चाहते हैं, शब्दों में नहीं। कहना न होगा कि ऐसे प्रत्येक अवसरवादी के हाथों शब्द अपने सारे अर्थ खोकर कबाड़खाना बन जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शेक्सपियर बरक्स बच्चन

विष्णु खरे

हैमलेट के बारे में कुछ भी कहना किसी पिटे हुए जुमले को दुहराना होगा। यह शायद एकमात्र नाटक है जिसने सदियों से मानव-मन पर इतना गहरा प्रभाव डाला है, बीसियों विवादों को जन्म दिया है, जिसकी भर्त्सना भी खुलकर हुई ('मोस्ट सर्टेनली एन आर्टिस्टिक फेल्योर'—टी० एस० इलियट) और प्रशंसा में लाखों शब्द लिखे गए हैं। हैमलेट के 'संकट' में प्रत्येक युग के संशयग्रस्त संवेदनशील व्यक्तियों ने अपना 'संकट' पहचाना है और यद्यपि अपने लम्बे स्वगत कथनों से उसकी भूमिका निभाना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कष्टकर अवश्य है—चारित्रिक पेचीदगियाँ अलग—पिछले तीन सौ से भी अधिक वर्षों से विश्व के श्रेष्ठतम अभिनेताओं की महत्त्वाकांक्षा हैमलेट का अभिनय कर अमर होने की रही है।

संसार की किसी भी भाषा में हैमलेट का अनुवाद[१] हो यह आश्चर्य का विषय नहीं, अभिनन्दनीय होना चाहिए क्योंकि यह अंग्रेज़ी की नहीं, समूची मानव-जाति को विरासत में मिली एक अद्भुत वस्तु है, उसी तरह जिस तरह महाभारत तथा इलियड हैं। बच्चन हिन्दी के सुप्रसिद्ध गीतकार ही नहीं, अंग्रेज़ी की डॉक्टरेट लिये हुए हैं और वह भी कैम्ब्रिज से, अतएव एकबारगी तो पाठक यही सोचकर उल्लसित हो सकता है कि यदि यह हिन्दी अनुवाद मणिकांचन संयोग सरीखी अभूतपूर्व वस्तु न होगा तो दिलचस्प और आकर्षक तो होगा ही।

यह अनुवाद मुखपृष्ठ से ही दिलचस्प है। जिल्द से इसका अन्दाज़ नहीं लग पाता है कि यह शेक्सपियर के नाटक का अनुवाद है—लगता है बच्चन का कोई नया कविता-संग्रह है जिसका नाम 'हैमलेट' है। हाँ, अन्दर अवश्य शेक्सपियर का नाम है। प्रारम्भ में अमिताभ बच्चन का एक फोटो है जिसमें वे कसियो की भूमिका में दिखाये गए हैं जो समर्पण से स्पष्ट है। 'प्रवेशिका' में शेक्सपियर तथा हैमलेट पर कुछ चर्चा के पहले बच्चन का एक अत्यन्त रोचक संस्मरण भी है कि किस तरह उन्होंने तेनीजी को फुसलाकर यह अनुवाद पूरा किया।

'प्रवेशिका' में अनुवादक ने 'सामान्य' पाठकों के अलावा ऐसे पाठकों की भी कल्पना की है जिन्होंने 'हैमलेट' को अंग्रेज़ी में पढ़ा-समझा होगा और शायद वे इस अनुवाद को मूल से मिलाकर भी देखना चाहेंगे। अब इसे एक संयोग ही कह लीजिए कि इन पंक्तियों के लेखक ने न केवल उसे मूल अंग्रेज़ी में पढ़ा-पढ़ाया भी है (इस बात में जाना बेकार है कि उसे स्वयं कितना समझ आया और दूसरों को क्या पल्ले पड़ा) इसलिए उसने जब इस अनुवाद को उठाया तो हृदय में उत्सुकता अवश्य थी कि देखें हैमलेट के अनुवाद में उपस्थित होने वाली समस्याओं का बच्चन ने किस तरह मुकाबला किया है। किन्तु 'प्रवेशिका' में पृष्ठ १३ पर अनुवादक ने शेक्सपियर के जिस 'दोष' को खोज निकाला है उसकी मौलिकता से मैं चकित रह गया। बच्चन कहते हैं, "अन्तिम दृश्य में हैमलेट की माँ अपने पुत्र को मोटा कहती है (He's fat); हैमलेट के मोटे होने की कल्पना मैं नहीं कर सकता! बहुत बार अंग्रेज़ी रंगमंच पर भी मैंने दुबला-पतला हैमलेट ही देखा है। कहते हैं, शेक्सपियर के समय में जो अभिनेता हैमलेट की भूमिका अदा किया करता था वह मोटा था, इसीलिए शेक्सपियर ने उसकी माँ के मुख से उसे मोटा कहला दिया। शेक्सपियर ने रंगमंच की सीमाओं का ध्यान रखकर बहुत-से ऐसे काम किए हैं। मैंने उसे 'दुर्बल' कर दिया है।" मुझे नहीं मालूम कि बच्चन ने अनुवाद के लिए कौन-सा संस्करण इस्तेमाल किया है, किन्तु यदि वे जॉन डोवर विल्सन का संपादित हैमलेट सामने रखते तो स्पष्ट हो जाता कि इस 'फ़ैट' का अर्थ 'मोटा' नहीं बल्कि 'स्वीटी' यानी 'पसीना-पसीना' होता है, जिस अर्थ को रानी का अगला वाक्य "Here, Hamlet, take my napkin, rub thy brows" पुष्ट करता है। शेक्सपियर ने इसी अर्थ में इस शब्द को एक अन्य नाटक में भी प्रयुक्त किया है। मैं चाहूँगा कि बच्चन डोवर विल्सन की पुस्तक 'ह्वाट हैपन्स इन हैमलेट' तथा उन्हीं का सम्पादित वह महाविद्यालय-संस्करण देख जाएँ जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्र इस्तेमाल करते हैं। मज़े की बात यह है कि हैमलेट के पहले अनुवादक अमृतराय अपने संस्करण में 'फ़ैट' का अनुवाद 'मोटा' कर गए हैं और उनके अनुवाद को तो किसी विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष से प्रमाण-पत्र भी प्राप्त हो चुका है।

१. 'हैमलेट,' अनुवादक : बच्चन, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, पाँच रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रारम्भिक सदमे के बाद मेरा शेक्सपियर-श्रद्धालु मन किंचित् सतर्क हुआ और उसने वही करने की सलाह दी जिसकी बच्चन को न्यूनतम आशंका थी—पंक्ति-पंक्ति मिलान—विचित्र बातें सामने आईं। होरेशियो हैमलेट के मृत पिता के विषय में कहता है—

So frowned he once, when in an angry parle
He smote the sledded Polacks on the ice.

जिसका अनुवाद बच्चन ने किया है :

इसी तरह से उनके तेवर तने हुए थे
जब जोशीली बातचीत के बीच उन्होंने
अपना घन-सा भारी फरसा बर्फ़ीली
धरती के ऊपर चला दिया था

प्रश्न उठता है 'किसके साथ जोशीली बातचीत में ?' और धरती के ऊपर फरसा चलाने से क्या फायदा ? मूल में Sledded Polacks को बच्चन न जाने क्यों सम्पादित कर गए।

लेयरटीज़ से राजा कहता है :

'You told us of some suit, what is't Laertes ?'

जिसका अनुवाद

'तुमने किसी काम पर जाने की हमसे कुछ
चर्चा की थी। लायरटीज़, काम वह क्या है ?'

किया गया है जबकि 'सूट' का अर्थ राजा के सम्मुख प्रस्तुत की जाने वाली 'प्रार्थना' या 'दरखास्त' से है।

जब होरेशियो तथा मार्सेल्स हैमलेट को उसके पिता की प्रेतात्मा दिखाई देने की घटना बतलाते हैं तो वह कहता है :

Then saw you not his face.

जिस पर होरेशियो उत्तर देता है :

O yes, my lord, he wore his beaver up.

जिसका अनुवाद होना चाहिए था, 'हाँ, श्रीमन्, उनके चेहरे पर से झिलम उठी हुई थी' अर्थात् चेहरा दीख रहा था, किन्तु बच्चन इससे विपरीत 'झिलम पड़ी थी' अनुवाद करते हैं। उधर अगले संवादों में आँखें, चेहरे का रंग, भाव आदि का वर्णन है।

जब हैमलेट होरेशियो से प्रेतात्मा की दाढ़ी के विषय में पूछता है तो होरेशियो उसके लिए 'A sable silvered' का प्रयोग करता है किन्तु 'काव्यात्मकता' लाने के प्रयास में बच्चन उसका अनुवाद 'जैसे काली रात चाँदनी में लगती है' करते हैं जो हास्यास्पद है। स्पष्ट है कि यदि काली रात है तो चाँदनी न होगी, यह तो यही कहना हुआ 'जैसा दिन रात में लगता है'।

प्रेतात्मा से हैमलेट के साक्षात्कार के दरम्यान प्रेतात्मा उससे कहती है 'Revenge his foul and most unnatural murder' जिसका अनुवाद 'छल से उसकी भद्दी हत्या का बदला ले'—शब्दों के गलत क्रम से अनर्थ पैदा करता है। तीसरे अंक में ओफ़ेलिया के साथ बातचीत में हैमलेट कहता है 'We are all arrant knaves' जिसका अनुवाद बच्चन ने 'हम ग़ज़ब के बुद्धू हैं' किया है, होना चाहिए 'हम पहले दरजे के बदमाश हैं।' इसी अंक में आगे हैमलेट ओफ़ेलिया के पैरों के पास लेट जाता है और वह कहती है 'You are merry, my Lord' जिसमें एक हल्की-सी भर्त्सना भी है किन्तु बच्चन उसे एक प्रश्न-रूप में अनूदित कर गए हैं—'प्रसन्न तो हैं आप, श्रीमन् ?' इसी संवाद में हैमलेट कहता है 'What should a man do but be merry, for look you how cheerfully my mother looks, and my father died within's two hours' जिसके अन्तिम अंश का अनुवाद बच्चन ने अपनी शेक्सपियर को सुधारने वाली नेकनीयत से 'और मेरे पिता को मरे दो ही महीने अभी हुए हैं' किया है। वे यह पहचानना भूल गए कि शेक्सपियर यह दिखलाना चाहता था कि हैमलेट के हृदय पर वह हत्या अपनी समस्त भयावहता तथा घृण्यता में इस तरह अंकित है जैसे दो घंटे पहले ही हुई हो।

चौथे अंक के तीसरे दृश्य में एक दिलचस्प वाक़या है। हैमलेट इंग्लैंड की ओर प्रस्थान कर रहा है और उसके समक्ष केवल राजा है। दोनों के बीच संवाद इस तरह हैं—

Hamlet : Farewell, dear mother.
King : Thy loving father, Hamlet.
Hamlet : My mother-father and mother is man and wife, man and wife is one flesh, and so my mother.

इन पंक्तियों में हैमलेट के 'एंटिक डिस्पोज़ीशन' से उपजी शरारत है। हैमलेट झुकता है राजा के सामने किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता है 'अच्छा माँ, विदा'। इस पर राजा कुछ भौचक्का-सा होकर उसे ठीक करता है '(मैं तो) तुम्हारा चाहने वाला पिता (हूँ), हैमलेट'। तब हैमलेट व्याख्या करता है '(आप) मेरी मा (हुए क्योंकि—पिता और मा पति-पत्नी होते हैं, और (चूंकि) पति और पत्नी एक ही शरीर (माने गए हैं), इसलिए (आपको) मा (समझकर विदा लेता हूँ)।' बच्चन इस खिलवाड़ को शायद ठीक-ठीक देख नहीं पाए और उनका अनुवाद इस तरह है—

हैमलेट : विदा माँ !
राजा : तुम पिता के कितने आज्ञाकारी बेटे हो, हैमलेट !
हैमलेट : माता का। पिता और माता नर और नारी हैं न ? और नारी और नर अर्धनारीश्वर हैं—एक शरीर—इसलिए माता का।

कुछ ऐसी ही गड़बड़ चौथे अंक के पाँचवें दृश्य में है। पिता की मृत्यु के बाद ओफेलिया विक्षिप्त हो चुकी है और जब उसका भाई लेयरटीज़ उसे देखता है तो शोकविह्वल हो कहता है—

"O heavens, is't possible a young maid's wits
Should be as mortal as an old man's life ?
Nature is fine in love, and where it is fine,
It sends some precious instance of itself
After the thing it loves."

अन्तिम तीन पंक्तियों का अनुवाद यूं है—

"प्रेम प्रकृति का वरद हस्त है। जो इसके नीचे रहता है
उसके ऊपर वह बहुमूल्य विभव-वैभव की
वर्षा करता।"

आश्चर्य है कि बच्चन पर यह स्पष्ट नहीं हुआ कि उनकी इन अनूदित पंक्तियों का पूर्वगामी पंक्तियों से दूर का भी संबंध नहीं है। सही अनुवाद इस प्रकार होगा—'माता-पिता के प्रति सन्तान का प्रेम अत्यन्त कोमल होता है और वह अपनी बहुमूल्यतम सम्पत्ति (मानसिक संतुलन) का भी बलिदान अपने दिवंगत माता-पिता के प्रति स्नेह-प्रमाण के रूप में कर देता है।'

कब्रिस्तान दृश्य में लेयरटीज़-हैमलेट विवाद के समय रानी कहती है—'For love of God, forbear him' जिसका अनुवाद 'तुम्हीं करो बर्दाश्त, भला भगवान करेगा' हुआ है जबकि होना चाहिए था 'भगवान के लिए, उससे बचो !' इसी तरह मूल में जहाँ भी 'marry' का प्रयोग हुआ है, अनुवाद में बच्चन ने 'मरियम साखी' प्रयुक्त किया है। यद्यपि यह सच है कि 'marry' की उपज 'By Mary' से ही हुई है, किन्तु उसका अर्थ 'Indeed ! forsooth !' होता है जो एक विस्मयादिबोधक अव्यय है और शपथ से उसका कोई संबंध नहीं है।

अनुवाद की इन तथा इस तरह की असंगतियों को उपेक्षित शायद किया भी जा सकता था, यदि अनुवादक शेक्सपियर की नाटकीयता, भाषा-गरिमा, रवानी तथा प्रभविष्णुता को अक्षुण्ण रखता। वह स्वयं पहचानता है कि शेक्सपियर की ब्लैंक वर्स एक चमत्कार से कम नहीं है। भाषा का जितना चुस्त, सघन और तनावपूर्ण प्रयोग शेक्सपियर में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है, केवल शॉ ही कभी-कभी उसके आसपास पहुँचते प्रतीत होते हैं। गद्य-संवादों को छोड़कर बच्चन ने समूचे अनुवाद में रोला छन्द का प्रयोग किया है और इस दुर्भाग्यपूर्ण प्रयोग से शेक्सपियर की समस्त गरिमा, औदात्य तथा नाटकीयता की हत्या हुई है। नाटक के वे वाक्य, जो उसे न पढ़े हुए लोगों को भी अपनी अर्थवत्ता की वजह से कण्ठस्थ हैं, रोले के रोलर के नीचे आकर एकदम सपाट हो गए हैं। मार्सेलस का वाक्य 'Something is rotten in the state of Denmark' बच्चन के यहाँ 'निश्चय ही डेनमार्क राज्य में कुछ गड़बड़ है' बनकर अपना सारा हॉरर तथा पूर्वाभास खो बैठा है। 'There are more things in heaven and earth, Horatio than are dreamt of in your philosophy'—'ओ होरेशियो, सुनो हमारे दर्शन की कल्पना जहाँ तक पहुँच सकी है, धरा-गगन में उससे आगे बहुत पड़ा' में अनूदित होता है। शोचनीय छन्द के प्रयोग से कई स्थलों पर बच्चन को वाक्यों के अन्त में 'है' से हाथ धोने पड़े और वे वाक्य जब पढ़ने में इतने विचित्र लगते हैं तब मंच की कल्पना तो त्रासद हो उठती है। प्रेतात्मा का हृदय-विदारक आर्त्तनाद 'O, horrible ! O, horrible ! most horrible !' 'बड़ी वेदना, बड़ा शोक है, महा शोक है' में परिणत हो उच्छ्वासपूर्ण उत्तरछायावादी भावुकता की गति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्राप्त होता है तथा अमर्ष एवं घृणा से संपृक्त 'O villain, villain, smiling, dam'ned villain' 'ओ खल 'खलखल' हँसनेवाले हत्यारे खल' की शब्दक्रीड़ा में पतित हो जाता है।

अनुवाद में नाटकीय दृश्यों को फूहड़ कैसे बनाया जा सकता है. बच्चन का यह अनुवाद इसकी पाठ्य-पुस्तक बन सकता है। फ्रांस से लौटकर आया लेयरटीज़ अपने पिता की हत्या के प्रतिकार का संकल्प ले क़रीब-क़रीब एक विद्रोह का नेतृत्व करता हुआ किले में दाखिल होता है। उसके और राजा के संवाद यूं हैं—

Laertes...Where is my father?
King... Dead.
Queen... But not by him.

जिनका अनुवाद बच्चन के छन्द में :

लायरटीज...पिता कहाँ?
राजा... मर गए।
रानी... नहीं राजा ने मारा।

हुआ है जिसमें नाटकीयता तो दम तोड़ ही चुकी है, बोनस की तौर पर वेर्थाॅस भी है।

हैमलेट की मृत्यु पर होरेशियो के यह दो वाक्य असीम प्रेम तथा करुणा में डूबे हुए हैं :

"Now cracks a noble heart. Good night,
Sweet prince
And flights of angels sing thee to thy rest."

जिनका अनुवाद आकाशवाणी शैली में इस तरह किया गया है :

"एक महान पुरुष इस दुनिया से जाता है।
प्यारे राजकुमार, उदार, विदा देता हूँ
स्वर्गदूत लोरी गाएँ, तू सुख से सोए।"

विस्तार-भय से अन्य उदाहरण देना सम्भव नहीं है, किन्तु 'हैमलेट' में कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं हैमलेट की सोलिलोकीज़, उसके लम्बे स्वगत-कथन जिसमें उसके हृदय की कशमकश तथा उसके जीवन की त्रासदी उद्घाटित हुई है और एक सजग अनुवादक से यह आशा की जाती थी कि वह उनके पर्याप्त प्रभावशाली अनुवाद देगा, किन्तु बच्चन के अनुवाद इस तरह हैं :

"To be, or not to be, that is the question
Whether 'tis nobler in the mind to suffer
The slings and arrows of outrageous fortune,
Or to take arms against a sea of troubles,
And by opposing, end them. To die, to sleep—
No more, and by a sleep to say we end
The heart-ache, and the thousand natural shocks
The flesh is heir to; 'tis a consummation
Devoutly to be wished to die to sleep!"

"अब जीना है या मरना है, तय करना है!
शाबासी किसमें है, क़िस्मत के तीरों के
आघातों को भीतर-भीतर सहते जाना,
या संकट के तूफ़ानों से लोहा लेना
औ' विरोध करके समाप्त उनको कर देना,
औ' समाप्त खुद भी हो जाना?—
मर जाना,— सो जाना,—औ' फिर कभी न जगना!
औ' सोकर मानो यह कहना, सब सिर-दर्दों,
और सैकड़ों मुसीबतों से, जो मानव के
सिर पर टूटा करतीं, हमने छुट्टी पा ली"

"O all you host of heaven! O earth! what else?
And shall I couple hell? O fie! Hold, hold, my heart,
And you, my sinews, grow not instant cold,
But bear me stiffly up...Remember thee?
Ay thou poor ghost whiles memory holds a seat
In this distracted globe."

"ओ, तुम सातों स्वर्ग! ओ, धरा!—और किसे मैं
साथ पुकारूँ? अन्ध नरक को? छी-छी! छी-छी!
मेरी छाती पत्थर कर दो; देह शिराओ,
क्षण-भर को भी ढीली मत हो, तनी रहो तुम,
तना मुझे भी रक्खो!—कैसे तुझे भुला दूँ?
ओ दुखियारी रूह, याद जब तक न छोड़कर
जाती इस बिगड़े दिमाग को, कैसे भूल
तुझे सकता हूँ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने काव्य-नाटकों के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए इलियट ने कहीं कहा है कि काव्य-नाटक में सबसे बड़ा खतरा यह है कि हम कहीं 'नाटक' का आनन्द उठाने की बजाय उनकी 'कविता' का रस न लेने लगें। काव्य-नाटकों की 'कविता' उनके 'नाटक' की सेविका होनी चाहिए। शेक्सपियर की कविता इसीलिए सफल है कि वह नाटक को और नाटकीयता और तनाव प्रदान करती है, उनके आड़े नहीं आती। जहाँ से बच्चन के छन्द का प्रयोग प्रारम्भ होता है, वहीं से नाटक का अधःपतन भी शुरू होता है। यदि कभी इस अनुवाद का मंचन हुआ तब बच्चन को भलीभाँति ज्ञात हो जाएगा कि उनकी कविता ही नाटक की असफलता में सर्वाधिक योगदान देगी।

नाटक के तकनीकी पक्ष की ओर भी दृष्टिपात किया जा सकता है। पहले ही संकेत दिया जा चुका है कि बाज़ार में 'हैमलेट' के अच्छे विदेशी संस्करण दुर्लभ नहीं हैं और यदि अनुवाद मंचन की दृष्टि से किया जा रहा था तो अच्छा होता कि मंच-निर्देश आदि का पूरा खयाल रखा जाता। दुर्भाग्यवश कई स्थलों पर मंच-निर्देश नहीं दिए गए हैं और यदि कोई अच्छा मूल संस्करण न देखा जाय तो सामान्य पाठक के मस्तिष्क में भ्रान्तियाँ पैदा हो सकती हैं। यहाँ कोई भी उदाहरण देना सम्भव नहीं है क्योंकि मंच-निर्देशों की अपनी पेचीदगियाँ होती हैं और उनकी तर्क-संगति सिद्ध करने हेतु लम्बे विवरण की आवश्यकता होगी।

कुल मिलाकर बच्चन का अनुवादक-रूप अत्यन्त निराशाजनक है, और यदि कोई अन्य नाटककार होता, या शेक्सपियर का ही कोई दूसरा नाटक होता तो ऐसे प्रदर्शन को उपेक्षित भी किया जा सकता था, किन्तु इस अनुवाद के जरिए विश्व-साहित्य की एक अत्यन्त शक्तिवान रचना से उसका सारा आवेग खींच लिया गया है और उसे एक पालतू तथा शाकाहारी क़िस्म का 'डिरामा' बना दिया गया है। हैमलेट सरीखे नाटक का अनुवाद करने के लिए बौद्धिक तथा कलात्मक संवेदना तथा जीवन-दर्शन की दरकार है वह शायद बच्चन में नहीं है—उनमें हैमलेट की रूमानियत हो सकती है किन्तु हैमलेट का 'सेन्स ऑफ़ हॉरर' तो निस्सदेह नहीं है। फलस्वरूप बच्चन का हैमलेट अनुवाद के लिए अनुवाद होकर रह गया है। शेक्सपियर की त्रासदियों के बुरे अभिनयों को देखकर मुझे ऐसा लगता रहा है कि अन्तिम दृश्य में जो मृत शरीर मंच पर होता है, वह नायक का नहीं, शेक्सपियर का होना है। बच्चन के इस अनुवाद को खत्म करते हुए वह विचित्र-सी बात फिर दिमाग में लगातार आ रही है।

●

उत्कर्ष और पराजय के बीच

विष्णु खरे

हिन्दी कहानी के पाठक अब कहानी की घटनाहीनता तथा स्थितिग्रस्तता के एकदम आदी हो गए हैं; इसीलिए यद्यपि 'स्थितियों' के तक़ाज़े ने हिन्दी कहानी को पिता-पुत्र संघर्ष से लेकर पशु-मैथुन तक की दिलचस्प और रोमांचक विविधता प्रदान की, सामान्य पाठक अब नित नये चमत्कार की एकरसता से कुछ परेशान हो उठे तो आश्चर्य नहीं, भारतीय संदर्भ में कहानीकार को स्थितियों के लिए मोटे तौर पर तीन स्रोत प्राप्त हैं—परिवार, दफ्तर और लड़की। इन तीनों को अलग-अलग या साथ लेकर 'मैं', 'वह' और कभी-कभी तुम का आश्रय लेकर स्थितियों को किसी इस तरह उजागर करने का यत्न किया जाता है कि वे सारगभित ढंग से मानव-व्यापारों पर कुछ नया कहें। भारतीय समाज में चूंकि स्थितियों के थीमेटिक वैविध्य की गुंजाइश बहुत कम है—घूम-फिरकर बात एकाध दर्जन थीम्स पर आकर टिक जाती है—इसलिए कहानीकार को अपना शिल्प विशेष रूप से परिमार्जित करना पड़ा है ताकि मिलती-जुलती स्थितियों के परिचित निष्कर्षों पर लिखी गई कहानियाँ कुछ न सही तो शिल्प के स्तर पर ही उसे एक विशिष्ट व्यक्तित्व में, इसलिए कम-से-कम हिन्दी कहानियाँ पढ़ते समय यह बात मुझे सही लगी कि एक स्थिति ऐसी आ गई है जब कहानीकार चाहता है कि पाठक केवल उसकी शैली का ही आनन्द उठाएँ—कथ्य तो पहचाना होता ही है। इसी में कहीं अधिकांश हिन्दी कहानियों का आत्मकथात्मक होने का कारण छिपा हुआ है।

किस्सागोई तथा 'कलात्मक' कहानी के बीच भेद-दृष्टि की जड़ें भी शायद इसी भूमि में हैं। यह भी मान लिया गया कि किस्सागोई-वाली कहानियों से यदि कोई थीम या सत्य

१. संवाद : श्रीकान्त वर्मा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, मूल्य चार रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभारता है तो वह अकलात्मक है, किन्तु यदि 'कलात्मक' कहानियों से यदि कोई ऐसी चीज़ उभरती भी नहीं है तो उनका यही गुण उनके 'साहित्यिक' होने का सच्चा लक्षण है। 'कलात्मक' कहानी में अपने बिखराव के लिए 'तनाव', 'डर', 'टूटन' 'निर्वासन' आदि का कभी सच्चा और कभी झूठा आश्रय लेना पड़ा और धीरे-धीरे अपनी-अपनी सचाई में एकदम सही ये शब्द रूढ़ि बनने लगे। सॉफ़ोक्लीज़, शेक्सपियर, दास्तोएव्स्की ने ग़लती से उन सदियों में जन्म लिया था जिनमें डस्ट जैकेट का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए वे कभी अपनी थीम्स को नहीं जान सके और अपनी अनभिज्ञता में डूबे हुए लिखते रहे। आज का साहित्यकार ऐसा कोई जोखिम नहीं उठाना चाहता, ब्लर्ब से लेकर विज्ञापन तक वही लिखता है ताकि उसका महत्त्व कहीं ग़लत न समझ लिया जाए। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि प्रत्येक कहानीकार अपनी कहानी की थीम को पहले ही सोच लेता है—यह शायद ग़लत भी नहीं है—मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपने कच्चे माल के महत्त्वपूर्ण होने की संभावना के प्रति वह इतना जागरूक रहता है कि उसकी यह जागरूकता भले ही उसे एक कलात्मकता देती हो, एक सीमा के बाद वह उसे इतना अधिक सुनियोजित, सुचिन्तित बना देती है कि स्थितियों की असलियत पर सन्देह होने लगता है। वह इन स्थितियों में इतना डूबकर लिखता है कि लगता है लिखते हुए ही वह इनके महत्त्वपूर्ण होने का सुख भोग रहा है।

जब यह होने लगता है, और हिन्दी कहानी में इधर यह बहुत चल गया है, तो एक चिन्ताजनक निष्कर्ष यह भी प्राप्त होता है कि तथाकथित ईमानदारी, अकेलेपन, अजनबीपन, घुटन और टूटन के बाद कहानियों का 'मैं' या 'वह' या कोई और एक उद्धारातीत पीड़ावादी एस्थीट है जो स्थितियों के स्थितियाँ होने का मज़ा ले रहा है और उनकी नुमाइश कर रहा है। इन कहानियों में कहीं भी बहुत बड़ी घृणा, बहुत बड़ा व्यंग्य, बहुत बड़ा पाप, बहुत गहरा अकेलापन, बहुत दूरगामी शत्रुता, बहुत अविचल पूर्वग्रह नहीं पाए जाते, इन सबका आभास देता हुआ, अथवा इनकी अनुपस्थिति या एक रूमानी धुँधलका ज़रूर होता और एक अनिर्वचनीय दर्द इस तरह की कहानी के बाद उभरता है। शायद ऐसी ही परिस्थिति की वजह से हिन्दी कहानी का स्वभाव 'टफ़' नहीं हो पाया है और उसके पास हैमिंग्वे का कोई नक्काल तक नहीं है।

आज की हिन्दी कहानी को पढ़कर स्थितियों की निरर्थक मामूलियत तथा आदमी की मेरुदंडहीनता का आत्मदया-भरा चित्र ही सामने आता है। मैं साहित्य से किसी भी 'कार्यक्रम' या 'उम्मीद' की माँग नहीं करता, किन्तु श्रीकान्त वर्मा की पहली कहानी का आधार कोई ऐसी अनाम वस्तु है जिसे 'प्रसाद' चाहता है, 'वह' उसे नहीं चाहता। प्रसाद 'उस' का मित्र था, अब अफ़सर है। 'उस' के विरुद्ध दफ़्तर के दूसरे लोग प्रसाद को यह कहकर भड़का रहे हैं कि 'वह' भी उसकी आकांक्षा रखता है। 'वह' प्रसाद को एक होटल में खाने पर निमंत्रित करता है, बातचीत होती है, दोनों ओर से कुछ सफाई पेश की जाती है, दोनों अपनी-अपनी स्थिति से कुछ नीचे आते हैं किन्तु दूसरे दिन दफ्तर में प्रसाद के कमरे में दाखिल होने पर 'उसे' यह लगता है कि प्रसाद उसे अपने सरीखा और अपना आदमी समझ रहा है और 'वह' निश्चय करता है कि इसके बाद प्रसाद के कमरे में अकेला नहीं जाएगा।

वह क्या वस्तु है जिसे एक अफ़सर चाहता है किन्तु अपने मातहत को प्रतियोगी समझ रहा है? यदि 'वह' प्रतियोगी नहीं है तो प्रसाद के बहकाए जाने से इतना चिन्तित क्यों है? क्या इसीलिए कि कॉन्फ़िडेन्शियल रिपोर्ट में खराब रिमार्क आ जाएँगे? और यदि 'वह' प्रसाद का इस दरजे का मातहत है तो प्रसाद को यदि संदेह भी हो, चिन्ता क्यों होनी चाहिए? पूरी कहानी में 'उस' की हरकतें किसी व्यक्ति द्वारा भविष्य में होने वाले काल्पनिक अपराध के लिए अंदेशे की ज़मानत लेने की तरह हैं। मैं यह मानता हूँ कि आमने-सामने बात करना अच्छा होता है, किन्तु अपने बेदाग़ होने के विषय में 'उस' ने प्रसाद से होटल में इतना पैसा तथा ज़मीर खर्च करके कहा, वह शायद एक पढ़ा-लिखा आदमी एक सतर्कतापूर्ण पत्र में ज़्यादा फलदायी ढंग से कह सकता था—आखिर दोनों एक-दूसरे को पहले से जानते थे और व्यक्तिगत पत्र तो अफ़सर को भी लिखा जा सकता है। हो सकता है कि मेरे ये सारे प्रश्न 'नाइव' प्रतीत हों किन्तु सही कहानी मैं उसी को मान सकता हूँ जिसके प्रत्येक विकास-चरण की अनिवार्यता में मेरा विश्वास हो। 'संवाद' जितना समाधान नहीं देती उतनी शंकाएँ उठाती है। यह ऐसी कहानी है जिसे एक विश्वसनीय आधार की ज़रूरत है। असामान्य स्थितियों की असामान्यता तभी स्वीकार की जा सकती है जबकि उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य हल समाप्त हो गए हों। यदि ऐसा न हुआ हो, उनकी अभिव्यक्ति में थोड़ा मेलोड्रामा देखा जा सकता है।

'क़ैद', 'लड़की', 'खेल का मैदान' तथा 'बॉस' में भी स्थितियों तथा उनके कलागत एक्सप्लॉइटेशन के बीच यही अन्तर मौजूद है। इसमें सर्वाधिक शैलीग्रस्त कहानी शायद 'क़ैद' है जिसमें एक पार्क में एक व्यक्ति की मखौल-सी उड़ाती उपस्थिति 'मैं' को (इसी क्रम में) खिझाती है, आत्मदया में डुबोती है और उसी व्यक्ति के प्रति करुण बनाती है। इस कहानी का उस रहस्य-पुरुष के विषय में यह वक्तव्य "यह आदमी बड़ा घाघ है। यह इसी तरह लोगों को देखता है, झेंपता है, तौलता है और खुद कठघरे से बाहर खड़ा हुआ, सबकी व्यर्थता पर मुस्कराता है" शायद उसे श्रीकान्त वर्मा की कविताओं के 'दूसरे' व्यक्ति के समीप लाए, किन्तु इस कहानी में यह उपस्थिति इतनी ठोस तथा वास्तविक है कि इसे मोटे तौर पर भी कोई 'प्रतीक' अथवा 'मैं' का ही विस्तार मानना मुश्किल है। कुल मिलाकर यह रचना न तो कहानीहीनता की अतर्क्यता में फ़िट बैठती है और न कहानीपन की शर्तें निबाहती है।

'खेल का मैदान' एक 'लड़के' और 'लड़की' की कहानी है जो घास के मैदान में एक शाम या रात का प्रारम्भिक भाग गुजारते हैं—लम्बी प्रणयकेलि के बाद कहानी का चरण बिन्दु सहसा उपस्थित होता है: "लड़के ने अनुभव किया कि उसके मुँह से प्याज की गंध आ रही है। लड़की के मुँह से निकलकर बदबू जैसे उसके मुँह में समा गई, उसने अपनी गरदन घुमाई और मुँह दूसरी ओर कर लिया···अंधेरे में घूरते हुए उसे लगा कि वह लड़की के शरीर से छिपकली की तरह चिपका हुआ है और लड़की है भी दीवार की तरह चिकनी और ठंडी।" यह अनुभव उसे एकदम विरक्त करता है और वह उठ जाता है किन्तु कुछ दूर जाकर 'एक भय' उसमें समाने लगता है और यह निश्चय कर कि इस बार उस पर चुम्बनों की बौछार कर देगा वह वापस आता है। किन्तु 'लड़की' अब वहाँ नहीं है। यह किसी भी तरह बहुत बड़े मोह भंग की कहानी नहीं है और इस एकाएक विरक्ति के लिए कोई भी औचित्यपूर्ण पार्श्वभूमि खड़ी नहीं की गई है। कहानी का प्रारम्भिक तीन चौथाई हिस्सा एक पहचानी स्थिति को पहचानी भाषा में व्यक्त करता है और जिस तरह का मोड़ उसे कहानीकार ने दिया है वह किसी भी त्रासद या व्यंग्यपूर्ण अर्थ को जन्म नहीं देता, उसमें पुनः केवल एक मेलोड्रामा के आसार नज़र आते हैं। श्रीकान्त वर्मा की इस तरह की कहानियाँ किसी एक स्टेज पर पहुँचकर प्रच्छन्न आश्चर्य की तरकीब का प्रयोग भी कर लेती हैं किन्तु इससे ओ हेनरी सरीखे बदनाम परिणाम भी नहीं निकलते।

स्पष्ट है कि श्रीकान्त वर्मा की इस तरह की कहानियाँ सफल नहीं हो सकी हैं। मैं यह नहीं कहता कि जिस तरह की कहानियाँ वे इन स्थितियों के जरिए लिखना चाहते थे वह लिखी ही नहीं जा सकती थीं। मुझे लगता है कि ऐसी कहानियों में श्रीकान्त अपनी सामग्री तथा अपने कलागत इरादों के बीच सही सन्तुलन तथा तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाए जिससे हुआ यह कि कई बार उन्हें अपने इरादों पर ज्यादा वज़न डालना पड़ा और कभी अपनी सामग्री पर। उनके पास शैली भी है और शब्द भी हैं (यद्यपि शैली भी निर्लिप्तता के बावजूद कहीं-कहीं वे असंयमित हो जाते हैं) किन्तु केवल शैली और शब्दों का 'आनन्द' गलत क़िस्म की कहानियों में ही उठाया जा सकता है और मुझे पूरा विश्वास है कि वे उस तरह की कहानियाँ लिखने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। शब्दातिरेक की वजह से 'बॉस' बहुत कर्णकटु हो गई है, और 'संकर' अत्यन्त नीरस—जो इस संग्रह की एकमात्र अपठनीय कहानी है।

ख़ुशी इस बात की है कि आजकल जबकि अधिकांश चालू कहानीकारों से एक भी अच्छी कहानी हासिल करना मुश्किल होता जा रहा है, श्रीकान्त वर्मा के इस संग्रह में कम-से-कम चार कहानियाँ ऐसी हैं जिन्हें पढ़ा जा सकता है, जो दूसरी कहानियों से निर्मित उनकी भ्रामक इमेज को निर्बल करती हैं और जो, इससे भी आगे, वास्तव में मानवीय स्थिति में एक अन्तर्दृष्टि देती हैं। 'घर', 'मिचली', 'अरथी', तथा 'रिपोर्ट' से यह स्पष्ट है कि सही सामग्री पर अपनी शैली की चुस्ती तथा संवादों के स्वाभाविक पैनेपन का इस्तेमाल करके श्रीकान्त औसत हिन्दुस्तानी आदमी की नैतिक कमज़ोरी, संवेदनशील व्यक्ति की त्रासदी, तथा सीधे यथार्थ को किस खूबी से चित्रित कर सकते हैं। 'घर' को कहानी के अलावा एक यथार्थवादी लिरिक तक कहा जा सकता है। 'घर' वहाँ होता है जहाँ एक स्त्री और पुरुष होते हों तथा दोनों तरह की भूख शान्त होती हो। उसे 'घर' कहकर कहानीकार जहाँ 'घर' के हमारे मानसिक चित्र पर व्यंग्य कर रहा है, वहाँ सम्बन्धों के उस बेलौसपन पर भी ध्यान केन्द्रित कर रहा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे बचते हुए हम तमाम संभ्रान्त लोग अपने-अपने घरों में परस्पर धोखादेही की छत के नीचे सुरक्षित हैं। 'मिचली' को मैं इसलिए एक महत्त्वपूर्ण कहानी मानता हूँ कि यह हम सब भारतीयों की कहानी है जो बिस्तरों, दफ्तरों या बसों में सब-कुछ बदल देने का संकल्प करते हैं किन्तु मुकाबले के क्षण में अपने सारे गुस्से को उसी तरह सौंपकर चले आते हैं जिस तरह 'वह' "देखिए, मेरी वजह से आपको कोई असुविधा तो नहीं होती ?" कहकर चला आता है, यद्यपि 'उस' का जी फिर भी मिचला रहा होता है, इसबार शायद खुद पर ज्यादा। 'अरथी' में हॉरर तथा हास्यास्पदता, आदमी के मौलिक कमीनेपन तथा झूठ के बूमरैन्गनुमा लौटने का खासा चित्रण है। भारतीय स्थितियों पर हल्के-फुल्के ढँग से लिखने के लिए रूथ प्रवेर झाबवाला पश्चिम में काफ़ी प्रसिद्धि अर्जित कर रही हैं, किन्तु उनमें किस चीज़ की कमी है यह श्रीकान्त वर्मा की इन कहानियों को पढ़कर ही जाना जा सकता है।

'रिपोर्ट' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी कही जा सकती है और हिन्दी कहानियों में उल्लेख्य भी। शहर में पुलिस एक भीड़ पर गोली चलाती है। अशोक, जो एक रिपोर्टर है और घटनास्थल पर ही था, मानता है कि पुलिस को वास्तव में मजबूर होकर गोली चलानी पड़ी थी—वाक़ई भीड़ ने आग-जनी और लूटमार शुरू कर दी थी। लेकिन वह कौन-सी चीज़ है जो इन तथ्यों को झूठा सिद्ध करती है—वह अपने अखबार के लिए चश्मदीद रिपोर्ट क्यों नहीं लिख पाता है ?

"प्रकाश ने एक बार फिर अपने को बटोरकर उसका नाम पूछा। उसने पाया कि वह जवाब देने की कोशिश कर रहा है, मगर उसके मुँह से बोल नहीं फूट रहे हैं। उसका बायाँ हाथ उसके पेट पर है, जहाँ से खून बह रहा है और दायाँ हाथ छलनी होकर झूल गया है। उसने अपनी आँखें मूंद ली थीं।"

अबकी बार प्रकाश ने उससे पूछा, "आपको कुछ चाहिए ?" प्रकाश ने देखा कि उसने अपनी आँखें खोल ली थीं और उसेदेख रहा था। फिर उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

प्रकाश के पैर काँप रहे थे। उसने अपनी पैंसिल जेब में रख ली थी। उसका जी घबराने लगा था। फिर उसने देखा कि वह आदमी अपनी इच्छा शक्ति इकट्ठी कर उसकी ओर देखता हुआ कुछ बुदबुदाने लगा था। वह एक ही शब्द कह पा रहा था, "बब्बू"।

"आपका नाम बब्बू है ?" प्रकाश ने बेवकूफ़ की तरह सवाल किया। उसे लगा उसके सवाल पर, वह आदमी जो मर रहा था, मुस्करा रहा है।

"बब्बू !" उसने फिर कहा। इस बार उसने अपना हाथ अपने पेट पर से हटा एक अँगुली से इशारा करने की कोशिश की। उसकी आँखों से आँसू लगातार बहने लगे थे।"

प्रकाश अपने डेस्क पर पहुँचकर बार-बार गोली बार की रिपोर्ट लिखने की कोशिश करता है किन्तु अपने लिखे हुए को फाड़कर निकल जाता है। वह समझ नहीं पाता कि तमाम तथ्यों के बावजूद उसकी रिपोर्ट में ऐसा क्या नहीं है जिससे वह अवास्तविक लग रही है।

श्रीकान्त की इस कहानी में मरते हुए व्यक्ति की विसंगत त्रासदी तो है ही, ऐसी समस्त त्रासदियों के गवाह कई प्रकाशों की वह मूक पराजय भी है जिनकी रिपोर्ट तमाम ब्यौरे के बावजूद भी अधूरी लगती है। मुझे लगता है कि इस कहानी में रचना की एक मौलिक समस्या भी उठायी गई है। लेखक, कवि और विचारक से अक्सर कहा जाता है कि वह 'देश की' अथवा 'वर्तमान' स्थिति पर कुछ लिखे। यदि वह इसे स्वीकार भी करता है तो यही पाता है कि सब-कुछ लिख जाने, कह जाने के बाद भी कुछ छूट गया है। इसलिए फिर वह यह काम समाचार सेवाओं पर ही छोड़ देता है। इस कहानी का यह इन्टरप्रिटेशन इसे कई स्तरों पर रोमांचकारी बनाता है।

इन कहानियों में श्रीकान्त वर्मा अपनी सारी शक्ति के साथ उपस्थित हैं क्योंकि इनका संसार उनका ओढ़ा हुआ संसार नहीं है। यह स्थितियाँ उन्होंने अन्तरंगता से पहचानी हैं और उनकी प्रतिभा अपने सुखद वैविध्य में इनमें अभि-व्यक्ति पा सकी है। संग्रह की अन्य कहानियों में 'इन्टैलैक्ट' की सायास उपस्थिति उन्हें कहानियाँ बनने से रोकती है। फिलहाल यही कहा जा सकता है कि संग्रह की इन्हीं चार कहानियों से यह आश्वासन प्राप्त होता है कि श्रीकान्त वर्मा की ख्याति संदिग्ध नहीं है। सही कलाकार अपने उत्थान और पतन से बखूबी परिचित होता है और यह तो कोई कह नहीं सकता कि श्रीकान्त वर्मा 'क' तरह की कहानियाँ लिखें और 'ख' तरह की नहीं। हाँ, इतना संकेत अवश्य किया जा सकता है कि वे अपनी प्रतिभा की सही अभिव्यक्ति को पहचानें तथा उसके एवं अपने पाठकों के साथ इतने खतरनाक अनुपात में अन्याय न करें। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079563

आलोचना

पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

●

हिन्दी के पाठकों के लाभ के लिए 'राजकमल प्रकाशन' अपने त्रैमासिक पत्र 'आलोचना' से संपृक्त एक नयी योजना का तुरन्त शुभारम्भ कर रहा है।

यह योजना है—'आलोचना पुस्तक-परिवार'।

पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ इस योजना के उद्देश्य और सदस्य बनने के नियम आदि प्रकाशित कर रहे हैं। —सं०

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग व्यक्तिगत खरीदार (इंडिविजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक-परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर पुस्तकालयों को प्राप्य होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक-परिवार

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन भी मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जाएगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रतिमास या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी ख़ास रक़म की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

—यहाँ से काटिये—

सदस्यता फार्म

मैं आलोचना पुस्तक-परिवार का/की सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। फार्म तथा सिक्योरिटी डिपॉज़िट रूप में ३.०० रुपये की राशि भेजी जा रही है। मैं अपने प्रथम आर्डर की अग्रिम राशि के साथ ३.०० रुपये की यह राशि भेज दूंगा/दूंगी। मेरा नाम व पता सदस्य-योजना में अंकित कर लें तथा मेरी सदस्य संख्या सूचित करें।

मैं आश्वासन देता देती हूँ कि वी० पी० पी० से पुस्तकें मँगाने पर वी० पी० पी० निश्चित रूप से छुड़ा ली जायेगी।

दिनांक.................. हस्ताक्षर........................

पूरा पता........................

....

पोस्ट........................

(अनावश्यक अंश को काट दें।) निकटतम रेलवे स्टेशन........................

—यहाँ से काटिये—

079563

गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

आगामी अंक में

- 'कविता में विचारशीलता का ह्रास' पर अशोक वाजपेयी का निबन्ध तथा उस पर 'संवाद' जिसमें श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, मलयज, कमलेश, प्रयाग शुक्ल, राजीव सक्सेना तथा कुछ अन्य कवि भाग ले रहे हैं।

- **निबंध** : 'बिंब-प्रक्रिया'—रामस्वरूप चतुर्वेदी

  'भाषा और सर्जनात्मकता'—रमेशचन्द्र शाह

  'परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति'—यशदेव शल्य

  'एवर्सडिटी : संप्रत्ययात्मक विश्लेषण'—देवकीनन्दन द्विवेदी

- मेंडेल्स्टाम की कविताओं का कमलेश-कृत अनुवाद।

- **पुस्तक समीक्षा** : तीन अपाहिज (विपिनकुमार अग्रवाल), दो अकालगढ़ (बलवंत सिंह), हिन्दी उपन्यास कोश (गोपाल राय), आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण (रमेश कुंतल मेघ) तथा अन्य पुस्तकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R.N. 7244/63

हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक
आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी

की

लोकप्रिय पुस्तकें अब
नयी सज्जा में उपलब्ध

बाणभट्ट की आत्मकथा

• हिन्दी-साहित्य की भूमिका

हिन्दी साहित्य का परिचय कराने वाली बेजोड़ पुस्तक। संस्कृत, पाली, अपभ्रंश और प्राकृत के साहित्य की चर्चा से परिपुष्ट। वैदिक, जैन, बौद्ध-साहित्यों के परिचय से संयुक्त।

• कल्पलता

द्विवेदीजी के ये निबन्ध शुष्क नहीं हैं। कल्पलता के निबन्ध विद्वानों और सामान्य पाठकों, दोनों को ही रुचिकर प्रतीत हुए हैं। नया संस्करण।

• बाणभट्ट की आत्मकथा

'आत्मकथा' शैली में लिखा गया द्विवेदी जी का यह उपन्यास हिन्दी-साहित्य को एक अविस्मरणीय देन है। श्री हर्षदेव और बाणभट्ट के ग्रन्थ इस कथा के प्रधान उपजीव्य हैं। फिर भी शैली और चिन्तन की मौलिकता ने इस 'कथा' को बेजोड़ बना दिया है।

• कालिदास की लालित्य योजना

कालिदास की लालित्य-योजना में उस महाकवि के सभी ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर आचार्यवर ने कालिदास की साहित्य-गरिमा को उजागर किया है। कालिदास के कृतित्व पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक।

आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का
सम्पूर्ण साहित्य हम से मंगाइये।

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
८, फैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri